CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधररचित

श्रीभगवन्नामकौमुदी

[हिन्दी-अनुवादसहित]

अनुवादक

पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रथम बार २००० सं० १९९५ वि०
मूल्य ।।=) दस आना

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

निवेदन

'कल्याण'के भगवन्नामाङ्कमें ब्रह्मलीन श्रीश्रीअच्युतमुनिजी महाराजने अपने लेखमें भगवन्नामकौमुदीके आधारपर बहुत कुछ लिखा था, तभीसे ऐसा विचार हो रहा था कि इसका हिन्दी-भाषान्तर प्रकाशित हो। यद्यपि यह ग्रन्थ शास्त्रार्थकी शैलीपर लिखा होनेसे समझनेमें कुछ कठिन-सा है परन्तु विचारपूर्वक पढ़नेसे सभी बातें समझमें आ सकती हैं। श्रीभगवान्‌के नामकी अनन्त महिमा है और कलियुगमें तो श्रीभगवान्‌का नाम ही जीवोंके लिये एकमात्र अवलम्बन-स्वरूप है। इस भगवन्नामकौमुदीसे लोगोंकी भगवन्नाममें रुचि हो इसी उद्देश्यसे इसका प्रकाशन किया गया है। पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने इसका बहुत सुन्दर अनुवाद करनेके साथ ही एक विचारपूर्ण भूमिका भी लिख दी है, जिससे ग्रन्थके भावोंका समझना बहुत सहज हो गया है। पाठकगण इससे लाभ उठावें, यही निवेदन है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

कल्याण-सम्पादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

प्रस्तावना

स्वेषां सन्ततमन्तरायनिचयानुन्मूलयन्तीं बला-
दन्तर्धाम्नि महो विकीर्य नितरामानन्दसान्द्रं द्रुतम् ।
निन्दन्तीं शरदिन्दुकोटिमिलितं लावण्यवारांनिधिं
वन्देऽमन्दविभाविभासितभुवं राधामुकुन्दद्वयीम् ॥

जीव युगोंसे, जन्म-जन्मान्तरोंसे एक अनादि पिपासाकी चिरन्तन वेदना लिये विश्वके निविड काननमें पथ-भ्रान्त पथिककी भाँति भटक रहा है। वह उस शान्तिदायिनी सुधाकी एक घूँटके लिये कहाँ नहीं हाथ पसारता, किसकी नहीं विनय करता, किन्तु सर्वत्र निराशा ही मिलती है। वह इतना विह्वल, इतना बेसुध हो रहा है कि फूल समझकर काँटोंपर सोता और अमृतके धोखेसे हालाहलका प्याला होठोंसे लगा लेता है। परन्तु इस आपातरमणीय सुखका परिणाम होता है वही निरन्तर जलन और तीव्र अशान्ति !! क्यों न हो, मरुकी दहकती हुई मरीचियोंमें महासागरकी उत्ताल तरङ्गोंका शीतल आलिङ्गन, निम्बकी कटुतामें रसालका माधुर्य क्या कभी सम्भव

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है ? 'तब तो इस दुःखमयी दयनीय परिस्थितिसे मुक्त होनेका कोई उपाय ही नहीं है !' ऐसी बात नहीं, यथार्थ मार्ग (साधन) और वास्तविक लक्ष्यका ज्ञान होते ही ये सारे दुःख-शोक काफूर हो जाते हैं। शास्त्र और महात्मागण डंकेकी चोट कहते हैं—अखिल भूमण्डल ही नहीं, समस्त ब्रह्माण्डके आनन्द और सुख मिलकर जिसके एक कणकी भी समता नहीं कर सकते उस परमानन्द सुधासिन्धु परमात्माको ही प्राप्त करना जीवका चरम लक्ष्य है, जहाँ पहुँचकर सारे अभावोंका अन्त हो जाता है और जीव परिच्छिन्नताके घेरेसे ऊँचे उठकर पूर्णानन्दकी मस्तीमें झूमता हुआ अनुभूतिके स्वरोंमें गा उठता है—

'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥'

इस पूर्णतम स्थितिको प्राप्त करनेके लिये शास्त्रोंमें निष्काम कर्म, ज्ञान और भक्ति आदि साधन बताये गये हैं। इनमें भी मनुष्यकी योग्यता और अधिकारके विचारसे प्रथम दोकी अपेक्षा भक्तिमार्ग सुगम एवं उत्कृष्ट है; क्योंकि भक्तिके साम्राज्यमें सबका समानाधिकार है और अपनी योग्यता तथा रुचिके अनुसार भक्तिके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—इन नव प्रकारोंमेंसे किसी एकहीका आश्रय लेनेसे भी जीवको अपने चरम लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। इनमें भी कीर्तनको छोड़कर अन्य आठ प्रकारके भजन-मार्गोंमेंसे किसीमें वक्ताकी उपस्थिति,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कहीं अर्चनादिके लिये विधि-ज्ञान और सामग्रियोंका सञ्चयन तथा कहीं मनकी सावधानता आदिकी अपेक्षा होती है, अतः सबसे निरपेक्ष होनेके कारण कीर्तन ही सुगम है। सुगम होते हुए भी यह भगवत्प्राप्तिके लिये सर्वोत्तम साधन है। कलियुगमें तो कीर्तन अपना खास स्थान रखता है, 'कलौ संकीर्त्य केशवम्' (कलियुगमें केवल कीर्तन करके ही मनुष्य अन्य युगोंमें अन्यान्य महान् साधनोंसे प्राप्त होनेवाले [परमात्मारूप] फलको प्राप्त कर लेता है)। कीर्तन भगवान्‌के नाम और लीलाओंका होता है, इनमें भी नामका कीर्तन लीलाओंकी अपेक्षा अधिक सुगम और महत्त्वशाली है। कलियुगमें तो जीवोंके लिये भगवन्नाम ही सबसे बड़ा सहारा है। संतोंका वचन है—

'कलियुग केवल नाम अधारा।' 'राम न सकहिं नाम गुण गाई।'

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥' इत्यादि।

इन्हीं भगवन्नामोंकी महत्त्वमयी मनोरम रश्मियोंका जगत्‌में प्रसार करती हुई यह भगवन्नामकौमुदी इस समय भावुकोंके समक्ष प्रकाशित हुई है।

ग्रन्थ-परिचय

भगवन्नामकौमुदी तीन परिच्छेदोंका एक निबन्धात्मक ग्रन्थ है। इसकी रचना बड़ी ही प्रौढ़ और गम्भीर है, इसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भाषामें साहित्यिक प्रवाह, अद्भुत ओज और प्रचुर प्राञ्जलता है। कतिपय स्थलोंपर तो सिद्धहस्त लेखकने गद्यका इतना सुन्दर समाँ वाँधा है कि उसे पढ़ते समय कादम्बरीके रचयिता महाकवि वाणभट्टकी याद आने लगती है। उदाहरणके लिये देखिये—

'विलसदमलमरकतमणिमरीचिमञ्जरीपिञ्जरालिभ्रान्तिभूमयो निर्यन्मकरन्दबिन्दुजालजम्बालितगगनाङ्गनाः परिमलतर्पितपवनातिथयस्तरुणतुलसीवनवीथयः' इत्यादि।

इस ग्रन्थमें भगवन्नाममहिमाके विषयमें होनेवाली बहुत-सी शङ्काओंका शास्त्रीय पद्धतिके अनुसार निराकरण किया गया है। इसकी विवेचनशैलीमें मीमांसकोंकी-सी पटुता, नैयायिकोंका-सा युक्तिकौशल और वेदान्तियोंका-सा समन्वय है। इसमें प्रबल प्रमाणोंद्वारा बड़े ही जोरदार शब्दोंमें इस बातका समर्थन किया गया है कि 'भगवन्नामोंकी महिमा अमित, अगाध और अनन्त है। नामकीर्तनसे न केवल पापक्षय-मात्र ही होता है, अपि तु, वासना और प्रारब्धका भी क्षय होनेके साथ ही परम पुरुषार्थकी उपलब्धि होती है, जिससे जीव कृतार्थ हो जाता है।' पाठकोंकी सुविधाके लिये हम ग्रन्थमें वर्णित विषयके सारांशका किञ्चित् दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।

जब हम पुराणादि ग्रन्थोंमें भगवन्नाममहिमाके प्रतिपादक वचन पढ़ते हैं तो स्वभावतः हमारे हृदयमें कुछ सन्देह खड़े हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उठते हैं। यद्यपि वे सन्देह नाना प्रकारके होते हैं तथापि उन्हें निम्नाङ्कितरूपसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। (१) पहले यह संशय होता है कि भगवान्‌के एक-एक नामकी बड़ी-बड़ी महिमा बतानेवाले पौराणिक वचन अर्थवाद तो नहीं हैं? इनका अर्थ अविवक्षित तो नहीं है? (२) यदि किसी प्रकार यह मान लें कि नाममहिमाके प्रतिपादक वचन जो कुछ कहते हैं वह अक्षरशः सत्य है, ये अर्थवाद नहीं हैं; तो भी यह प्रश्न होता है कि क्या पापनाशके साक्षात् साधनभूत किसी व्रत आदिका अङ्ग होकर नामकीर्तन पापक्षयका साधक होता है या स्वयं ही प्रधानरूपसे? (३) यदि यह भी स्वीकार कर लें कि वह स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका साधक है तो भी यह जिज्ञासा होती है कि श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास और उत्तम देश-कालादिके साथ होनेपर ही नाम-कीर्तन पापक्षयका साधक हो सकता है या इनके न रहनेपर भी? इस विषयमें होनेवाले अन्य बहुतेरे प्रश्न भी इन्हीं तीन प्रश्नोंके भीतर आ जाते हैं।

उपर्युक्त प्रश्नोंको लेकर ही इस ग्रन्थकी अवतारणा हुई है। इनमेंसे पहले प्रश्नका पहले परिच्छेदमें, दूसरेका दूसरेमें और तीसरेका तीसरे परिच्छेदमें उत्तर दिया गया है। प्रथम प्रश्नके विषयमें दो पूर्वपक्ष हैं। एक पक्ष (प्रभाकर भट्ट आदि मीमांसकों) का कहना है कि पुराण तो अलग रहे, वेदके भी सम्पूर्ण अंश अपने अर्थमें प्रमाणभूत नहीं हैं। वेदका जो भाग यज्ञादि कार्योंका बोधक है, वही अपने अर्थमें प्रमाण-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूत है—उसीका मुख्य अर्थ विवक्षित है। मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषद्भाग कार्यतापरक नहीं हैं, इसलिये वे अपने वाच्यार्थमें तात्पर्य नहीं रखते। पुराण आदि भी इन्हींके आधारपर पल्लवित हैं; अतः वे भी स्वार्थमें तात्पर्य रखनेवाले नहीं हैं। सारांश यह कि पुराणोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

दूसरे पक्षवाले (वेदान्ती) उपर्युक्त पक्षकी मान्यताका खण्डन करते हुए यह सिद्ध करते हैं कि वेदके सभी अंश अपने अर्थमें प्रमाणभूत हैं। मन्त्र और अर्थवाद यद्यपि अन्य यज्ञादि विधियोंके अनुकूल अर्थका बोधन करते हुए अन्यपरक भी होते हैं तथापि उनका मुख्य अर्थ भी प्रामाणिक ही है। उपनिषद्भाग किसी विधिके अङ्ग नहीं हैं, इसलिये वे अपने अर्थमें प्रमाणभूत होते हैं—इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं है। इस प्रकार जब वेद अपने सब अंशोंमें प्रमाणभूत है तो उसके ही अर्थ-विस्तारका प्रतिपादन करनेवाला पुराण भी यद्यपि अपने मुख्य अर्थमें ही तात्पर्य रखनेवाला सिद्ध होता है, तथापि जहाँ स्मृतियाँ महान् पापके लिये महान् प्रायश्चित्तका विधान करती हैं वहाँ ही अत्यन्त लघु प्रायश्चित्त नामकीर्तन-मात्रका विधान करनेवाला पुराण प्रबल नहीं माना जा सकता। ऐसी दशामें वह पौराणिक वचन भजनीय देवतामें श्रद्धा करानेके लिये अर्थवादमात्र माना जायगा। उसका तात्पर्य यों होगा—'जिस देवताका एक बार नाम लेनेसे ऐसा महान् फल प्राप्त होता है उसकी यदि आजीवन उपासना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की जाय तो वह क्या नहीं कर सकता ? ।' अतः पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ अविवक्षित ही है ।

इस प्रकार दोनों पूर्वपक्षोंका उल्लेख करके ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि जिस प्रकार वेद अपने सभी अंशोंमें प्रमाणभूत है उसी प्रकार पुराण भी है। वेद और पुराणकी मान्यतामें कोई अन्तर नहीं है, जैसे वेदमें धर्म और ब्रह्मका प्रतिपादन है, वैसे ही पुराणमें भी है। जिस प्रकार वेदमें कर्म, उपासना और ज्ञान—ये तीन काण्ड हैं उसी प्रकार पुराणमें भी हैं। जैसे काण्डभेदसे कर्म, उपासना और ज्ञान—तीनोंमें ही वेदका तात्पर्य माननेमें कोई विरोध नहीं आता, वैसे ही पुराणमें भी विरोध नहीं है। यदि पुष्कराक्षके सिद्धान्तानुसार क्रमशः ब्रह्म और आत्माके अभेदका बोध करानेमें ही वेदका चरम तात्पर्य मानें तथा इस प्रकार वेदके तीनों काण्डोंकी एकवाक्यता स्वीकार करें तो यही बात पुराणके विषयमें भी कही जा सकती है। सभी दृष्टियोंसे वेद और पुराणमें समानता* है, इसलिये वेदकी भाँति पुराणका भी मुख्य अर्थ विवक्षित ही है।

---

* ग्रन्थकारने तृतीय परिच्छेदमें पुराणोंको वेद सिद्ध किया है और स्मृति तथा पुराणोंमें विरोध होनेपर स्मृतियोंको ही दुर्बल बताया है। साथ ही उन्होंने पुराणोंको वेदोंसे भी अधिक आदरणीय सिद्ध किया है। यथा—'इतिहासं पुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ।' 'स्मृतिपुराणविरोधे पुनः पुराणान्येव बलीयांसि ।' 'वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने । वेदः प्रतिष्ठितो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इसके बाद, महान् प्रायश्चित्तका विधान करनेवाली स्मृतियोंके साथ विरोध होनेपर नामकीर्तनविषयक वचनोंको जो लोग अर्थवाद मानते हैं उनके मतका विरोध किया गया है और बड़े विस्तारके साथ अर्थवादताका खण्डन करके अन्तमें यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है कि नामकीर्तन-विषयक वचन भी विधिवाक्य हैं अतः उनका अर्थ विवक्षित, प्रामाणिक एवं सर्वथा माननीय है। इस प्रकार अनेकों शङ्का-समाधानोंके द्वारा प्रथम परिच्छेदकी समाप्तितक यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित ही है।

द्वितीय परिच्छेदमें इस बातपर विचार किया गया है कि 'नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका साधक है या किसी दूसरे (व्रतादि) साधनका अङ्ग होकर?' इस प्रश्नको लेकर अपने परिमित तर्कों और प्रमाणोंके आधारपर बड़े ही आटोपके साथ पूर्वपक्षीने यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि पुराण-कथित नामकीर्तन और स्मृतिप्रतिपादित व्रत आदि परस्पर समुच्चित होकर (एक साथ मिलकर) ही

देवि पुराणे नात्र संशयः।' इत्यादि। इतना ही नहीं, वेदोंकी ही भाँति पुराण भी अनादिसिद्ध हैं—इसके समर्थनमें ग्रन्थकार कहते हैं— 'कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः। व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥' इति ॥ 'पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय संकलयामि' इति हि तस्यार्थः। 'मात्स्यं कौर्ममित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिबन्धना न तन्निर्माण-निबन्धनाः काठकादिवत्, आनुपूर्वीनिर्माणनिबन्धना वा।' [यहाँ दिये हुए उद्धरणोंका अर्थ पुस्तकके १७२, १७३, १७४ पृष्ठोंमें देखना चाहिये]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयके साधक होते हैं, अलग-अलग रहकर नहीं; इसके अतिरिक्त पापक्षयका मुख्य साधन स्मार्त व्रत आदि ही हैं, कीर्तन तो उन्हींका अङ्ग होकर पापक्षयका साधक माना जाता है।

उक्त मतका खण्डन करते हुए सिद्धान्ती कहता है कि 'केवल नामकीर्तन ही पापक्षयका प्रधान साधन है, उसका न तो किसीके साथ समुच्चय है और न वह किसीका अङ्ग ही है। अपने मतकी पुष्टिके लिये सिद्धान्तीने अनेकों सुदृढ़ तर्कों और सुन्दर युक्तियोंके साथ ही श्रीमद्भागवत, नृसिंह-पुराण, स्कन्दपुराण आदि नाना शास्त्र-ग्रन्थोंसे बहुत-से प्रबल प्रमाणवचनोंका उदाहरण दिया है और अजामिल-उद्धार आदि अनेकों प्रासङ्गिक दृष्टान्तोंका भी उल्लेख किया है। इसपर यह आक्षेप होता है कि 'केवल नामकीर्तन पापक्षयका साधक है' इस वाक्यमें केवल शब्दका क्या तात्पर्य है? क्या पापक्षयके लिये नामकीर्तनके सिवा दूसरा साधक है ही नहीं? या [स्मृतियोंमें] जो पापनाशके दूसरे-दूसरे साधन बताये गये हैं उनसे कार्य नहीं सिद्ध होता?' इस आक्षेपके उत्तरमें सिद्धान्तीने कैवल्य (केवल शब्दके तात्पर्य) को विस्तारके साथ समझाया है और बताया है कि 'केवलका अर्थ पुष्कल अर्थात् निरपेक्ष है।' भाव यह कि पापक्षयमें नामकीर्तन पुष्कल कारण है। पुष्कल कारण उसे कहते हैं जिसकी उपस्थिति होते ही कार्य अवश्य सिद्ध हो जाय। अन्य साधनोंसे तुरन्त पापक्षय नहीं होता, परन्तु कीर्तन करते ही पापोंका नाश हो जाता है। निमित्त कारण ही पुष्कल कारण हुआ करता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है, पापक्षयमें कीर्तन निमित्त कारण ही है। 'केवल निमित्त कारणसे ही कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती' ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि प्रकाशके संयोगमात्रसे [जो निमित्त कारण ही है] अन्धकारकी निवृत्ति देखी जाती है। इसके बाद, जिन वचनोंके आधारपर पूर्वपक्षीने कीर्तनको अन्य कर्मोंका अङ्ग कहा है, उनका अपने मतके अनुकूल अर्थ करते हुए सिद्धान्तीने उन वचनोंकी संगति दिखायी है और प्रसंगानुसार यह भी बताया है कि 'श्रवण-कीर्तनादि नव प्रकारकी भक्तियोंमेंसे प्रत्येकसे ही पापक्षयादि सम्पूर्ण पुरुषार्थोंकी सिद्धि हो जाती है तथा यज्ञादि कर्मरूप प्रायश्चित्तोंसे पाप क्षीण हो जायँ तो भी उनसे अधर्मकी वासनाका नाश नहीं होता।'

इसपर पूर्वपक्षी कहता है कि—अधर्म क्या वस्तु है जिसकी वासना कर्मसे नहीं मिट सकती ? क्या हिंसादि कर्म अधर्म हैं ? या उनसे उत्पन्न संस्कार अधर्म है अथवा और कोई वस्तु अधर्म है ? यदि कहें हिंसादि कर्म ही अधर्म हैं तो ठीक नहीं; क्योंकि हिंसादि कर्म तो हो जानेपर स्वयं ही निवृत्त हो जाते हैं, उनके नाशके लिये अन्यान्य प्रायश्चित्तोंकी आवश्यकता नहीं है। यदि कहें उन कर्मोंसे उत्पन्न संस्कार अधर्म है, तो ठीक है, परन्तु उस संस्कारकी भी कोई दूसरी वासना (संस्कार) है—यह नहीं माना जा सकता; क्योंकि यदि संस्कारका भी संस्कार मानें तो इस परम्पराका कहीं अन्त न होनेके कारण अनवस्था-दोष आ जायगा। यदि कहें कर्म और संस्कारके अतिरिक्त ही कोई वस्तु अधर्म है तो इस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः धर्म और अधर्म केवल संस्काररूप ही हैं, इनकी कोई दूसरी वासना नहीं होती। इसलिये अधर्मको तो कर्मरूप प्रायश्चित्तसे दूर किया ही जा सकता है, फिर नामकीर्तनमें कोई विशेष्यता नहीं रही।

पूर्वपक्षीके उत्तरमें सिद्धान्ती तर्कों, युक्तियों, प्रमाणों और पूर्ववर्ती आचार्योंकी सम्मतिका उल्लेख करते हुए कहता है कि धर्म और अधर्म दोनों ही संस्कारसे भिन्न वस्तु हैं और संस्कारके जनक हैं; अतः कर्मरूप प्रायश्चित्तसे अधर्मका नाश होनेपर भी उसके संस्कारका नाश नहीं होता। अथवा सभी विहित (अग्निहोत्रादि) और निषिद्ध (हिंसादि) कर्मोंके दो-दो संस्कार होते हैं। उनमेंसे एक संस्कार स्वर्ग-नरकादिका हेतु होता है और दूसरा संस्कार वासनारूपसे नूतन [पाप-पुण्यादि] कर्मोंको करानेवाला होता है। अतः निषिद्ध कर्मोंके जो दो संस्कार होते हैं उनमेंसे नरककी प्राप्ति करानेवाला संस्कार तो यज्ञादि कर्मरूप प्रायश्चित्तसे निवृत्त हो जाता है परन्तु वासनारूपसे नूतन पाप करानेवाला संस्कार नहीं मिटता। भक्तिसे दोनों ही प्रकारके संस्कार मिट जाते हैं इस प्रकार भक्तिकी श्रेष्ठता बताते हुए अन्तमें यह सिद्धान्त निश्चित किया गया है कि 'नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे पापक्षयका कारण है।'

तृतीय परिच्छेदका मुख्य विषय तो, जैसा कि पहले बता आये हैं, इस बातका विचार करना है कि, 'नामकीर्तनमें श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और देश-काल आदिकी अपेक्षा है या नहीं?' किन्तु इस प्रसंगको उपस्थित करनेके लिये कुछ और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पहलेसे विचार आरम्भ करते हैं। जो लोग ऐसा मानते हैं कि 'स्मार्त प्रायश्चित्त और भक्ति (नामकीर्तनादि) परस्पर समुच्चित होकर (एक साथ मिलकर) ही पापक्षयके साधन होते हैं' उनके इस मतका द्वितीय परिच्छेदमें खण्डन किया जा चुका है। अब यह जिज्ञासा होती है कि 'स्मृति और पुराणोंका विरोध दूर करनेके लिये यदि समुच्चयका आश्रय लेना इष्ट नहीं है तो व्यवस्था और विकल्प—इन दोनोंमेंसे किसी एकका आश्रय अवश्य लेना चाहिये; अतः किसका आश्रय लिया जाय?' इस विषयको स्पष्ट समझनेके लिये व्यवस्था और विकल्पका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है। 'अमुक विशेष्यता रखनेवाले मनुष्यका नामकीर्तनमें अधिकार है और उससे भिन्न व्यक्तिका स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदिमें अधिकार है' इस प्रकारका नियम करना व्यवस्था है। तथा 'प्रत्येक मनुष्य अपनी रुचिके अनुसार नामकीर्तन अथवा स्मृतिकथित द्वादशाब्द (बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले) व्रत आदि किसी भी प्रायश्चित्तका आचरण कर सकता है' ऐसा मानना विकल्प है।

यद्यपि पहले दो परिच्छेदोंकी भाँति यहाँ भी पूर्वपक्ष और सिद्धान्तपक्ष—ये ही दो पक्ष हो सकते हैं, तथापि पूर्वपक्षमें भी विभिन्न प्रकारकी शङ्काओंका उल्लेख होनेके कारण हमने स्पष्ट समझानेके लिये पूर्वपक्षमें ही चार पक्षोंकी कल्पना कर ली है। जैसे (१) पूर्वपक्ष नम्बर १, (२) पूर्वपक्ष नम्बर २, (३) मध्यमपक्ष और (४) न्यायवेत्ताओं-द्वारा की हुई व्यवस्था। इसके बाद सिद्धान्तपक्ष है। पूर्वोक्त प्रश्नको लेकर पूर्वपक्षी नम्बर १ कहता है कि पापक्षयके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये जो पुराणोक्त नामकीर्तन आदि साधन बताये गये हैं वे बहुत ही सुकर हैं और स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदि साधन बहुत कठिन है। ऐसी दशामें यदि यहाँ विकल्पका आश्रय लिया जाय तो कोई भी सुकर साधनको छोड़कर कठिन साधनमें प्रवृत्त नहीं होगा। इसलिये स्मृतिकथित द्वादशाब्द व्रत आदि कठिन साधनोंमें किसीकी भी प्रवृत्ति न होनेके कारण स्मृतियोंका अत्यन्त बाध हो जायगा, इसलिये स्मार्त और पौराणिक प्रायश्चित्तोंमें विकल्प न मानकर व्यवस्था ही माननी चाहिये। व्यवस्था माननेसे विशेष अधिकारीकी ही कीर्तनमें प्रवृत्ति हो सकती है; अतः उससे भिन्न व्यक्तियोंके लिये स्मार्त प्रायश्चित्तोंका भी उपयोग हो सकता है। कुछ लोग जो ऐसी व्यवस्था करते हैं कि 'जान-बूझकर किये हुए प्रकट महापापोंके क्षयके लिये तो स्मार्त प्रायश्चित्तका ही आचरण करना चाहिये और जो विना जाने ही छोटे-छोटे गुप्त पाप हो जाते हैं उनके नाशके लिये स्मार्त व्रत आदि या नामकीर्तन कोई भी प्रायश्चित्त स्वेच्छानुसार कर लेना चाहिये।' सो यह व्यवस्था अप्रामाणिक है; क्योंकि—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम्॥

(जितने भी तपःकर्मरूप प्रायश्चित्त हैं, उन सबकी अपेक्षा भगवान् कृष्णका स्मरण-कीर्तन आदि ही श्रेष्ठ है)। इत्यादि वचनमें छोटे-बड़े सभी पापोंके लिये कृष्णस्मरणको ही मुख्य प्रायश्चित्त बताया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस कथनपर आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी नं० २ कहता है कि 'ऊपर उद्धृत किया हुआ वचन कीर्तनके महापाप-निवर्तक होनेमें प्रमाण नहीं है; क्योंकि यहाँ कृष्णानुस्मरण शब्दसे ब्रह्मविद्याका ग्रहण होता है। कृष्णका अर्थ है ब्रह्म और अनुस्मरणका अर्थ है निदिध्यासन। निदिध्यासन पापक्षयके द्वारा अन्तः शुद्धि कराता हुआ ही ब्रह्मात्मबोधका जनक होता है।' इस मतका विरोध करते हुए मध्यमपक्षी अपनी सम्मति यों प्रकट करता है—कृष्ण शब्द श्रीश्यामसुन्दर यशोदानन्दनके अर्थमें ही रूढ (प्रसिद्ध) है, यौगिक अर्थ लेनेसे भी कृष्ण शब्दसे उन गोपीवल्लभ श्रीकृष्णका ही ग्रहण होता है, उनके 'स्मरण'का तात्पर्य यहाँ कीर्तनसे है; क्योंकि इसके अगले श्लोकमें कीर्तनकी ही प्रशंसा की गयी है। इस प्रकार पूर्वपक्षी नं० २ के मतका खण्डन करके मध्यमपक्षीने भी गुरु-लघु आदि पापोंके भेदसे की हुई पूर्वोक्त व्यवस्थाका विस्तारपूर्वक खण्डन किया है और अपने मनोऽनुकूल न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्थाका उल्लेख किया है॥

वह व्यवस्था इस प्रकार है—जिनकी पुराण-वचनोंमें अटल श्रद्धा है, जो भगवान्के परम भक्त हैं अथवा जो भगवत्तत्त्वके ज्ञानी हैं, उन्हींका श्रवणकीर्तनादिमें अधिकार है, श्रवण अथवा कीर्तनादिके द्वारा उन्हींके समस्त पापोंका नाश हो सकता है। इनसे भिन्न मनुष्योंका स्मार्त प्रायश्चित्तमें ही अधिकार है, कीर्तनमें नहीं। तात्पर्य यह कि कीर्तनमें अधिकार रखनेवालेके श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान आदि विशेषण हैं। इस व्यवस्थाकी सिद्धिके लिये अनेकों प्रमाणों और युक्तियोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंगमें यह भी बताया गया है कि भक्ति भी शृङ्गार, वीर आदि रसोंकी भाँति एक 'रस' है। फिर उसके आलम्बन-उद्दीपन विभावों, अनुभावों तथा स्थायी एवं संचारी भावोंका भी उदाहरणसहित निरूपण किया गया है। आगे चलकर एक बार और अनेक बार कीर्तनका विधान करनेवाले पौराणिक वचनोंका विरोध दूर करनेके लिये यह व्यवस्था की गयी है, जिसको पाप करनेपर पश्चात्ताप हो वह एक ही वारके कीर्तनसे अपने पापोंका क्षय कर सकता है, किन्तु जो पश्चात्ताप नहीं करता, उसे अपने पापोंका क्षय करनेके लिये अनेकों वार कीर्तन करना चाहिये। इसके बाद 'सङ्केत और परिहासमें भी भगवन्नामका उच्चारण करनेसे जो पापोंका नाश बताया गया है उसमें किसका अधिकार है ?' इस प्रश्नके उत्तरमें यह व्यवस्था दी गयी है कि 'जो मरणासन्न हो वही सङ्केत आदिमें नामोच्चारण-का अधिकारी है, उसके ही लिये श्रद्धादिरहित उच्चारण भी सफल हो सकता है।'

इसके पश्चात् सिद्धान्तपक्षका आरम्भ होता है। सिद्धान्ती कहता है कि 'स्मृति और पुराणोंमें विरोध होनेपर व्यवस्था आदिका समावेश नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंकी प्रमाणता एक-सी नहीं है। वेदके ही अर्थका अनुसरण करनेवाले महर्षिवचन 'स्मृति' कहलाते हैं, किन्तु पुराण साक्षात् वेद ही हैं; इसलिये पुराणोंके साथ विरोध होनेपर स्मृतियाँ ही दुर्बल मानी जायँगी। अतः स्मार्त और पौराणिक साधनोंमें विकल्प मानना ही उचित है। यदि सुकर होनेके कारण

भ० कौ०—ब—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणोक्त साधनोंमें ही सभीकी प्रवृत्ति हो जानेसे स्मृतियाँ बाधित हो जाती हैं तो भले ही हो जायँ, परन्तु पुराणोंका स्वारस्य-भङ्ग करके व्यवस्थाका प्रस्ताव कैसे किया जा सकता है? जिन पौराणिक वचनोंसे व्यवस्थाका आभास होता है वे मुमुक्षु-विषयक हैं और मुमुक्षुमें अवस्था-भेदसे कर्म, भक्ति एवं ज्ञानादिका समावेश विरुद्ध नहीं होता।' इसके बाद, सिद्धान्तीने 'कीर्तनमें श्रद्धालु और भक्तिमान्का ही अधिकार है,' 'भावोदयसे पूर्वके पापोंका स्मार्त प्रायश्चित्तसे नाश होता है और भावोदयसे पश्चात्के पापोंका कीर्तनसे' इत्यादि व्यवस्थाओंका खण्डन किया है। फिर व्यवस्थावादीके द्वारा उद्धृत किये हुए वचनोंका अपने सिद्धान्तके अनुकूल समन्वय करके महात्माओंके प्रभावका वर्णन करते हुए स्पष्ट शब्दोंमें बता दिया है कि 'पापक्षयके लिये किये जानेवाले कीर्तनमें श्रद्धा, भक्ति और ज्ञान आदिका होना अनिवार्य नहीं है।' इसके बाद एक बार और अनेक बारके कीर्तनसे सम्बन्ध रखनेवाली पूर्वोक्त व्यवस्थाका खण्डन करते हुए यह बताया गया है कि 'शास्त्रोंमें जहाँ कीर्तनसे पापक्षयमात्र फल अभीष्ट है वहाँ एक बार कीर्तन करनेका आदेश है और जहाँ मोक्ष अभिप्रेत है वहाँ अनेक बारके कीर्तनकी विधि है। एक बारके कीर्तनसे प्रारब्धभिन्न सम्पूर्ण प्राचीन पापोंका नाश हो जाता है और कीर्तनकी आवृत्तिसे वासनाका नाश होकर भविष्यमें भी पापोंसे सम्पर्क नहीं होता तथा प्रारब्धका भी धीरे-धीरे क्षय होकर क्रमशः मुक्ति प्राप्त हो जाती है।' इसी मान्यताके अनुसार आवृत्ति तथा अनावृत्तिविषयक वचनोंकी भी व्याख्या की गयी है। आगे मरणासन्न पुरुषके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधिकारसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्थाका खण्डन करते हुए यह बताया गया है कि 'कीर्तन सदा और सभीके लिये महान् फल देनेवाला है, मृत्युकाल होनेसे कीर्तनमें कोई विशेष्यता नहीं आती। हाँ, मरणासन्न पुरुषके लिये वह कीर्तनका अन्तिम अवसर है, उस समय यदि वह कीर्तन न करे तो महान् लाभसे वञ्चित रह जाता है। परन्तु भगवत्सालोक्य आदि फल देनेवाली जो उपासनाएँ हैं उनमें मृत्युकालकी प्रधानता है, क्योंकि उस समयकी भावनाके अनुसार ही उनसे फल-प्राप्ति होती है। इस विषयमें 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति।' इत्यादि श्रुति तथा 'प्रयाणकाले मनसाचलेन०' इत्यादि स्मृतियाँ प्रमाण हैं। किन्हीं-किन्हीं वचनोंमें जो ग्रहण आदि विशेष काल और पर्वत आदि विशेष देशका उल्लेख मिलता है, वह देशकालादि सकाम पुरश्चरणादि कर्मोंका अङ्ग है। कीर्तनमें इनका होना अनिवार्य नहीं है। इसी प्रकार पापक्षय-साधक कीर्तनमें मनःसंयमादि प्रत्याहारधर्मोंका भी होना अनिवार्य नहीं है, जहाँ कीर्तनके अङ्गरूपसे इनका उल्लेख मिले वहाँ 'कीर्तन' शब्दसे मोक्षसाधक कीर्तन समझना चाहिये, क्योंकि उसमें श्रद्धा, भक्ति, मनःसंयमादि सभी धर्मोंका उपयोग हो सकता है। पापक्षय तो एक बारके कीर्तनसे ही हो जाता है, भले ही वह कीर्तन श्रद्धासे हो या अश्रद्धासे, कोई बन्धन नहीं है।'

कीर्तनसे मोक्ष-प्राप्तिका क्रम यों है—एक बारके कीर्तनसे सम्पूर्ण पापोंका क्षय हो जाता है, फिर कीर्तनकी आवृत्तिसे कीर्तनविषयक वासनाओंकी वृद्धि और पाप-वासनाओंकी हानि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होती जाती है, इससे निरन्तर भगवद्भक्तोंकी सेवामें मन लगता है। इसके वाद उन भक्त महात्माओंके मुखसे वर्णित महिमावाले भगवान् नारायणमें नैष्ठिक भक्ति होती है। इससे शोक आदिका अत्यन्त नाश हो जाता है फिर सत्त्वगुणका उद्रेक और उससे भगवत्तत्त्वका वोध होता है, जिससे परमानन्दमयी मुक्ति प्राप्त हो जाती है। भगवान्‌के अमुक नाम या मन्त्रका अमुक प्रकारसे ही कीर्तन करना चाहिये—ऐसा नियम नहीं है। अपनी जानकारीके अनुसार द्वादशाक्षरादि मन्त्र या किसी भी नाम अथवा लीलाका कीर्तन किया जा सकता है। भगवान्‌के सभी नामोंका अनन्त प्रभाव है, किसीका भी सहारा लेनेसे पुरुषार्थकी सिद्धि हो जाती है। जिस प्रकार एक कल्पवृक्ष या एक चिन्तामणिसे जितनी अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है उतनी ही वहुत-से कल्पवृक्ष और मणियोंसे भी होती है। उसी प्रकार भगवान्‌के एक नामके कीर्तनसे अथवा अनेकों विभिन्न नामोंके कीर्तनसे भी समानरूपसे ही पुरुषार्थ-सिद्धि होती है, फलमें कोई अन्तर नहीं आता। किन्तु जप और कीर्तनमें इतना अन्तर अवश्य है कि किसी भी नामके एक बार कीर्तनसे प्रारब्धातिरिक्त सम्पूर्ण पापोंका क्षय होता है और अनेक वार जपसे वह नाम क्रमशः मोक्ष-का साधक हो जाता है। यदि कहें, भगवान्‌के अनन्त नामोंमेंसे किसी-न-किसी नामका सभी उच्चारण कर लेते होंगे; अतः सवके पापोंका नाश हो जानेसे नरककी सृष्टि ही व्यर्थ हो जायगी, तो ठीक नहीं; क्योंकि एक वारके उच्चारणसे प्राचीन पापोंका क्षय हो जानेपर भी नूतन पापकर्म होना सम्भव है। सभी लोग कीर्तनकी आवृत्ति ही कर लेंगे—ऐसा निश्चय नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि दैववश महात्माओंका अपमान हो गया तो उसके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिये भी नरकमें गिरना सम्भव है। महात्माओंके अपमानसे होनेवाला पाप उन महात्माओंकी कृपा अथवा भोगसे ही क्षीण होता है; अतएव जय-विजयको भी कुछ कालके लिये वैकुण्ठसे नीचे आना पड़ा था। 'कीर्तन सुकर होनेसे सभीकी उसीमें प्रवृत्ति हो जानेके कारण स्मृतियाँ बाधित हो जायँगी' ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, जो लोग दुर्वासनाओंसे आबद्ध हैं वे प्रायः भगवान्से विमुख ही होते हैं, उनकी स्मार्त प्रायश्चित्तोंमें ही रुचि हो सकती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि पापक्षयसाधक कीर्तनके लिये श्रद्धा, भक्ति, अभ्यास, ज्ञान, वैराग्य तथा विशेष देश, काल आदिकी अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। यदि ये हों तो कोई आपत्ति भी नहीं है। इस कथनसे श्रद्धा आदिकी उपेक्षा नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि श्रद्धा, भक्ति, अभ्यास और वैराग्य आदिसे युक्त होकर कीर्तनकी आवृत्ति करनेसे भगवत्प्राप्तिरूप चरम लक्ष्य मोक्षकी सिद्धि होती है—ऐसा बताया जा चुका है। इस प्रकार विशदरूपसे सिद्धान्तपक्षका विवेचन करके मङ्गलाचरणके द्वारा इस ग्रन्थकी समाप्ति हुई है।

अन्यान्य शङ्काओंका समाधान

कुछ लोग कहते हैं 'जैसे 'दवा' का नाम लेनेमात्रसे रोग दूर नहीं होता, 'चीनी' कहनेसे ही मुँह मीठा नहीं होता, 'तलवार' का उच्चारण करनेसे ही जीभ नहीं कट जाती, उसी प्रकार भगवान्का नाम लेनेमात्रसे पाप-क्षय नहीं हो सकता, फिर नाम-कीर्तन क्यों किया जाय ?' इसके उत्तरमें कई बातें कही जा सकती हैं। पहली बात यह कि 'दवा' और 'चीनी' आदि जड़ वस्तुका नाम है, अतः नाम लेनेसे उसकी उपस्थिति नहीं होती, परन्तु चेतनका नाम लेनेसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उसकी उपस्थिति देखी जाती है। जैसे लोकमें 'देवदत्त' कहकर पुकारनेसे देवदत्त नामवाला मनुष्य उपस्थित हो जाता है और आवश्यक कार्य पूर्ण करता है, उसी प्रकार भगवान्‌का नाम लेनेसे भगवान्‌की उपस्थिति हो जानेके कारण पाप-क्षयादि कार्योंकी सिद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त देवदत्त तो अन्यत्र रहता है, इसलिये पुकारनेसे आता है, परन्तु भगवान् तो सर्वत्र हैं; अतः सर्वदा उपस्थित रहते हैं, नाम लेनेसे उनकी कृपादृष्टिमात्र होती है। यदि कहें, क्या भगवान् विषमदृष्टि रखनेवाले हैं, जो नाम लेनेवालोंपर ही कृपादृष्टि करते हैं, औरोंपर नहीं, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे कल्पवृक्ष सबपर समानरूपसे छाया करता है, समानरूपसे सबकी कामनाएँ पूर्ण करता है, तो भी जो उसके पास जाता है वही उससे लाभ उठाता है। उसी प्रकार भगवान्‌की तो सबपर समानरूपसे कृपा है, किन्तु जो नाम-कीर्तन आदिके द्वारा भगवान्‌का सहारा लेता है वही उनकी कृपाका अनुभव करता है। यदि सामने रसका समुद्र ही लहराता हो और कोई संतप्त पुरुष मोहवश उसमें डुबकी न लगाये तो समुद्रका क्या दोष है?

दूसरी बात यह है कि रोग दूर करनेमें दवा ही कारण है, दवाका नाम नहीं। परन्तु पाप-क्षयमें भगवान्‌का नाम भी कारण है। यदि कहें 'नाम' तो केवल शब्दमात्र है उससे क्या कार्य सिद्ध होगा? तो यह ठीक नहीं; क्योंकि गाली और निन्दा शब्दद्वारा ही होती है, जिससे मार-पीटकी नौबत आ जाती है और स्तुति-प्रशंसा भी शब्दद्वारा ही की जाती है, जिसको सुनकर कितने ही अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं। काव्यरचना भी शब्दोंद्वारा ही होती है, जिससे नव प्रकारके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रसोंका आस्वाद होता है। दुर्जनोंकी वाणीसे हृदय व्यथित हो जाता है। प्रियतमके शब्दोंको सुनकर मानसमें आनन्दकी लहरें उठने लगती हैं। ऐसा क्यों होता है? क्या इससे शब्दोंमें प्रभावोत्पादक शक्तिकी कल्पना नहीं होती? इसी प्रकार भगवन्नामोंमें भी पापक्षयादिकी शक्ति माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। शास्त्र तो इसका समर्थन करते ही हैं। भगवन्नामोंमें तो भगवान्‌से भी बढ़कर शक्ति है!

कुछ लोगोंका कहना है 'श्रद्धा या मनकी एकाग्रताके विना कीर्तन हो ही नहीं सकता, यदि होता है तो निष्फल। एकाग्रता और श्रद्धा सबके लिये सुलभ नहीं; अतः कीर्तन सर्वोपयोगी नहीं हो सकता।' इसके उत्तरमें निवेदन है कि जैसे भोजन करते समय मनमें अन्यान्य बातें सोचते रहनेपर भी आगेकी परोसी हुई रसोई समाप्त हो ही जाती है और उस अन्नसे भूख भी मिट ही जाती है, इसी प्रकार मनकी एकाग्रता और श्रद्धाके अभावमें कीर्तन और जप आदि हो ही सकते हैं और उनका फल भी मिल ही सकता है। यह दूसरी बात है कि श्रद्धा और एकाग्रताका कीर्तन और जप आदिमें बहुत बड़ा उपयोग है। अस्तु।

ग्रन्थकारका परिचय

भगवन्नामकौमुदी भक्तिसाहित्यका अनुपम और अनूठा दार्शनिक ग्रन्थ है। स्वनामधन्य विद्वद्वर श्रीलक्ष्मीधरजी इस ग्रन्थरत्नके रचयिता हैं। ये मीमांसाके धुरन्धर विद्वान् तथा न्याय और वेदान्तके पारङ्गत पण्डित थे। इनके पिताका नाम श्रीनृसिंहजी था। ग्रन्थकी समाप्तिके सङ्कल्प-वाक्यमें 'श्रीनृसिंहसूनोर्लक्ष्मीधरस्य कृतौ' इस प्रकार ग्रन्थकार और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनके पिताके नामका स्पष्ट उल्लेख है। परमहंसपरिव्राजकाचार्य स्वामी श्रीअनन्तानन्दजी इनके गुरु थे। ग्रन्थके प्रारम्भिक मङ्गलश्लोकोंमें तथा अन्यत्र भी ग्रन्थकर्ताने अपने इन गुरुदेवका बड़ी भक्तिके साथ उल्लेख एवं स्मरण किया है। इन महानुभावने कब और किस भूभागको अपने जन्मसे अलंकृत किया था? इसका इनके ग्रन्थमें स्पष्ट उल्लेख न होनेके कारण निश्चित उत्तर देनेमें कठिनाई पड़ती है तथापि हमने इस विषयमें जो कुछ विचार किया है उसे पाठकोंकी जानकारीके लिये उद्धृत किया जा रहा है।

श्रीरूपगोस्वामीके भक्तिरसामृतसिन्धुमें भगवन्नामकौमुदीकारके मतका प्रमाणरूपमें उल्लेख किया गया है—

श्रीधरस्वामिभिः स्पष्टमयमेव रसोत्तमः।
रसप्रसङ्गे सप्रेमभक्तिकाख्यः प्रकीर्तितः॥
रतिस्थायितया नामकौमुदीकृद्भिरप्यसौ।

अर्थात् 'श्रीधर स्वामीने रस-वर्णनके प्रसङ्गमें प्रेम-भक्तिको ही प्रधान रस बताया है। भगवन्नामकौमुदीके रचयिताने भी प्रेम-भक्तिका स्थायिभाव रति (अनन्य अनुराग) बताकर उसे ही उत्तम रस माना है।'

यहाँ भगवन्नामकौमुदीकारके जिस मतकी ओर संकेत किया गया है वह संक्षेपमें इस प्रकार है—

'अत्र भक्तिशब्देन भगवदालम्बनो रत्याख्यः स्थायी भावोऽभिधीयते।' 'स चायमाद्यो भावः····विभावादिभी रसरूपतामापाद्यमानो निजस्वसंविदा निर्भरमालिङ्गितः स्वयमेवानन्दसंविदभिधान-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुपचारासहं दधानो भक्तिरित्यभिधीयते ।'

(भगवन्नामकौमुदी पृष्ठ १२४-१२५ तथा १३७)

भक्तिरसामृतसिन्धुके उपर्युक्त श्लोकसे सामान्यतः यही अनुमान होता है कि 'नामकौमुदीकारका समय श्रीरूप गोस्वामीके पूर्व और श्रीधर स्वामीके वाद होना चाहिये ।' श्रीरूपने शक-संवत् १४६२ में भक्तिरसामृतसिन्धुका प्रणयन किया था। श्रीचैतन्य महाप्रभुके अन्तर्धानके लगभग आठ वर्ष पूर्व उन्होंने 'विदग्धमाधव' नामक नाटककी रचना की थी । कविवर कर्णपूरके स्वरचित चैतन्यचन्द्रोदयनामक नाटककी समाप्तिमें चैतन्य महाप्रभुका आविर्भावकाल शक-संवत् १४०७ वताया गया है । महाप्रभु प्रायः ४८ वर्षकी अवस्थातक इस धराधामपर विराजमान थे । अतः उनके अन्तर्धानका समय शक-संवत् १४५५ निश्चित होता है, इससे आठ वर्ष पूर्व अर्थात् १४४७ में विदग्धमाधव नाटककी रचना हो गयी थी । अतः श्रीरूप-गोस्वामीका ग्रन्थप्रणयनकाल अनुमानतः १४४५ से १४७० तक माना जा सकता है। गौडेश्वरकी नौकरी छोड़कर महाप्रभुका शिष्य होनेके वाद ही उन्होंने ग्रन्थरचना आरम्भ की होगी; अतः उस समय यदि उनकी अवस्था लगभग २८ वर्षकी मानी जाय तो उनका जीवनकाल शक-संवत् १४१७ से लेकर १४८७ के लगभगतक माना जा सकता है। अतः इससे पहले अर्थात् पन्द्रहवीं शताब्दीसे पूर्व ही नाम-कौमुदीकारका समय मानना उचित है । भागवत-सन्दर्भमें भी उक्त ग्रन्थका नाम आता है, इससे भी उक्त मतकी ही पुष्टि होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अब यह जिज्ञासा होती है कि नामकौमुदीकारको रूप गोस्वामीके निकट पूर्ववर्ती मानें या सुदूर पूर्ववर्ती। भगवन्नाम-कौमुदीके मङ्गलश्लोकोंको देखनेसे हमें एक विशेष प्रकारका संकेत मिलता है, जिसके आधारपर हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि श्रीलक्ष्मीधरजी रूप गोस्वामीसे सुदूरपूर्ववर्ती भागवतके विख्यात टीकाकार श्रीश्रीधर स्वामीके समसामयिक एवं महाराष्ट्र-प्रान्तीय ब्राह्मण थे और श्रीधर स्वामीके सत्संग तथा सदुपदेशों का उनपर बहुत प्रभाव पड़ा था। संभव है, हमारी यह धारणा कुछ विद्वानोंको मान्य न हो, परन्तु हमें इस विषयमें कोई संदेह नहीं जान पड़ता।

भगवन्नामकौमुदीमें नाम-महिमाका ही विवेचन है इसलिये ग्रन्थकारने पहले मङ्गलश्लोकमें 'जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम' कहकर हरिनामका अभिनन्दन किया है। इसके बाद क्रमशः भगवान् विष्णु, शिव और गुरुकी वन्दनासे संबन्ध रखनेवाले श्लोक मिलते हैं। भगवान् विष्णुके विषयमें तीन श्लोक हैं—जिनमें तीन नामोंद्वारा उनका स्तवन किया गया है। पहलेमें'…… स जयति श्रीपुण्डरीकप्रियः' दूसरेमें'………मनसि नृसिंहः समुल्लसतु' और तीसरेमें'……श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः' इस प्रकार उल्लेख किया गया है। पहले श्लोकके सांकेतिक नामसे हम सहज ही यह अनुमान कर सकते हैं कि भगवन्नामकौमुदीकार महाराष्ट्रप्रान्तके निवासी ब्राह्मण थे और उनका वासस्थान पण्ढरपुर या उसके आस-पासके किसी गाँवमें था। भगवान् पाण्डुरङ्ग (विट्ठल) उनके उपास्य देव थे। 'पुण्डरीकप्रियः' शब्द भगवान् विट्ठलका ही बोध कराता है। उन्हींके विषयमें यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्धि है कि 'भगवान् विष्णु अपने प्रिय भक्त पुण्डरीक* के ऊपर प्रसन्न हो उन्हें अभिमत वर देनेके लिये वहाँ प्रकट हुए और भक्तकी प्रार्थनासे भगवान्ने वहाँ अपना नित्य-निवास बना लिया।' †

नामकौमुदीकारके महाराष्ट्रप्रान्तीय होनेमें दूसरा प्रमाण यह भी है कि मीमांसकाग्रगण्य विद्वद्वर श्रीआपदेवजीके पुत्र श्रीअनन्तदेवजीने भगवन्नामकौमुदीकी 'प्रकाश' नामक संस्कृत टीका लिखी है। अनन्तदेवजी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे। किसी भी पुस्तकका प्रचार पहले अपने प्रान्तमें होता है फिर अन्यत्र। इस दृष्टिसे सर्वप्रथम महाराष्ट्रीय विद्वान्के द्वारा ही इसकी टीका लिखी जानी संभव थी।

दूसरे श्लोकके सांकेतिक नामसे यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थकारने नृसिंहरूपमें भगवान्का चिन्तन करते हुए व्याजसे अपने पिताका भी स्मरण और नामोल्लेख किया है। विष्णु-विषयक तीसरे श्लोकमें अर्थश्लेष अलङ्कारके द्वारा विद्वान् ग्रन्थकारने भगवान् श्रीधर और श्रीधरस्वामीका स्तवन किया है। केवल 'श्रीधर' नामकी समानता होनेसे ही 'श्रीधर' शब्दसे श्रीधर स्वामीका ग्रहण कर लिया गया हो—ऐसी बात नहीं है। हम नामकौमुदीकारको श्रीधर स्वामीके सिद्धान्तों और विचारोंके इतना निकट इतना अनुकूल पाते हैं, मानो इस ग्रन्थके प्रणयनमें

---

* भक्तवर पुण्डरीककी कथा श्रीनृसिंहपुराणमें वर्णित है।

† महायोगपीठे तटे भीमरथ्या वरं पुण्डरीकाय दातुं मुनीन्द्रैः।
समागत्य तिष्ठन्तमानन्दकन्दं परब्रह्मलिङ्गं भजे पाण्डुरङ्गम्॥
(पाण्डुरङ्ग-स्तोत्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनका भी हाथ रहा हो। नामकौमुदीकार भी श्रीधर स्वामीके समान ही अद्वैतवादके पोषक होनेपर भी परमभक्त जान पड़ते हैं। 'भक्तिके द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार होकर मोक्ष होता है,' इस मान्यतामें भी ये श्रीधर स्वामीके ही समान हैं। 'प्रेम-भक्ति ही सब रसोंमें उत्तम रस है' यह मत श्रीधर स्वामीकी ही भाँति श्रीलक्ष्मीधरको भी मान्य है--यह पूर्वोक्त भक्तिरसामृतसिन्धुके श्लोकसे ही स्पष्ट है। इतना ही नहीं, श्रीधर स्वामी अपने ग्रन्थमें नामकीर्तनविषयक वचनोंकी अर्थवादताका जिस प्रकार निराकरण करते हैं * उसी प्रकार उसी शैलीसे भगवन्नामकौमुदीमें भी अर्थवादताका खण्डन किया गया है †। अन्तर इतना ही है कि श्रीधरीमें संक्षिप्त विचार किया गया है और नाम-कौमुदीमें पल्लवित। श्रीधर स्वामीने प्रमाणरूपसे जिन वेद-मन्त्रों और पौराणिक वचनोंको उद्‌धृत किया है, वे सभी मन्त्र और श्लोक भगवन्नामकौमुदीमें भी उपलब्ध होते हैं। कई स्थलोंपर तो शब्द और वाक्य एक-से जान पड़ते हैं। यथा—

'मन्त्रार्थवादानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम्' (श्रीधरी)

'मन्त्रार्थवादयोस्तु स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव' (भ० कौ०)

'मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम मनामहे' 'आस्य जानन्तो नाम चिद्विविक्तन' (श्रीधरी और भगवन्नामकौमुदी)

---

* देखिये—श्रीधरीटीका श्रीमद्भागवत ६। २। ८

† देखिये—भगवन्नामकौमुदी पृष्ठ १६ से आगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'स्वस्त्ययनं मोक्षसाधनम्' (श्रीधरी) 'स्वस्तिशब्देनात्र मोक्षोऽभिधीयते' (भ० कौ०) । 'चतुरक्षरमित्यनेनाधिक्यं च दर्शितम्' (श्रीधरी) 'चतुरक्षरमिति संख्याकथनस्य चाधिकमिदमित्यभिप्रायः ।' (भ० कौ०) 'अलंशब्दोऽत्र वारणे' (श्रीधरी) निवारणवचनोऽयमलंशब्दः (भ० कौ०) 'कर्मसाद्गुण्यकरं हरेर्नाम (श्रीधरी) 'सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वं हरिकीर्तनस्य' (भ० कौ०) इत्यादि ।

इस प्रकार श्रीधर स्वामीके विचारोंसे प्रभावित होनेपर भी ग्रन्थकारने कहीं भी अपने ग्रन्थमें उनका नामोल्लेख नहीं किया है। यदि श्रीधर स्वामीके बहुत वर्षों बाद उनका प्रादुर्भाव हुआ होता तो जिस प्रकार अपने मतकी पुष्टिके लिये इन्होंने नामनिर्देशपूर्वक अन्य पूर्ववर्ती आचार्योंके मतका प्रमाणरूपसे उल्लेख किया है, उसी प्रकार श्रीधर स्वामीका भी नाम अवश्य लेते। किन्तु ऐसा नहीं किया। करते भी क्या? इनका मत श्रीधर स्वामीके विचारोंका व्याख्यामात्र ही तो था, इससे उनके सिद्धान्तोंका ही तो स्पष्टीकरण हो रहा था। इसीलिये बीचमें नाम न देकर इन्होंने अपने उपजीव्य स्वामी श्रीधरजीसे मङ्गलाचरणमें ही आशीर्वादकी याचना कर ली—

यदङ्घ्रिरेणुबीजानि जनैरुप्तानि मूर्धसु ।
सद्यः सुरद्रुमायन्ते श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः ॥

यहाँ 'सुरद्रुमायन्ते' इस वर्तमानकालिक क्रियाका प्रयोग होनेसे यह सिद्ध होता है कि उस समय श्रीश्रीधरजी जीवित थे। भगवन्नामकौमुदीकी रचनामें ग्रन्थकारको सबसे बड़ी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सहायता अपने गुरु श्रीअनन्तानन्दजीसे मिली है, जिसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है।*

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि भगवन्नाम-कौमुदीकार श्रीधर स्वामीके समकालिक थे। श्रीधर स्वामीके समयमें भी मतभेद है, अभीतक कुछ निश्चित निर्णय नहीं हुआ। कुछ लोग श्रीधरका समय ईसाकी दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं, पर यह मत ठीक नहीं जान पड़ता। यदि श्रीधर स्वामीका उक्त समय माना जाय तो वे वोपदेवसे दो या तीन सौ वर्ष पूर्ववर्ती सिद्ध होंगे; क्योंकि वोपदेवका समय तेरहवीं शताब्दी-का शेष भाग माना जाता है। उस समय श्रीधरी टीकाके रहते हुए यह शङ्का† नहीं उठ सकती थी कि भागवतके रचयिता श्रीवोपदेव-जी हैं। इस शङ्काके समाधानमें यह कहा जाता है कि वोपदेवके पहले वर्तमान श्रीगौड़पादाचार्य‡ और शङ्कराचार्य§के ग्रन्थमें भागवतका उल्लेख मिलता है तथा वोपदेवसे पहले भागवतपर

---

* ग्रन्थकारने गुरुदेव श्रीअनन्तानन्दजीकी बतायी हुई उक्ति-युक्तियोंसे ही पौराणिक शङ्काओंका मार्जन करनेका उल्लेख किया है, परन्तु युक्तियाँ अधिकांश श्रीधरके ग्रन्थमें देखी जाती हैं, अतः यह भी संदेह होता है कि बहुत सम्भव है, श्रीधरस्वामीका ही संन्यास-आश्रमका नाम 'अनन्तानन्द' रहा हो।

† यह शङ्का पहले कभी नहीं उठी, नहीं तो भागवतकी प्राचीन टीकाओंमें इसका निराकरण किया गया होता। यह श्रीस्वामी दयानन्दजीके मस्तिष्ककी उपज थी, जो विद्वानोंके समाधानोंसे ध्वस्त हो गयी।

‡ जगृहे पौरुषं रूपमिति भागवतमुपन्यस्तम्। (पञ्चीकरणटीका)।
तदुक्तं भागवते—श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य·····। (उत्तरगीताटीका)।

§ परमहंसधर्मो भागवते पुराणे श्रीकृष्णेनोद्धवायोपदिष्टः। (चतुर्दशमतविवेक)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हनूमान् और चित्सुख आदिकी टीकाएँ थीं, उनमें श्रीधरकी टीकाका उल्लेख नहीं है। अतः श्रीधर स्वामीका समय ईसाकी चौदहवीं शताब्दी मानना उचित है, यही भगवन्नामकौमुदीकारका भी समय हो सकता है। इस प्रकार शकवर्षगणनाके अनुसार नामकौमुदीकारका समय तेरहवीं शताब्दी माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। गौड़ीय विद्वानोंमें इस ग्रन्थका प्रचार होनेके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि 'सम्भव है, ग्रन्थकारने कभी व्रजकी यात्रा की हो और वहाँ इनके इस ग्रन्थकी दूसरी प्रति लिखी गयी हो, वही परम्परासे रक्षित होकर श्रीरूपगोस्वामीके हाथ लगी होगी, जिससे उन्होंने अपने ग्रन्थमें इसका उल्लेख किया है।' श्रीरूप गोस्वामी व्रजमें अधिक कालतक रहे हैं—यह प्रसिद्ध ही है। इसके बाद इस ग्रन्थका अन्य विद्वानोंके ग्रन्थोंपर भी प्रभाव पड़ा। जीव गोस्वामीके ग्रन्थोंमें भी इसके वाक्य तथा मतका उल्लेख मिलता है। इस ग्रन्थकी समाप्तिमें आये हुए 'आकृष्टिः कृतचेतसां...... मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः।' इस मङ्गल श्लोकका चैतन्यचरितामृतमें भी उल्लेख है, किन्तु 'श्रीराम' के स्थानमें 'श्रीकृष्ण' पाठ कर लिया गया है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भी अपने ग्रन्थमें इस श्लोकको उद्धृत किया है।

इस प्रकार यह भगवन्नामकौमुदी बहुत प्राचीन होनेपर भी बहुत कालतक कहीं प्रकाशित नहीं हुई थी। विक्रम संवत् १९८४ में यह पुस्तक सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र पूज्यपाद श्रीदामोदरलालजी गोस्वामीद्वारा सम्पादित होकर अच्युत-ग्रन्थमाला काशीसे प्रकाशित हुई। वहाँकी पुस्तकसे ही हमने इसका अनुवाद किया है। अनुवादमें उक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गोस्वामीजी महाराजकी टिप्पणियोंसे और प्रकाशनामक टीकासे भी सहायता ली है, इसके लिये हम टिप्पणीकार और टीकाकार दोनोंके ही ऋणी हैं। कुछ कठिन स्थलोंपर कलकत्ता संस्कृत-कालेजके प्रधानाध्यापक पण्डितप्रवर गुरुदेव श्रीहाराणचन्द्रजी भट्टाचार्यकी बहुमूल्य सहायता हमें प्राप्त हुई है। अनुवादके संशोधनमें मारवाड़ी संस्कृत-कालेजके प्रधानाध्यापक श्रीनारायणदत्तजी त्रिपाठी व्याकरणाचार्य और श्रद्धेय भाई मुनिलालजीने अपना बहुमूल्य समय प्रदान किया है, एतदर्थ हम उपर्युक्त सभी महानुभावोंके सदा ही आभारी रहेंगे। यह सब सहायता मिलनेपर भी हमारी अल्पज्ञता और ग्रन्थकी जटिलताके कारण बहुत-सी भूलें रह गयी होंगी। इसके लिये हम कृपालु विद्वानोंसे क्षमायाचना करते हुए अनुरोध करते हैं कि वे भूलोंकी सूचनाद्वारा हमें अवश्य अनुगृहीत करें, जिससे अगले संस्करणमें उनका सुधार हो सके।

अन्तमें, जिन लीलामय परमेश्वरने हमें निमित्तमात्र बनाकर इस कार्यको स्वयं ही पूर्ण किया है, उनकी यह वस्तु उन्हींके चरणोंमें समर्पित कर रहे हैं। वे परमानन्दसुधासागर रसिकशिरोमणि अभिन्नमूर्ति भगवान् राधाकृष्ण अपने आज्ञापालनसे प्रसन्न होकर हमें अपना दुर्लभ प्रेम प्रदान करें। इति।

सं० १९९५
वैशाख कृष्ण ४

रामनारायणदत्त पाण्डेय
गीताप्रेस गोरखपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

विषय-सूची

प्रथमः परिच्छेदः

विषय	पृष्ठ
मङ्गलाचरणम्	२
विचारस्यारम्भस्तदङ्गानि संशयाश्च	५
विचारस्य प्रयोजनम्	६
पूर्वपक्षः—इतिहासपुराणानां स्वार्थेऽप्रामाण्यम् ...	७
मतान्तरेण पूर्वपक्षः	९
उत्तरपक्षः—पुराणानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम् ...	१२
पुराणानामर्थवादत्वनिरासः	१५
नामकीर्तनवाक्यानां विधित्वसमर्थनम्	३१
नामसंकीर्तनविषयाणि विधिवचनानि	३४
उपसंहारः	३६

द्वितीयः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम्	४०
पूर्वपक्षः—स्मृतिपुराणयोर्विरोधे समुच्चयः	४१
पापध्वंसे नामकीर्तनस्य प्राधान्यमित्युत्तरपक्षः ...	४९
तत्राजामिलदृष्टान्तः	५०
कर्मतो भक्तेः प्राधान्यम्, निरपेक्षसाधनत्वं च ...	५४
नामकीर्तनस्यान्यकर्माङ्गत्वनिरासः	७२
नामकीर्तनात् सवासनानां पापानां ध्वंसः	७५
नवधा भक्तिः	७७

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अधर्मपदार्थविवेचनम् ८२
भक्तेरेवात्यन्तिकशुद्धिकरत्वम् ९१
सिद्धान्तोपसंहारः ९३

तृतीयः परिच्छेदः

मङ्गलाचरणम् ९६
पूर्वपक्षः—विकल्पव्यवस्थयोर्व्यवस्थाया ज्यायस्त्वम् ... ९६
तत्र महदल्पादिपापभेदेन व्यवस्था ९८
उक्तव्यवस्थायाः खण्डनम् ९९
अवान्तरपूर्वपक्षः—कीर्तनस्य महापातकाद्यनिवर्तकत्वम् ... १००
मध्यमपक्षः—अनन्तरोक्तपूर्वपक्षखण्डनमुक्तव्यवस्थानिरासश्च १०३
कैमुत्यन्यायेनोक्तव्यवस्थायाः खण्डनम् १०७
युक्त्यन्तरेणोक्तव्यवस्थानिरासः ११२
मतान्तरव्यवस्था—श्रद्धाभक्तिमतः श्रवणकीर्तनादिष्वधिकारः
तदितरस्य तु स्मार्ते कर्मणि ११६
श्रद्धावतोऽधिकारे प्रमाणदर्शनम् ११७
भक्तिमतोऽधिकारे प्रमाणप्रदर्शनम् १२४
रतिरेव भक्तिरित्यत्र प्रमाणम्, भक्तेर्गरीयस्त्वं च ... १२९
भावरूपाया मनोवृत्तेरेव मुख्यतया भक्तिशब्दार्थत्वम् ... १३५
भक्ते रसरूपत्वम् १३७
भक्तिरसस्यालम्बनविभावः १३८
उद्दीपनविभावाः १३९
अनुभावा व्यभिचारिभावाश्च १४१
आलम्बनविभावादीनामुदाहरणानि १४१
भगवद्भक्तेरुत्साहाङ्गत्वनिरासः १४५

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विहिताचरणं निषिद्धवर्जनं च भक्तिरिति मतस्य प्रत्याख्यानम् ··· १४६

भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वमधिकारिविशेषणत्वं च ··· ··· १४९

ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमुक्तव्यवस्थाया उपसंहारश्च ··· १५१

पुराणवचनेष्वावृत्त्यनावृत्तिविषयकं विरोधमुद्भाव्य व्यवस्थान्तरेण तत्परिहारः ··· ··· १५२

श्रद्धादिमतः कीर्तनेऽधिकार इत्यत्र विरोधोद्भावनम्, प्रसङ्गादभ्यासगतिसामान्ययोर्निरूपणं च ··· ··· १५७

उक्तविरोधपरिहारः ··· ··· १६७

सिद्धान्तपक्षः—प्रागुक्तपूर्वपक्षखण्डनम् ··· ··· १६९

पुराणेषु व्यवस्थापकवचनानां मुमुक्षुविषयत्वम् ··· १७५

श्रद्धानिबन्धनव्यवस्थाया निराकरणम् ··· ··· १७८

भक्तिनिमित्तकव्यवस्थायाः प्रत्याख्यानम् ··· ··· १९०

प्रीतेरधिकारहेतुत्वखण्डनम् ··· ··· १९५

भावरूपाया भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वस्य निराकरणम् प्रसङ्गान्महद्दर्शनमाहात्म्यवर्णनं च ··· ··· १९६

अभिधेयज्ञानस्य कीर्तनाङ्गतायाः प्रत्याख्यानम् ··· २१२

अनुतप्तानुतप्तभेदमूलकव्यवस्थायाः खण्डनम् ··· २२१

अनुतापविषयकवचनव्याख्या ··· ··· २२५

आवृत्तानावृत्तकीर्तनविषयकवचनव्याख्यानम् ··· २३१

आवृत्तकीर्तनस्य प्रारब्धक्षयार्थत्वमनावृत्तस्य चाप्रारब्धप्राचीनाघसंहारार्थत्वमिति निश्चयः ··· ··· २३४

कीर्तनस्य सर्वाघसंहारित्वे मृत्युकालस्याविवक्षितत्वम् ··· २४४

देशकालवैशिष्ट्यप्रतिपादकवचनानां पुरश्चरणादिकर्माङ्गत्वम् ··· २५०

प्रत्याहारादिधर्माणां कीर्तनाङ्गत्वनिरासः ··· ··· २५०

क्वचिच्छ्रूयमाणधर्माणां मोक्षसाधनकीर्तनाङ्गत्वम् ··· २५३

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनस्य ज्ञानद्वारकमोक्षसाधनत्वसमर्थनम् २५४

कीर्तनतो मोक्षोपलब्धौ क्रमनिरूपणम् २५५

सर्वैर्नामभिर्मन्त्रैर्वा भगवतः स्तवनकीर्तनयोः श्रुतिसम्मतत्वम् ... २५८

नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतकानि श्रुतिपुराणवचनानि ... २६२

नामकीर्तनस्येतिकर्तव्यतादिनिरपेक्षत्वेऽपि विधित्वसमर्थनम् ... २६६

कीर्तनीयानां भगवन्नाम्नां समस्तानां व्यस्तानां वोक्तं सामर्थ्य-
मिति विचारे पूर्वपक्षः २६९

तत्र सिद्धान्तः २७२

स्मार्तप्रायश्चित्तवैयर्थ्याशङ्कानिरसनम् २७८

स्मार्तपौराणयोर्विकल्पस्य प्रतिपादनम् २८०

अस्य प्रकरणग्रन्थस्य प्रयोजननिरूपणम् २८४

ग्रन्थान्ते मङ्गलाचरणम् २८५

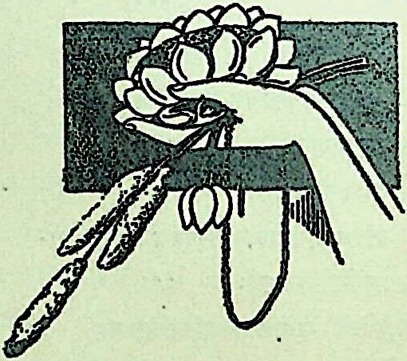

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

प्रथमः परिच्छेदः

यस्यानन्दमहार्णवस्य तरलास्तारास्तरङ्गा अमी
मायामारुतविभ्रमेण जनिता जीवाभिमानं गताः ।
नानोपाधिवशाद् विभात्यविदुषामेकोऽपि योऽनेकधा
सोऽयं सम्प्रति मङ्गलं दिशतु वो वेदान्तवेद्यो विभुः ॥ १ ॥

जयन्ति गोविन्दमुखारविन्दे मरन्दसान्द्राधरमन्दहासाः ।
चित्ते चिदानन्दमयं तमोघ्नममन्दमिन्दुद्रवमुद्गिरन्तः ॥ २ ॥

यच्चिन्तितं वोच्चरितं स्ववाचाप्याचामति प्रार्थिजनव्यथाऽभिम् ।
तदद्भुतं व्याधिहरं जनानामानन्ददं नाम हरेर्नमामः ॥ ३ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

॥ ॐ नमः श्रीकृष्णाय ॥

मङ्गलाचरणम्

अंहः संहरदखिलं सकृदुदयादेव सकललोकस्य ।
तरणिरिव तिमिरजलधिं जयति जगन्मङ्गलं हरेर्नाम ॥१॥
कारुण्यामृतनिर्झरः सुरसरिज्जन्माकरः श्रीवधू-
लीलाब्जं व्रजकामिनीकुचतटीकस्तूरिकास्थासकः ।
उत्तंसः सुरयोषितां मुनिमनोवश्यौषधीपल्लवो
यस्याङ्घ्रिः सुरवल्लभः स जयति श्रीपुण्डरीकप्रियः ॥ २ ॥
कररुहकुलिशैर्द्विषतां चरणाम्बुजनखरकान्तिभिर्भजताम्।

जिस प्रकार सूर्य एक ही वारके उदयसे सम्पूर्ण जगत्के अन्धकार-राशिको दूर करता है उसी तरह एक ही वारके उच्चारणसे जो सब लोगोंके समस्त पापों या क्लेशोंको नष्ट कर देता है, संसारका कल्याण करनेवाले उस हरि-नामकी [सर्वदा] विजय है ॥ १ ॥ जिसका चरण करुणारूपी अमृतका झरना, गङ्गाजीका उत्पत्तिस्थान, लक्ष्मीजीका लीलाकमल, व्रजाङ्गनाओं-के वक्षःस्थलपर कस्तूरीका लेप, [गोपीभावको प्राप्त हुई] देव-वनिताओंका कर्णभूषण और मुनियोंके मनको वशमें करनेके लिये औषधपत्र है, देवताओंके वल्लभ तथा पुण्डरीक भक्तके प्रियतम उस विट्ठल भगवान्‌की [सदा] विजय है ॥ २ ॥ जो अपने हाथके वज्रसदृश नखोंसे शत्रुओंकी और चरण-कमलके नखोंकी कान्तिसे भक्तोंकी हृदय-ग्रन्थियोंको[1] विदीर्ण करते हैं वे

१—शत्रुओंकी हृदयग्रन्थि है वक्षःस्थलकी हड्डियोंका जोड़; और भक्तोंकी हृदयग्रन्थि है अविद्या-जन्य बन्धन ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हृदयग्रन्थीन् भिन्दन् मनसि नृसिंहः समुल्लसतु ॥ ३ ॥
यदङ्घ्रिरेणुबीजानि जनैरुप्तानि मूर्द्धसु ।
सद्यः सुरद्रुमायन्ते श्रीधरः स श्रियेऽस्तु वः ॥ ४ ॥
उल्लसति लोचनाग्नौ जगदवदानानि जुह्वतो यस्य ।
प्रथमाहुतिर्मनोजः स जयति देवः पुरां भेत्ता ॥ ५ ॥
यत्पादपद्मनखकान्तितरङ्गजीर्य्य-
जम्बालजाङ्घिकधियां न धियामभूमिः ।
निःसीमसौख्यजलधिर्जयतादनन्तः
सोऽसद्गुरुर्जगदनुग्रहजागरूकः ॥ ६ ॥

श्रीनृसिंह भगवान् हमारे हृदयमें प्रकाशमान हों ॥३॥ मनुष्यों-द्वारा जिनके चरणोंके रेणुरूप बीज मस्तकरूप भूमिपर बोनेसे तत्काल कल्प-वृक्षके समान होकर सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण करते हैं, वे भगवान् श्रीधर आपलोगोंकी श्री-वृद्धि करें ॥४॥ जगत् [रूप हविष्य] की आहुति देते समय जिनकी प्रज्वलित नेत्राग्निमें पहली आहुति कामदेव ही हुए, उन त्रिपुर-विदारक श्रीमहादेवजीकी विजय है ॥ ५ ॥ जिनके चरण-कमलोंके नखोंकी कान्ति-लहरीसे पङ्कसदृश अज्ञानका नाश हो जानेके कारण विकसित बुद्धि-वाले शिष्योंकी बुद्धिमें असीम आनन्दका सागर लहराने लगता है वे जगत्के ऊपर अनुग्रह करनेमें सावधान रहनेवाले अनन्तनामक मेरे गुरुदेव विजयी हों ॥ ६ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपि च—

अधीशं निःस्वानां शमनदतटीषु प्रवसता-
मशेषाणामाद्यं गुणगरिमनिर्मुक्तमपि यम्।
मृषामानाद् दूरं श्रुतिरुपचरन्ती सविनयं
शनैर्यत्नादन्तर्णयति सुभगानां परिवृढम् ॥ ७ ॥
चेतश्चकोरसन्तोषपीयूषाम्बुधिवृद्धये ।
इयं विस्तार्य्यते श्रीमद्भगवन्नामकौमुदी ॥ ८ ॥

तथा; ममता-शून्य विरागियोंके अधीश्वर, शान्तिमयी सरिताके तटपर निवास करनेवाले सभी लोगोंमें प्रधान, विषयोंके भारसे मुक्त और मिथ्याभिमानसे दूर रहनेवाले, सौभाग्यशीलोंमें श्रेष्ठ जिन गुरुदेवकी विनयपूर्वक सेवा करती हुई श्रुति (ब्रह्म-विद्या) धीरे-धीरे यत्नपूर्वक उन्हें अन्तर्मुख करती है [वे विजयी हों]* ॥ ७ ॥ [शुद्ध बुद्धिवाले पुरुषोंके] चित्तरूपी चकोरके सन्तोष-रूप सुधा-सागरकी वृद्धिके लिये इस भगवन्नामकौमुदीका विस्तार किया जाता है ॥ ८ ॥

---

* इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है—श्रुतिः (तत्त्वमस्यादि-वाक्यरूपा) निःस्वानाम् (विरक्तानाम्) शमनदतटीषु प्रवसताम् (शान्तानाम्) अत एव सुभगानाम् [साधनचतुष्टयसम्पन्नानां तान्प्रतीत्यर्थः] सविनयं शनैर्यत्नात्, अशेषाणाम् आद्यम्, गुणगरिमनिर्मुक्तम् (निर्गुणम्) मृषामानाद् दूरम् (प्रत्यक्षादिमानागोचरम्), परिवृढम् (अपरिच्छिन्नम्) यं गुरुस्वरूपम् अधीशम् (परमेश्वरम्) उपचरन्ती सती (उपचारेणेत्यर्थः) अन्तर्णयति—अभेदेन बोधयति [स जयतादित्यर्थः]। अर्थात्—'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यरूपा श्रुति विरक्त,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारस्यारम्भस्तदङ्गानि संशयाश्च

अत्र श्रीमद्भगवन्नाममाहात्म्यप्रतिपादकानि पुराणवचनान्युदाहृत्य विचार्य्यन्ते—किमेतान्यविवक्षितस्वार्थान्युत स्वार्थपराणीति ? यदा स्वार्थपराणि, तदापि किं साक्षात्पापक्षयहेतोः कस्यचिदङ्गभावेन भगवन्नामकीर्त्तनं पापक्षयहेतुः ? उत स्वप्राधान्येन ? यदापि स्वप्राधान्येन, तदापि किं श्रद्धाभक्तिज्ञानवैराग्याभ्यासदेशकालविशेषादिसापेक्षत्वेन ? उत तन्नैरपेक्ष्येणेति ?

इस ग्रन्थमें भगवान्के नामोंकी महिमाके प्रतिपादक पुराणवचनोंको उद्धृत कर इस बातका विचार किया जाता है कि इनका [भगवन्नामोच्चारणको पापनाशक बतलाना आदि] मुख्य अर्थ विवक्षित है ? या नहीं ? यदि विवक्षित है तो यह भगवन्नामकीर्तन पापनाशके साक्षात् कारणभूत किसी [मन्वा-दिकथित प्रायश्चित्त] का अङ्ग होकर पापक्षयका हेतु है ? या स्वयं प्रधानरूपसे ? यदि स्वयं प्रधानरूपसे है तो भी श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास तथा विशिष्ट देश-कालादिकी* अपेक्षा रखता है ? या नहीं ?

शान्त एवं साधनचतुष्टयसम्पन्न भाग्यशाली पुरुषोंके प्रति विनयपूर्वक धीरे-धीरे यत्न करनेसे सबके आदिकारण, निर्गुण, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके अविषय, अपरिच्छिन्न गुरुस्वरूप जिन परमेश्वरका अभिन्नरूपसे बोध कराती है [उनकी विजय हो] ।

* यहाँ विशिष्ट देशसे काशी आदि तीर्थ, विशेष कालसे संक्रान्ति, पर्व इत्यादि पुण्यकाल तथा आदिशब्दसे पवित्रता आदिका ग्रहण है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विचारस्य प्रयोजनम्

अस्य विचारस्य सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमार्थसतत्त्व-सन्देहसन्दोहलतालवित्रचरणनखचन्द्रिकाञ्चलस्य श्रीमदनन्तानन्द-रघुनाथस्य करुणाकादम्बिनीमुक्तसूक्तिसुधोद्धारासारैः स्मृतिपुराण-वचनविरोधाभासभावितनितान्तमसृणशङ्कापङ्कप्रक्षालनेन तस्यैव रघुराजशिरोमणेः सर्वतः प्रसृमरपरमकारुण्यसुधार्णवस्य निरङ्कुश-महिमधामनि श्रीरामनामनि स्वचेतसः समाधानमेव प्रयोजनम् ।

तत्र केषाञ्चिदतिसाहसिकानामत्यावेशोऽयमनूद्यमानोऽपि

इस विचारका प्रयोजन यह है कि जिनके चरण-नखोंकी चन्द्रिकाका एक छोटा-सा भाग भी समस्त श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और आगमोंके तात्त्विक अर्थमें होनेवाले संशयसमूहरूप लताओंका छेदन करनेमें शस्त्रके समान है उन रघुनाथस्वरूप अनन्तानन्दनामक गुरुदेवकी करुणामयी मेघमालासे मुक्त सूक्तिरूपी अमृतकी मूसलधार वृष्टिसे स्मृति तथा पुराणोंके वचनोंमें विरोधाभासके कारण जमी हुई सुदृढ़ शङ्कारूप कीचड़को धोकर सब ओर फैले हुए अत्यन्त करुणा-रूप अमृतके समुद्रसदृश उन गुरुस्वरूप रघुराजशिरोमणिके ही श्रीरामनाममें, जो असीम महिमाका धाम है, मेरे चित्तका समाधान हो [अर्थात् भगवान्‌के नाममें हमारी चित्तवृत्ति लग जाय]।

भगवन्नामके विषयमें दुःसाहस करनेवाले कुछ लोगोंके आवेशका [जो आगे कहा जायगा] खण्डन करनेके लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महापतनहेतुरपि भगवन्नाममाहात्म्यमननस्य भगवदुपासनासमान-सौभाग्यत्वान्निराकरणार्थमनूद्यते ।

पूर्वपक्षः—इतिहासपुराणानां स्वार्थेऽप्रामाण्यम्

तद्यथा—अविवक्षितस्वार्थान्येव पुराणवचनानीति; तथा हि—कार्य्य एवार्थे वेदस्य प्रामाण्यं न सिद्धे, तत्रैव शब्दस्य शक्तितात्पर्य्ययोरवधारितत्वात्। ततश्च विधिवाक्यस्यैव स्वार्थे प्रामाण्यं न मन्त्रार्थ-

---

अनुवाद किया जाता है। यद्यपि उस आवेशका अनुवादमात्र करना भी महान् पतनका कारण है* [फिर स्वयं कहनेकी तो बात ही क्या है ?] तथापि भगवान्‌के नाममाहात्म्योंका मनन करना उनकी उपासनाके समान ही सौभाग्यजनक है, इसलिये अनुवाद किया जा रहा है।

पूर्वोक्त आवेश इस प्रकार है—[नाम-माहात्म्यप्रतिपादक] पुराणोंके वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है; क्योंकि कार्य (कृति-साध्य) अर्थमें ही वेद प्रमाण हैं, सिद्ध अर्थमें नहीं; कारण यह है कि कार्यान्वित स्वार्थमें ही शब्दकी शक्ति और तात्पर्यका निश्चय किया गया है†। इसलिये विधिवाक्य ही स्वार्थ (लिङादिवाच्य कार्य) में प्रमाण होते हैं,

---

* इसमें—

अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः ।
स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् ॥

'जो भगवान्‌के नामकी महिमामें अर्थवादकी सम्भावना करता है वह मनुष्योंमें सबसे बड़ा पापी है और अवश्य नरकमें गिरता है।' इत्यादि वचन प्रमाण हैं।

† श्रीप्रभाकरभट्टके मतमें कार्यान्वित स्वार्थमें पदोंकी शक्ति है और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वादोपनिषदाम्, किन्तु तासां कथञ्चित् क्रतुविध्युपयुक्तार्थत्वं जपार्थत्वं वा; इतिहासपुराणयोस्तु तन्मूलत्वान्नतरां स्वार्थे प्रामाण्यगन्धोऽपीति ।

मन्त्र, अर्थवाद और उपनिषद् नहीं। ये तो किसी प्रकार यज्ञविधिमें उपयोगी होते हैं;अथवा जप ही इनका प्रयोजन है। इतिहास और पुराण तो मन्त्र,अर्थवाद तथा उपनिषद्मूलक ही हैं, अतः उनकी अपने वाच्यार्थमें लेशमात्र भी प्रमाणता नहीं है।*

तत्तत्पदार्थविशिष्ट कार्यमें वाक्योंका तात्पर्य है, इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—'अमुक शब्द अमुक अर्थका बोधक है' इस प्रकार जिस शब्दकी शक्तिका ग्रहण नहीं हुआ है उससे अर्थकी प्रतीति नहीं हो सकती, अतः शक्ति-ज्ञान अपेक्षित है। यद्यपि व्याकरणादि शास्त्र शक्तिग्राहक हैं तथापि लोकमें प्रवृत्ति-निवृत्ति आदि व्यवहारसे ही सबको शक्तिग्रहण होता देखा गया है। अतः लोक-व्यवहार ही मुख्यरूपसे शक्तिग्राहक है। जैसे किसीने कहा—'चैत्र गामानय, अश्वं बधान' (चैत्र गौ लाओ, घोड़ा बाँध दो); प्रेरककी इस आज्ञानुसार चैत्रको कार्य करते देखकर, अनजान पुरुष मनमें निश्चय करता है कि उपर्युक्त वाक्यका 'सींग-पूँछवाले पशुका ले आना' आदि अर्थ है। पुनः जब प्रेरकने आज्ञा दी कि 'गां नय अश्वमानय' (गौ ले जाओ, अश्व लाओ) तब इसके अनुसार भी वह पुरुष कार्य करते देखता है। अन्तमें अन्वय और व्यतिरेकसे वह इस निर्णयपर पहुँचता है कि क्रिया और कारक जब परस्पर अन्वित हों तभी उनमें अर्थ-बोधनकी शक्ति है। पुनः पूर्वोक्त वाक्यके सम्बन्धमें अनुमान करता है कि आनयन आदि कार्यसे अन्वित गौ आदि अर्थके बोधनमें ही गो आदि पदकी शक्ति है। इस प्रकार उसे कार्यान्वित अर्थमें ही पदोंकी शक्तिका निश्चय होता है, फिर जिसकी शक्तिका निश्चय हो गया, उस पदसे युक्त वाक्यका तात्पर्य भी कार्यमें ही पर्यवसित होता है।

* मीमांसादर्शनमें कहा भी है—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।'

अर्थात्—'वेदके यज्ञादिपरक होनेके कारण जो वाक्य यज्ञार्थक नहीं हैं वे अनर्थक हैं [अर्थात् उनका स्वार्थमें प्रामाण्य नहीं है]।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मतान्तरेण पूर्वपक्षः

अन्ये तु मन्यन्ते; न कार्य्ये एवार्थे वेदस्य प्रामाण्यमपि तु सिद्धेऽपि, तत्रापि शक्तितात्पर्य्ययोराचार्य्यैरेव निरूपितत्वात्। मन्त्रार्थवादयोस्तु मानान्तरानधिगतं तदविरुद्धमर्थमवगमयतोरन्यपरत्वेऽपि स्वार्थे प्रामाण्यं भवत्येव। तात्पर्य्यं हि न प्रमितिमुत्पादयति,

---

दूसरे ऐसा मानते हैं—केवल कार्यान्वित स्वार्थमें ही वेद प्रमाण नहीं हैं, अपि तु सिद्ध अर्थमें भी प्रमाण हैं; क्योंकि उसमें भी आचार्योंने ही शक्ति और तात्पर्यका निरूपण किया है*। मन्त्र और अर्थवाद यद्यपि प्रमाणान्तरसे अज्ञात और विधिके अनुकूल अर्थका बोधन करते हुए अन्य (विधि) परक भी होते हैं तथापि उनका स्वार्थमें भी प्रामाण्य है ही। तात्पर्य प्रमा (भ्रान्तिरहित ज्ञान)का उत्पादक नहीं

---

* जैसे जब कोई किसीसे कहता है कि तुम्हें पुत्र हुआ है, तो यह सुनकर उसके मुख और नेत्र खिल जाते हैं। उस समय तीसरा मनुष्य उसके मुख-नेत्रादिके विकासको देखकर उसकी प्रसन्नताका अनुमान करता है और उस प्रसन्नतासे उसके कारणभूत ज्ञानका अनुमान करके उसमें अन्वय-व्यतिरेकसे उक्त वाक्यको ही कारण मानकर क्रमशः इस निश्चयपर पहुँचता है कि 'इस वाक्यद्वारा पुत्रजन्मका ही प्रतिपादन होता है, जैसा कि पुत्र-जन्म मैं अपने यहाँ देख चुका हूँ।' इस प्रकार उसे सिद्ध अर्थमें भी तात्पर्यका निश्चय होता है, फिर 'तुम्हारा पुत्र देशान्तरसे आया है' इस वाक्यको सुनकर तर्क-वितर्कसे पुत्रपदकी शक्तिका निश्चय करता है—इस प्रकार सिद्ध अर्थमें भी शक्ति और तात्पर्यका ग्रहण होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु केवलं तत्र प्रतिबन्धं निरुन्धे; तद्यदि स्वरसत एवं निष्प्रतिबन्धमवधारितरूपमनधिगतविषयञ्च विज्ञानमुत्पद्यते शब्दात्, तदान्तरेणापि तात्पर्य्यं तस्य प्रामाण्यं किं न स्यात्? तत्सज्ञानविगानयोः पुनरनुवाद-

होता, अपि तु केवल उसके प्रतिबन्धको दूर करता है। अतः यदि शब्दसे स्वभावतः ही प्रतिबन्धरहित, निश्चितस्वरूप एवं प्रमाणान्तरसे अज्ञात वस्तुविषयक विज्ञानकी उत्पत्ति हो तो स्वार्थमें तात्पर्यनिर्णयके विना भी वह क्यों नहीं प्रमाण हो सकता है?* उस विषयमें मतान्तरकी सम्मति हो तो वह अनुवाद है और उससे मतान्तरका विरोध हो तो वह गौण

* यथा—'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही अद्वितीय है) यह वाक्य अद्वैतभावमें प्रमाण है, परन्तु यदि यह कहा जाय कि 'अस्मिन् ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः' (इस गाँवमें यही एक अद्वितीय पुरुष है) इत्यादि वचनोंमें जिस प्रकार 'एक एवाद्वितीयः' यह प्रयोग औपचारिक माना गया है; क्योंकि उस गाँवमें अन्य पुरुष भी तो हैं। 'वैसा दूसरा नहीं है' इस अर्थमें 'यही अकेला पुरुष है' यह वाक्य उपचारतः प्रयुक्त हुआ है, इसी तरह [ब्रह्मके समान कोई दूसरा नहीं है] इसी अर्थमें 'एकमेवाद्वितीयम्' यह वाक्य औपचारिक ही क्यों न माना जाय?, तो यह शङ्का अद्वैतप्रमाकी प्रतिबन्धक है। पुनः जब उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता, फल, अर्थवाद तथा उपपत्ति—इन छः प्रकारके तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंसे उक्त वाक्यका अद्वितीय ब्रह्ममें तात्पर्य निर्णीत हो जाता है तो प्रतिबन्धककी निवृत्ति हो जाती है। परन्तु 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' (हाथमें वज्र लिये हुए इन्द्र) इत्यादि वाक्योंकी तरह जो वाक्य प्रतिबन्धकसे रहित हो और उसका विषय सन्देहग्रस्त न हो तथा अन्य प्रमाणोंसे विरुद्ध और ज्ञात भी न हो तो वहाँ मन्त्र और अर्थवाद भी प्रमाण होते ही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वगुणवादत्वे, उपनिषदां पुनरनन्यशेषत्वादपास्तसमस्तानर्थमनन्ता-नन्दानुभवैकरसमनधिगतात्मतत्त्वमवगमयन्तीनां प्रमाणान्तरविरोधेऽपि तस्यैवाभासीकरणेन च स्वार्थ एव प्रामाण्यं भवत्येव। तदुक्तं भट्टपादैः— "अथ वेतिहासपुराणप्रामाण्यात् सृष्टिप्रलयावपीष्येते" इति।

तथापि देवतातत्त्वतत्पराणां पुराणानामनुष्ठेयार्थपराणां स्मृतीनां च स्वे स्वे गोचरे गरीयस्त्वाद् गुरुतरप्रायश्चित्तविधायिमन्त्रादिवाक्य-

---

(औपचारिक प्रयोग) है*। [मन्त्र और अर्थवाद तो विधिके अङ्गभूत हैं, परन्तु] उपनिषदें किसीकी अङ्गभूत नहीं हैं, अतः वे समस्त अनर्थोंको दूर करनेवाले अनन्त आनन्दमय एकरस अज्ञात आत्मतत्त्वका बोध कराती हुई प्रमाणान्तरसे विरोध होनेपर भी उस (प्रमाणान्तर) को प्रमाणाभास (दुर्बल) सिद्ध करती हुई स्वार्थमें ही प्रमाण होती हैं। अतएव पूज्य भट्टाचार्यने कहा है— "अथवा इतिहास-पुराणोंके प्रमाणसे सृष्टि और प्रलय भी इष्ट हैं।"

[इस कथनसे यद्यपि पुराणोंका अविकलरूपसे स्वार्थमें प्रमाणभूत होना सिद्ध होता है] तथापि देवतातत्त्वके प्रतिपादक पुराणों और कर्तव्यार्थ-बोधक स्मृतियोंके अपने-अपने विषयमें गौरवान्वित होनेके कारण महान् प्रायश्चित्त-विधायक मन्त्रादिके

---

* 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु शीघ्रगामी देवता है) इस वाक्यमें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंकी सम्मति है, इसलिये यह अनुवाद है। 'धूम एवाग्ने-र्दिवा ददृशे नार्चिः' (दिनमें आगका धुआँ ही देखा गया है, उसकी ज्वाला नहीं) इस वाक्यमें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंका विरोध है इसलिये यह औपचारिक प्रयोग है। 'वज्रहस्तः पुरन्दरः' इत्यादि वाक्योंमें अन्य प्रमाणोंका संवाद या विरोध कुछ भी नहीं है तथा उनमें स्वतःप्रमाणता है, इसलिये वे वाक्य स्वार्थमें प्रमाणभूत हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विरोधे दुस्तरदुरितक्षयोद्देशेन नामसंकीर्त्तनमात्रं विधातुमशक्नुवन्ति पुराणवचनानि भजनीयदेवतास्तावकत्वमेवाश्रयन्ते; यस्याः सकृत्कीर्त्तनमप्येतादृक्, सा पुनराप्रायणमुपासिता किं न करोतीति ? तस्मादविवक्षितार्थत्वमेवैषामिति ।

उत्तरपक्षः—पुराणानामपि स्वार्थे प्रामाण्यम्

अत्राभिधीयते—यथा कार्य्ये सिद्धे च वेदस्य प्रामाण्यमविशिष्टं तथा पुराणानामपि, सर्वेषु पुराणेषु वर्णाश्रमधर्माणां प्रबन्धेन प्रतिपादनात्; श्रीमद्भागवते तावत्—

वाक्योंसे विरोध पड़नेपर पुराणोंके वाक्य दुस्तर पापोंके क्षयके उद्देश्यसे नामसंकीर्तनमात्रका विधान नहीं कर सकते, ऐसी दशामें वे पौराणिक वचन भजनीय देवताकी स्तुतिमें तात्पर्य रखते हैं। उनका तात्पर्य यों है—'जिस देवताके एक बार नाम-कीर्तनका ऐसा फल है उसकी यदि आजीवन उपासना की जाय तो वह क्या नहीं कर सकता ?'। अतः सारांश यह हुआ कि इन पौराणिक वचनोंका मुख्य अर्थ विवक्षित नहीं है।

अब यहाँ हमें यह कहना है—जैसे कार्य और सिद्ध अर्थमें वेद समानरूपसे प्रमाण हैं, उसी प्रकार पुराण भी हैं; क्योंकि सभी पुराणोंमें वर्णाश्रमधर्मोंका विस्तारके साथ प्रतिपादन किया गया है। जैसे श्रीमद्भागवतमें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ॥

इति पुराणस्य त्रिकाण्डरूपत्वप्रतिपादनात्; श्रीमहाभारते च—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥

"महामुनि व्यासके वनाये हुए इस श्रीमद्भागवतमें मत्सरहीन (सरल स्वभाववाले) साधु पुरुषोंका कैतवरहित (निष्कपट) उत्तम धर्म वतलाया गया है; साथ ही, [आध्यात्मिक आदि] तीनों तापोंके नाशक, कल्याणप्रद एवं जाननेयोग्य पारमार्थिक तत्त्व (परमात्मा) का भी निरूपण है। अन्य ग्रन्थोंके श्रवणसे क्या लाभ? इस भागवतके श्रवणकी इच्छा करनेमात्रसे पुण्यवान् पुरुष तत्काल ही अपने हृदयमें ईश्वरको अवरुद्ध (स्थापित) कर लेते हैं।"

इस प्रकार पुराणको त्रिकाण्ड (ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड) रूप कहा है। तथा श्रीमहाभारतमें—

"हे भरतश्रेष्ठ! धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ इस ग्रन्थमें कहा गया है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह कहीं भी नहीं है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति धर्म्मब्रह्मणोरविशेषेण प्रतिपाद्यत्वप्रतिज्ञानात्, प्रतिपादनाच्च। भविष्योत्तरमत्स्यपुराणादिषु च धर्म्मप्रतिपादनसौभाग्यस्यैव भूयस्त्वाच्च नातिशङ्कनीयमेव धर्म्मे प्रामाण्यं पुराणानाम्। तत्र यथा काण्डभेदेन नानार्थत्वमविरुद्धं वेदानाम्, तथा पुराणानामपि भविष्यति।

अथ पुष्कराक्षसिद्धान्ततात्पर्यालोचनया वेदा ब्रह्मात्मविषया एव;

ब्रह्मात्मविषया वेदास्त्रिकाण्डविषया इमे।

इस प्रकार धर्म तथा ब्रह्मके समानरूपसे प्रतिपाद्य होनेकी प्रतिज्ञा की गयी है और उन्हींका प्रतिपादन हुआ है। तथा भविष्योत्तर एवं मत्स्यपुराण आदिमें धर्मके प्रतिपादनका सौभाग्य ही अधिक मात्रामें है; अतः धर्मके विषयमें पुराणोंके प्रमाणभूत होनेमें सन्देह ही नहीं करना चाहिये। जिस प्रकार काण्डभेदसे वेदोंका नानार्थक होना विरुद्ध नहीं माना जाता उसी प्रकार पुराणोंकी नानार्थता भी विरुद्ध नहीं होगी।

यदि कहें, पुष्कराक्षके सिद्धान्तभूत तात्पर्यकी पर्यालोचना (विचार) करनेसे सभी वेद ब्रह्मात्मविषयक ही हैं; तथा—

"ज्ञान, कर्म और उपासनारूप तीन काण्ड जिनके विषय हैं, वे वेद ब्रह्मात्मविषयक* हैं [अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्माका निरूपण ही वेदोंका विषय है]। ऋषि (वेद)

---

* जिस प्रकार 'तुम विष खा लो [पर उस मनुष्यके घर न खाओ]' इस वाक्यका व्यञ्जनावृत्तिके द्वारा शत्रुके घर भोजन न करनेमें ही तात्पर्य है, न कि विष खा लेनेमें; उसी तरह कर्मपरक और उपासनापरक वाक्योंका भी ब्रह्मात्मवादमें ही तात्पर्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रियम् ॥
परोक्षवादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् ।
कर्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा ॥

इत्यादिशास्त्रपर्य्यालोचनया च त्रिकाण्डस्यैकवाक्यत्वं वेदेषु; एवं पुराणेष्वपि । ततश्च यस्माद्वाक्याद्योऽर्थः स्वरसतोऽवगम्यते सिद्धः कार्य्यो वा तत्र तत्प्रमाणमेव पुराणवचनमिति ।

पुराणानामर्थवादत्वनिरासः

ननु भवतु च धर्म्मेऽपि तात्पर्य्यं पुराणानाम्; नामकीर्त्तनविषयाणां पुनः पौराणार्थवादानां स्मार्त्तप्रायश्चित्तविधिविरोधे प्रामाण्यन्न युज्यते ।

परोक्षवादी (गूढार्थवादी) हैं और मुझे परोक्ष ही प्रिय है । विधि-निषेधरूप यह वेद अज्ञजनोंके लिये परोक्षवाद है; यह [रोगसे मुक्त होनेके लिये औषधकी भाँति] कर्मजन्य भव-बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये ही कर्मका विधान करता है ।"

इत्यादि शास्त्रोंकी आलोचनासे यदि वेदोंमें तीनों काण्डों-की एकवाक्यता सिद्ध होती है, तो यही बात पुराणोंके विषयमें भी कही जा सकती है । इस कारण जिस वाक्यसे जो सिद्ध (परमात्मा) या कार्य (उपासना) रूप अर्थ स्वरसतः प्रतीत होता है उसमें वह पुराणोंका वचन प्रमाण ही है ।

शङ्का—धर्ममें भी पुराणोंका तात्पर्य रहे, परन्तु मन्वादि-स्मृतियोंमें बतलाये हुए प्रायश्चित्त-विधिसे विरोध होनेपर तो नामकीर्तनविषयक पौराणिक अर्थवादोंको प्रमाण मानना उचित नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इयमविदितमीमांसावृत्तान्तानां विभीषिका; तथा हि—किमिदमर्थवादत्वम्? अविधित्वं विधिशेषत्वं वातत्परत्वं विधित्वस्य प्रत्याख्यानम् वा? यदि तावदविधित्वं तत्; किं लिङादिप्रत्ययविरहात्? तद्वाच्यविरहाद् वा? न तावल्लिङादिप्रत्ययविरहात्, "पूषा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादीनामप्यविधित्वप्रसङ्गात्।

समाधान—जो मीमांसाकी बातें न जानते हों उनके लिये यह भय दिखाना सफल हो सकता है। भला यह अर्थवाद किस प्रकारका है? विधि-वाक्य न होना या विधिका अंग होना अथवा विधिपरक न होना—इनमेंसे कौन-सा अर्थवाद यहाँ है? यदि कहो, यहाँ विधि-वाक्य न होना ही अर्थवाद है तो यह प्रश्न उठता है कि क्या लिङादि प्रत्ययका प्रयोग न होनेसे ही वह विधि-वाक्य नहीं है? या लिङ्वाच्य कार्यका विरह होनेके कारण? यदि कहो कि लिङादि प्रत्ययका प्रयोग न होनेसे ही वह विधि-वाक्य नहीं है, तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि—

"पूषा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" ॥

इत्यादि वचनोंके भी विधि-वाक्य न होनेका प्रसंग उपस्थित होगा*।

---

* क्योंकि यहाँ विधि या आज्ञासूचक 'लिङ्', 'लोट्' आदि लकारोंकी क्रिया नहीं प्रयुक्त हुई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु तत्र लिङादिप्रत्ययविरहेऽपि तद्वाच्यमस्ति, कालत्रयानवच्छिन्नेन द्रव्यदेवतासम्बन्धेन यागविधिपरिकल्पनात्, इह तु न तदस्तीत्यविधित्वम् ।

तदयुक्तम्, इहापि—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।

इत्यादौ कालत्रयानवच्छिन्नेन साध्यसाधनसम्बन्धेन विधेः कल्पनात् । अथ—

शङ्का—वहाँ तो लिङादि प्रत्यय न होनेपर भी उस (लिङ्) का वाच्य [यजनरूप कार्य] है ही, क्योंकि तीनों कालोंके* संसर्गसे रहित [पिष्ट और पुरोडाश] द्रव्य तथा [पूषा और अग्नि] देवताका संबन्ध होनेके कारण [पूषदेवताकेन प्रपिष्टेन यजेत, अग्निदेवताकेन अष्टाकपालेन यजेत—इस प्रकार] यज्ञ-विधिकी कल्पना की जा सकती है। किन्तु नामकीर्तन-वाक्यमें तो वह विधान है नहीं, अतः वह विधि-वाक्य नहीं है।

समाधान—यह कथन अयुक्त है; क्योंकि—

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् । †

—इत्यादि नाम-कीर्तन-वाक्यमें भी तीनों कालोंके संपर्कसे रहित साध्य-साधन-सम्बन्धसे विधिकी कल्पना हो सकती है। [यहाँ कीर्तन साधन है और पापक्षय साध्य है]। यदि कहो कि—

---

* जहाँ किसी भूत आदि कालविशेषका संबन्ध होता है, वहाँ ही विधिकी संभावना नहीं रहती; यहाँ कालविशेषका संबन्ध नहीं है; अतः विधिकी कल्पना हो सकती है।

† [पाप करनेपर जिसको पश्चात्ताप होता है] उसके लिये एक बार भगवान्का स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित्त है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।

इत्यादौ वर्तमानापदेशादविधित्वम्? तर्हि "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादीनामप्यविधित्वप्रसङ्गः । अथ तत्रापूर्वत्वाल्लकारपरिणामेन पञ्चमलकाराश्रयणेन वा विधित्वम्, इहापि तथैव भविष्यति ।

अथ विधिशेषत्वम्; कोऽसौ विधिर्यच्छेषत्वमेषाम्? किं नामकीर्तन-

हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम् ।*

इत्यादि वचनमें वर्तमान कालका व्यवहार होनेसे वह विधिवाक्य नहीं है, तो—

"तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।"†

"अग्निहोत्रं जुहोति ।" ‡

—इत्यादि वैदिक वचनोंमें भी [वर्तमान कालका संबन्ध होनेसे] अविधित्वकी आपत्ति हो सकती है। यदि अपूर्व विधान, लकार-विपरिणाम (लिङ्के अर्थमें लट्का प्रयोग होने) अथवा पञ्चम (लेट्) लकारका आश्रय लेनेसे उनमें विधित्व है तो यहाँ (नाम-कीर्तन-वाक्यमें) भी उसी प्रकार होगा।

यदि यहाँ किसी विधिका शेष (अङ्ग) होनारूप अर्थवाद मानें तो यह प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी विधि है जिसके अङ्गभूत ये नाम-कीर्तन-वाक्य हैं ? क्या वह विधि

---

* विवश होकर भी जो 'हरि' इस नामका उच्चारण करता है वह यम-यातना नहीं भोगता ।'

† 'जो अश्वमेधसे यजन करता है वह ब्रह्महत्याको पार कर जाता है ।'

‡ 'अग्निहोत्र करता है ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधिशेषत्वनिरासः

विषयः ? अन्यो वा ? न तावदन्यः, अन्यस्य विधेरसन्निधानात्, नामसंकीर्त्तनस्यैव स्वातन्त्र्येणोपसंहाराच्च। अथ नामकीर्त्तनविषय एव; तर्हि तस्य नियोज्यविशेषणान्तराश्रवणादन्यस्य कथंभावे वाश्रवणादार्थवादिकं पापनिर्हरणमेव

नामकीर्तन-विषयक है ? अथवा कोई अन्य ? अन्य विधि तो हो नहीं सकती; क्योंकि [पुराणोंमें जहाँ नामकीर्तनका विधान है वहाँ] दूसरी कोई विधि निकट है ही नहीं और नामकीर्तनका ही स्वतन्त्रतापूर्वक (अन्य विधिकी अपेक्षा न रखते हुए) उपसंहार किया गया है। यदि वह नाम-कीर्तनविषयक ही विधि है तो उसका [पापक्षयके अतिरिक्त] कोई दूसरा नियोज्य-विशेषण* नहीं सुना जाता है, इस कारणसे अथवा किसी अन्य यागादिके साधन-सहकारी अङ्गोंमें † उसका श्रवण नहीं

---

* विधिको नियोग कहते हैं, प्रत्येक नियोगको नियोज्यकी आकाङ्क्षा होती है, नियोगमें नियुक्त होनेवाला पुरुष ही नियोज्य है और किसी फलकी कामना ही उसका विशेषण है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादिमें स्वर्गादिकी कामना ही नियोज्य-विशेषण है। यहाँ जिस प्रकार 'स्वर्गकामः' इस नियोज्यका श्रवण होता है वैसा नामकीर्तनवाक्यमें नहीं होता है। और बिना नियोज्यके वह विधि नहीं हो सकता; अतः अर्थवादसे उपस्थित पापक्षयकी कामना ही नियोज्यका विशेषण मान ली जाती है। इस प्रकार पापक्षयकी कामनावाले पुरुषको वहाँ नियोज्य समझना चाहिये।

† यहाँ यह शङ्का होती है कि प्रयाज आदि विधियोंमें तो कोई नियोज्य नहीं है, उन्हींके समान नामकीर्तनविधि भी बिना नियोज्यके ही रहे, यदि अर्थवादसे उपस्थित नियोज्यकी कल्पना की जाय तो प्रयाजादि विधियोंके लिये

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियोज्यविशेषणत्वेन सम्बध्यते रात्रिसत्रन्यायेन। ततश्च कार्य्यान्वयान्न विधिशेषत्वम्, प्रतिपत्तिमात्रान्वयिनो हि विधिशेषाः।

होता है इसलिये रात्रिसत्र* न्यायके अनुसार अर्थवादोपस्थित पापक्षयको ही यहाँ नियोज्यके विशेषणरूपसे संबद्ध कर लिया जाता है; अतः नामकीर्तनवाक्य कार्यान्वयी (स्वतन्त्र-रूपसे विधिमें तात्पर्य रखनेवाला) होनेके कारण विधिशेष नहीं है, क्योंकि विधिशेष तो अपनेसे अन्य विधि [की प्रशंसामात्र] के बोधनमें ही तात्पर्य रखते हैं।

जो 'वर्म भ्रातृव्याभिभूत्यै (यह भतीजोंका पराभव करनेके लिये कवच है)' ऐसा अर्थवाद किया गया है उसके ही आधारपर 'भ्रातृव्याभिभूतिकामः प्रयाजं कुर्यात् (भतीजोंके पराभवकी कामनावाला प्रयाज करे)' इस प्रकार वहाँ भी नियोज्य-की कल्पना हो सकती है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—अन्य ... ...के ... अङ्गोंमें इत्यादि। प्रयाज आदि विधियाँ तो दर्श-पूर्णमासके अङ्ग हैं; अतः दर्श आदि-का जो नियोज्य है वही इनका भी होगा; इसलिये इनके स्वतन्त्र नियोज्यकी कल्पना नहीं की जाती। परन्तु नामकीर्तनविधि तो किसीका अङ्ग है नहीं; अतः अर्थ-वादोपस्थित पापक्षयकी कामनावाला पुरुष उसका स्वतन्त्र नियोज्य माना जाता है।

* रात्रिसत्रन्यायका स्पष्टीकरण यों है—पूर्वमीमांसादर्शनके अध्याय ४ पाद ३ अधिकरण ८ में—'प्रतितिष्ठन्ति ह वै य एता रात्रीरुपयन्ति (जो इन रात्रियोंका आश्रय लेते हैं अर्थात् रात्रि-यज्ञ करते हैं वे प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं)' इस रात्रि-सत्र-बोधक वाक्यमें 'प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं' इतना अंश यद्यपि अर्थवाद है, तथापि यहाँ इसके अतिरिक्त किसी अन्य फलका निर्देश नहीं किया गया है; अतः अर्थवादसे उपस्थित प्रतिष्ठाको ही रात्रिसत्रका फल माना गया है और उस प्रतिष्ठाकी कामनावाला पुरुष ही उसका नियोज्य है—ऐसा सिद्धान्त निश्चित किया गया है। इसी प्रकार नामकीर्तनका भी कोई दूसरा नियोज्य-विशेषण नहीं सुना जाता है, इसलिये अर्थवादोपस्थित पापक्षयको ही उसका फल और उसकी कामनावालेको ही नियोज्य निश्चित किया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर्णतान्यायेन फल-श्रुतेरर्थवादत्वमाशङ्क्य तन्निरासः

ननु प्रदेशान्तरस्थितमपि नामसंकीर्तनं प्रदेशान्तरस्थस्यापि "विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय" इत्यादेः क्रतुविधेरङ्गमुपासनाविधेर्वा; तदव्यभिचारि-विष्ण्वाख्यदेवतासम्बन्धमुखेन, पर्णमयीत्ववत् । ततश्च "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति" इत्यादिफलश्रुतेरिव पापक्षयफलश्रुतेरप्यर्थवादत्वम्, परार्थत्वात् ।

शङ्का—[नाम-कीर्तन किसी अन्य विधिका अंग नहीं है यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि] यद्यपि नामसंकीर्तन-वाक्य अन्य प्रकरणमें है तथापि वह अपनेसे भिन्नदेशवर्ती 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय (जामित्व (गरिष्ठता या आलस्य) दोषसे बचनेके लिये विष्णुका उपांशुनामक यजन करना चाहिये)' इस यज्ञ-विधि या इससे भिन्न किसी उपासनाविधिका अङ्ग हो सकता है; क्योंकि इससे कभी विलग न होनेवाले विष्णुदेवताका उस नामकीर्तनसे संबन्ध है [अर्थात् 'हरिरित्यवशेनाह' इत्यादि कीर्तनवाक्यसे संबन्ध रखनेवाले भगवान् विष्णुके ही यजनका इस मन्त्रद्वारा विधान किया गया है; अतः वह इसका अङ्ग हो सकता है।] जैसे यज्ञसे कभी अलग न होनेवाली जुहू(यज्ञपात्र-विशेष) से संबन्ध रखनेके कारण पलाश भी यज्ञका अङ्ग माना जाता है और इस प्रकार अन्यका अङ्ग होनेसे "जिसकी पलाशकी जुहू होती है वह पापमय यशका कभी श्रवण नहीं करता [अर्थात् कभी उसकी अकीर्ति नहीं होती]" इत्यादि फलश्रुति जैसे अर्थ-वाद मानी गयी है उसी प्रकार पापक्षयरूप फलश्रुति भी परार्थ (विधि-शेष) होनेके कारण अर्थवाद ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्; परार्थत्वासिद्धेः,

ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥

इति ध्यानयज्ञार्चनकार्य्ये युगभेदेन कीर्तनस्य व्यवस्थापितत्वात्।

नन्वस्यार्थवादत्वात् कथं तद्बलेन पर्णमयीन्यायप्रतिक्षेपः?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि उसकी परार्थता सिद्ध नहीं होती। [कारण यह है कि—]

"सत्ययुगमें [भगवान्‌का] ध्यान, त्रेतामें यज्ञोंद्वारा यजन और द्वापरमें पूजन करता हुआ पुरुष जो फल प्राप्त करता है उसीको कलियुगमें भगवान्‌का कीर्तन करके ही पा लेता है।"

—इत्यादिरूपसे ध्यान, यज्ञ और अर्चनकी जगह युगभेदसे कीर्तनकी व्यवस्था की गयी है। [यदि कीर्तन परार्थ होता तो यज्ञादिविधिके स्थानमें उसका स्वतन्त्र विधान नहीं होता]।

शङ्का—यह ('ध्यायन् कृते' इत्यादि) वचन तो अर्थवाद है, इसके बलसे पर्णमयीन्याय* की प्रवृत्तिका निवारण कैसे हो सकता है?

---

* 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति (जिसकी पलाशकी बनी हुई जुहू है वह कभी पापमय यशका श्रवण नहीं करता)'—यह फलश्रुति यज्ञका अङ्ग होनेके कारण अर्थवाद है, यही पर्णमयीन्याय है। इसीके अनुसार जो भी फलश्रुति किसी अन्य विधिकी अङ्गभूत हो वह अर्थवाद समझी जाती है—ऐसे ही स्थलोंपर इसकी प्रवृत्ति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—फलांशस्तावदास्ताम्, ध्यानयज्ञार्चनानां युगभेदेन व्यवस्थया श्रेयोहेतुत्वानुवाद एवार्थवादत्वे नावकल्पते, स्तुतावनुपयोगात्, स्तुतिर्हि न देशकालव्यवस्थामवलम्बते; अपि त्वदेशकालेऽपि स्तुत्यर्थस्य पुरुषार्थत्वम् ।

ननु न कीर्तनमिह स्तूयते, अपि तु कलिः, युगान्तरेषु महता प्रयासेन यत्साध्यते तत्कलावल्पेनेति ।

समाधान—बतलाते हैं [सुनो—यदाप्नोति तदाप्नोति (ध्यानादिसे जो फल मिलता है उसीको नाम-कीर्तनसे प्राप्त कर लेता है)] यह फलका अंश अर्थवाद रहे, परन्तु ध्यान, यज्ञ और अर्चनकी युगभेदसे व्यवस्था करके उनके कल्याण-जनक होनेका अनुवाद तो कदापि अर्थवाद नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उस (व्यवस्था) का स्तुतिमें कोई उपयोग नहीं है। स्तुति भिन्न-भिन्न देश-कालकी व्यवस्थाका आश्रय नहीं लेती, अपि तु देश-कालकी व्यवस्था न रहते हुए भी पुरुषके लिये स्तुति हो सकती है। [अतः अपूर्व होनेके कारण इस वाक्यमें व्यवस्थाका ही विधान है, यह किसी अन्य विधिका अङ्ग नहीं है; इसलिये पर्णमयीन्यायकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती ।]

शङ्का—[मेरे विचारसे तो] यहाँ कीर्तनकी नहीं अपि तु कलिकी स्तुति की गयी है, अन्य युगोंमें जिस फलको महान् प्रयाससे प्राप्त किया जाता है उसीको कलियुगमें थोड़े ही प्रयत्नसे पाया जा सकता है [अतः न तो यहाँ पर्णमयीन्यायकी प्राप्ति है और न व्यवस्थाका ही विधान है ।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

‘ध्यायन् कृते’ इत्यादीनामर्थवादत्व-निरासः

एवमपि कृतादिषु ध्यानादीनां व्यवस्था नोच्यते, किं तु यत् कृतादिषु ध्यानयज्ञार्चनैराप्नोति तत्कलौ कीर्तनेनैवेति वक्तव्यम्; न च तथोच्यते, उत्तरोत्तरयुगोत्कर्षमुखेन प्रतिपादने कलेः सर्वोत्कर्षविवक्षायां विरम्य व्यापारः प्रसज्जेत, तस्मान्न स्तुतिपरमिदम्, अपि तु फलपरमिति ।

समाधान—ऐसा माननेपर भी कृतादि युगोंमें ध्यानादिकी व्यवस्थाका वर्णन नहीं किया जाता, अपि तु इतना ही कहना चाहिये कि कृतादि युगोंमें ध्यान, यज्ञ और अर्चनसे जो फल प्राप्त होता है वह कलियुगमें कीर्तनमात्रसे ही मिल जाता है, परन्तु ऐसा तो कहते नहीं हैं [इस वाक्यसे तो सत्यादि युगोंमें ध्यान आदिकी व्यवस्था भी करते हैं]। यदि [सत्ययुगमें ध्यानसे जिस श्रेयको प्राप्त करता है उसीको त्रेतामें यज्ञ करके पा जाता है, त्रेतामें यज्ञ करके जिसे पाता है उसीको द्वापरमें पूजासे ही पा लेता है—इस प्रकार] उत्तरोत्तर युगोंके उत्कर्षका हो प्रतिपादन यहाँ प्रधान माना जाय तो कलिके सर्वोत्कृष्ट होनेकी विवक्षा होनेपर एक बार विरत होकर पुनः व्यापार करनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा *। इसलिये यह (‘ध्यायन् कृते’ इत्यादि) वचन स्तुतिपरक (अर्थवाद) नहीं अपि तु फलपरक है [अर्थात् फलसाधक व्यवस्थाका विधान करनेमें ही तात्पर्य रखता है ।]

---

* क्योंकि ‘शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः’ इस न्यायके अनुसार जब शब्द एक बार अर्थबोधका व्यापार करके निवृत्त हो जाता है तो पुनः उसीके लिये व्यापार नहीं करता, यह नियम है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु व्यवस्थावाक्यं तावदास्ताम्, इतरेषां पुनः पर्णमयीन्यायेनार्थवादत्वं भविष्यति, ततश्च व्यवस्थावाक्यस्यापि कीर्त्तनविषयत्वादर्थवादत्वमेव भविष्यति।

नैवम्; सिद्धे व्यवस्थावाक्यस्यार्थवादत्वे पर्णमयीन्यायावतारः, अवतीर्णे पर्णमयीन्याये च तेषामर्थवादत्वम्; अर्थवादत्वे च तेषां व्यवस्थावाक्यस्य चार्थवादत्वमिति चक्रकप्रसङ्गात्।

चक्रकापत्त्या पर्णतान्यायाप्रवृत्तिः

शङ्का—यह व्यवस्थावाक्य अभी अलग रहे, 'हरिरित्यवशेनाह······' इत्यादि अन्य वचन तो [पूर्व कथनानुसार कीर्तनीय देवतासे संबन्ध रखनेवाले यज्ञका अङ्ग होनेके कारण] पर्णमयीन्यायसे अर्थवाद होंगे ही; [इस प्रकार जब कीर्तन-वाक्य अर्थवाद सिद्ध हो जायगा तो] फिर व्यवस्थावाक्य भी कीर्तन-विषयक होनेके कारण अर्थवाद हो ही जायगा।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि व्यवस्थावाक्यके अर्थवाद सिद्ध होनेपर ही पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है* पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति होनेपर 'हरिरित्यवशेनाह···' इत्यादि अन्य वचन अर्थवाद सिद्ध होंगे और उनके अर्थवाद सिद्ध हो जानेपर व्यवस्थावाक्य अर्थवाद

---

* 'ध्यायन् कृते' इत्यादि व्यवस्थावाक्य नामकीर्तनमात्रको स्वतन्त्र विधि सिद्ध करता है; क्योंकि यज्ञादिके स्थानमें युगभेदसे वह कीर्तनकी व्यवस्था करता है, कीर्तनको किसी अन्य विधिका अङ्ग नहीं बतलाता, ऐसी दशामें कीर्तन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युक्त्यन्तरदर्शनम्

अपि च वैष्णवेषु यागेषु विष्णोः स्वरूपेण न देवतात्वम्, अपि तु विष्णुशब्दानुविद्धतया, तत्संजल्पितस्यैव तस्य तत्रोद्देश्यतया विधानात्। अत एव हि तेनैव शब्देनोद्देशः; न शब्दान्तरेण; "विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्" इत्यादौ देवताभेदोऽपि। कीर्तने तु न विष्णुशब्दानुविद्धस्यैव तस्य विषयत्वम्, नामान्तराणामपि तत्र विनियोगात्; ततश्च—

होगा—इस प्रकार चक्रकदोषकी* आपत्ति होती है।

इसके अतिरिक्त विष्णु-संबन्धी यज्ञोंमें विष्णु स्वरूपसे देवता नहीं हैं, अपि तु विष्णुशब्दसे संकेत किये जानेके कारण विष्णुनामसे उक्त विष्णुका ही वहाँ उद्देश्यरूपसे विधान है। अतः विष्णुशब्दसे ही वहाँ उच्चारण होता है, शब्दान्तरसे नहीं, इसीलिये "विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम्" इत्यादि मन्त्रोंमें [शब्दान्तरसे उच्चारण किये जानेके कारण शिपिविष्ट और विष्णुमें मीमांसकोंने] देवता-भेद भी माना है। परन्तु कीर्तनमें तो विष्णुशब्दसे कहे जानेवाले विष्णुके ही ग्रहण होनेका नियम नहीं है; क्योंकि वहाँ अन्य नामोंका भी विनियोग किया गया है; अतः—

परार्थ नहीं सिद्ध होता, और परार्थ हुए बिना पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि परार्थता ही उसकी प्रवृत्तिका हेतु है; इसलिये कीर्तन-विषयक वचन अर्थवाद नहीं हो सकते। यदि किसी प्रकार व्यवस्थावाक्य अर्थवाद माना जा सके, तभी वह पर्णमयीन्यायका बाध नहीं कर सकेगा, इसी आशयसे कहते हैं कि व्यवस्थावाक्यके अर्थवाद सिद्ध होनेपर ही पर्णमयीन्यायकी प्रवृत्ति हो सकती है।

* जहाँ दोसे अधिक कार्य परस्पर अवलम्बित हों वहाँ चक्रकदोष होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।

इत्यादेः पदार्थसम्बन्धमुखेनापि क्रतौ नानुप्रवेशः, अतो न स्तुतिपरत्वं फलश्रुतेरिति।

फलपरत्वसंभावनायामर्थवादत्वायोगः

अपि च संभवति फलपरत्वे न स्तुतिपरत्वं युक्तम्, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्यय इति न्यायात्। पर्णमयीवाक्ये हि पर्णमयीत्वस्य द्रव्यस्य क्रियामनाश्रित्य फलसाधनत्वानुपपत्तेः, प्रदेशान्तरवर्तिनीं च

"भगवान् वैकुण्ठ (विष्णु) के नामोच्चारणको सब पापोंका नाशक मानते हैं।"

—इत्यादि वाक्यका क्रतु-संबन्धी पदार्थ (देवता)के संबन्धसे भी क्रतु (यज्ञ)में प्रवेश नहीं हो सकता। इसलिये [पापक्षयरूप] फलश्रुति स्तुतिपरक (अर्थवाद) नहीं है।

इसके सिवा यदि वाक्यके फलपरक (विधायक) होनेकी संभावना हो तो उसे स्तुतिपरक (अर्थवाद) मानना ठीक भी नहीं है; क्योंकि गौण और मुख्य दोनोंमें संभव होनेपर मुख्यमें ही कार्यकी प्रतीति होती है—ऐसा न्याय है। [यदि कहो कि इस न्यायके अनुसार तो 'यस्य पर्णमयी जुहूः...' इस फलश्रुतिको भी अर्थवाद न मानकर फलपरक ही मानना चाहिये, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि—] 'यस्य पर्णमयी जुहूः...' इस वाक्यमें पर्णमयीत्वरूप द्रव्य क्रियाका आश्रय लिये विना फलसाधक नहीं हो सकता [कारण यह है कि क्रिया ही फलकी साधिका होती है द्रव्य नहीं। यदि कहो कि 'दध्ना जुहोति' इत्यादिमें होमक्रियाके आश्रयसे जिस प्रकार दही फलका साधक होता है वैसे ही यज्ञ-क्रियाके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्रियामप्राप्तामाश्रित्य विधानायोगात्। क्रियासम्बन्धे फलसम्बन्धे च विधेये वाक्यभेदप्रसंगात् क्रतुविधिशेषत्वमेव विधीयते; ततश्च फलश्रुतेरर्थवादत्वम्। इह पुनः संकीर्तनस्य क्रियात्वात्, तस्याश्च स्वतः फलसाधनत्वोपपत्तेः फलार्थमेव विधानम् "पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" इति न्यायेन। तस्माद्यथार्थवादा एताः फलश्रुतयो न गुणवादा इति।

आश्रयसे पलाशरूप द्रव्य भी फलसाधक होगा, तो ठीक नहीं; क्योंकि] अन्य प्रकरणमें स्थित और अप्राप्त [यजनरूप] क्रियाका आश्रय लेकर[1] विधान करना युक्तिसंगत नहीं है। यदि ['यस्य पर्णमयी जुहूः' इस वाक्यसे] क्रिया-संबन्ध और फल[2]-संबन्ध—दोनोंका विधान माना जाय तो वाक्य-भेदका प्रसंग आ जायगा [अर्थात् दो वाक्य करने पड़ेंगे] इसलिये उक्त फलश्रुतिका यज्ञ-विधिके अङ्गरूपसे ही विधान किया जाता है, और इसीलिये (यज्ञ-विधिका अंग होनेके कारण ही) यहाँ फलश्रुति अर्थवादरूप है। परन्तु इस कीर्तन-वाक्यमें संकीर्तन क्रियारूप ही है, और क्रियाका फल-साधक होना स्वतः सिद्ध है; अतः "पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" इस न्यायके* अनुसार फलके उद्देश्यसे ही उसका विधान किया गया है। इसलिये नाम-कीर्तन-वाक्योंकी फलश्रुतियाँ यथार्थवाद ही हैं, गुणवाद (अर्थवाद) नहीं।

---

१. अन्य प्रकरणमें स्थित क्रियाका आश्रय लेना।

२. अकीर्ति-निवारणरूप फलका साधक होना।

* यह न्याय उदीच्य मीमांसाका "तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्" (३।३।४२) यह सूत्र है—इसमें—"ओमित्येतदक्षर-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथातत्परत्वम्, तदपि स्वार्थपरत्वे बाधकभावात्? साधकाभावाद्वा? न तावद्बाधकभावाद्, अर्थान्तरपरत्वमेव हि तस्य बाधकम्, तदिह नास्तीत्यवोचाम। नापि साधकाभावात्, अध्ययनविधेरेव साधकत्वात्;

अतत्परत्वस्य निराकरणम्

यदि कहें, नाम-कीर्तन-वाक्य विधिपरक नहीं हैं, [इसलिये वे अर्थवाद हैं] तो भी यह बतलाना चाहिये कि उनके स्वार्थपरक होनेमें कोई बाधक है या साधकका अभाव है ? [जिसके कारण उन्हें विधिपरक न माना जाय।] कोई बाधक होनेके कारण तो ऐसा है नहीं; क्योंकि [स्वार्थपरक न होकर] अन्य अर्थका प्रतिपादक होना ही स्वार्थपरताका बाधक होता है, सो यहाँ नहीं है—ऐसा हम पहले ही कह चुके हैं*। साधकका अभाव होनेके कारण भी ऐसा नहीं है;

मुद्गीथमुपासीत" इत्यादि मन्त्रोंमें निर्दिष्ट जो उद्गीथोपासनादि विधियाँ हैं वे क्रतुसे संबन्ध रखनेवाले उद्गीथद्वारा क्रतुकी अङ्गभूत ही तो नहीं हैं ? जैसे कि जुहूके संबन्धसे पलाश भी क्रतुका अङ्ग होता है—इस शङ्काका निराकरण करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। इसका अर्थ यों है—तन्निर्द्धारणानियमः—'उद्गीथोपासनादि विधियाँ क्रतुकी अङ्गभूत हैं, ऐसा निश्चय करनेका नियम नहीं है; क्योंकि तद्दृष्टेः—नियम न होना ही देखा गया है [कहाँ ? सो दिखलाते हैं—"तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद" (जो इस अक्षरकी इस प्रकार उपासना करता है और जो नहीं करता— दोनों ही कर्म करते हैं) इस छान्दोग्यश्रुतिमें उपासनारहित क्रतुका प्रयोग भी देखा जाता है। तो उद्गीथोपासनादिका विधान ही क्यों हुआ ? इसपर कहते हैं—] पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम्—उनका पृथक् (स्वतन्त्र) अप्रतिबन्ध—कर्मफलकी समृद्धि फल है, जैसा कि श्रुति कहती है—तदेव वीर्यवत्तरं भवति। तात्पर्य यह है कि वे विधियाँ क्रियारूप होनेके कारण स्वतन्त्र फलकी साधनभूत हैं। इसी न्यायके अनुसार कीर्तन भी क्रियारूप होनेके कारण स्वतन्त्ररूपसे फलका साधक है।

* यदि कीर्तनवाक्य 'यस्य पर्णमयी जुहूः'—इस वाक्यके समान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स हि प्रयोजनशून्यमक्षरमात्रमपि न ग्राहयति, अत एव कुत्रचिदेकत्र तात्पर्य्यमागृह्णाति;तत्रान्यपरत्वस्य पराकृतत्वात् स्वार्थपरत्वं परिशिष्यते।

अपि च,उपक्रमोपसंहारयोरेकरूपत्वं पौनःपुन्यमनधिगतत्वमर्थवत्त्वमुपपत्तिः प्रशंसा चेति षड्विधानि तात्पर्य्यलिङ्गानि, तानि चाजा-

---

क्योंकि अध्ययन-विधि ही यहाँ साधक है और वह प्रयोजनरहित एक अक्षरका भी अध्येतव्यरूपसे ग्रहण नहीं कराती है, अतएव वह [अन्यत्र या स्वार्थमें] कहीं एक जगह अपना तात्पर्य रखती ही है। उनमेंसे अन्य अर्थमें तात्पर्य होनेका खण्डन किया जा चुका है; अतः अब उसका स्वार्थमें ही तात्पर्य होना शेष रह जाता है।

इसके अतिरिक्त उपक्रम और उपसंहारकी एकता, पौनःपुन्य (अभ्यास), अनधिगतत्व (अपूर्वता), अर्थवत्त्व (फलयुक्त होना), उपपत्ति (युक्ति) और प्रशंसा—ये छः प्रकारके तात्पर्य-ग्राहक लिङ्ग* हैं, इनकी अजामिल-उपाख्यानादि स्थलोंमें

स्तुतिपरक होता और पापक्षयरूप फलके उद्देश्यसे किसी अन्य यागादिका अङ्ग होता तो उसके स्वार्थपरक होनेमें बाधा आ सकती थी। परन्तु उसके स्तुतिपरक होनेका खण्डन कर चुके हैं तथा यह भी बता चुके हैं कि युग-भेदसे यागादिके स्थानमें स्वतन्त्ररूपसे कीर्तनकी व्यवस्था है; अतः वह यागादिका अङ्ग नहीं है। इसलिये कीर्तनके स्वार्थपरक होनेमें कोई बाधक नहीं है।

* इन लिङ्गोंके द्वारा किसी ग्रन्थके सिद्धान्तका निर्णय किया जाता है। ग्रन्थमें जो विषय उपक्रम (आरम्भ) और उपसंहार (अन्त) में समानरूपसे वर्णित हो, जिसका अनेकों स्थलोंपर अभ्यास हो यानी जो बार-बार दुहराया गया हो, जिससे कोई अपूर्व बात निकलती हो, जिसका कोई मुख्य फल हो, जिसकी ग्रन्थमें स्थान-स्थानपर प्रशंसा की गयी हो तथा जिसके लिये युक्तियाँ दी गयी हों—वही उस ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय माना जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिलोपाख्यानादिषु स्पष्टमुपलभ्यन्ते, व्याकरिष्यन्ते च यथावसरम्। तस्मान्नैवातत्परत्वं नामसंकीर्तनविषयाणां वचनानाम् । अतो यत्किञ्चिदेतदर्थवादरूपत्वमिति ।

नामकीर्तनवाक्यानां विधित्वसमर्थनम्

अपि च, मानान्तरानधिगतं कृतियोग्यमिष्टसाधनमेव विधिः ; स च लिङादियुक्तेन वाक्येनावगम्यतां वाक्यान्तरेण वा कस्तत्राग्रहः ? इहापि—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

स्पष्टतया उपलब्धि होती है, तथा यथासमय इनकी व्याख्या भी की जायगी। इससे यह सिद्ध हुआ कि नाम-कीर्तन-विषयक वचनोंका स्वार्थसे अन्यत्र तात्पर्य नहीं है। अतः इनको अर्थवाद कहना अयुक्त ही है।

तथा, जो अन्य प्रमाणोंसे प्राप्त न होकर कृतियोग्य (प्रयत्नकी योग्यतावाला) हो, ऐसा इष्ट-साधन ही विधि कहलाता है, वह लिङादियुक्त[1] वाक्यसे जाना जाय अथवा वाक्यान्तरसे[2], इसमें आग्रह क्या है? यहाँ (नाम-कीर्तन-वाक्यमें) भी—

"सभी पापियोंके लिये एकमात्र यही उद्धारका उपाय है कि भगवान् विष्णुका नाम-कीर्तन किया जाय जिससे कि बुद्धि भगवद्विषया हो जाती है।"

---

१. लिङादियुक्त वाक्य—'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि। यहाँ 'यजेत' क्रिया 'लिङ्' लकारकी है।

२. वाक्यान्तर—'पूपा प्रपिष्टभागो यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति' इत्यादि। यहाँ 'लिङ्' 'लोट' आदि विधिसूचक लकारका प्रयोग नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति प्रमाणान्तरानधिगतं पापक्षयसाधनत्वमवगम्यते नामकीर्तनस्य, कृतियोग्यं च तत् क्रियात्वात् कालसंस्पर्शानवगमात्।

ननु यन्न सहत एव कालसंसर्गं तत् कार्यम्, यथा यजेतेत्यादिनाभिहितम्; पदान्तराभिहितं तु न तथा, नामकीर्तनमित्यादेरस्तीत्यादिना सामानाधिकरण्येऽप्यविरोधात्।

तद्युक्तम्, कृत्यानामविधित्वप्रसङ्गात्; ते हि कालसंबन्धेनाव-

—इस वचनद्वारा नामकीर्तनकी पापक्षयके प्रति साधनता जानी जाती है, जो कि [शब्दातिरिक्त] अन्य किसी प्रमाणसे नहीं ज्ञात होती तथा क्रियारूप होनेके कारण वह (कीर्तन) कृतियोग्य भी है; क्योंकि उसके साथ किसी कालका संबन्ध ज्ञात नहीं होता [अतः कीर्तन-वाक्य विधि है।]

शङ्का—यजेत (यज्ञ करे) इत्यादि पदोंसे प्रतिपादित कार्योंकी भाँति जो तीनों कालके संसर्गको कदापि न सहन कर सके वही कार्य (विधि) है, अन्य पदोंसे प्रतिपादित कार्य तो ऐसा नहीं है [जो त्रिकाल-संसर्गको सहन न कर सके]; क्योंकि 'नामकीर्तनम्' इत्यादि पदोंका 'अस्ति' इत्यादि क्रियाओंके साथ सामानाधिकरण्य (संबन्ध) होनेपर भी कोई विरोध नहीं पड़ता [और 'अस्ति' के संसर्गसे उसमें वर्तमान कालका संसर्ग हो ही जाता है]।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने-पर कृत्य-प्रत्ययान्त ('कर्तव्यम्,' 'यष्टव्यः' आदि) शब्द विधि नहीं कहे जा सकते, क्योंकि 'कर्तव्यमस्ति' (कर्तव्य है) इत्यादि प्रयोग देखे जानेके कारण वे भी [वर्तमानादि] कालसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

दृश्यन्ते कर्तव्यमस्तीत्यादिप्रयोगदर्शनात्, तस्मात् कालसंस्पर्शानवगम एव कार्य्यत्वोपयोगी न तदसहत्वम्, सर्वथा कालासंबन्धे शून्यत्वप्रसङ्गाद्, उक्तं च भाष्ये "भविष्यश्चैषोऽर्थः" इति, तस्माद् दुर्वार एव नामसंकीर्तनविषयो विधिः।

भवतु वार्थवादत्वमेषाम्, तद्बलादेव विधित्वमनुमिमीमहे, विधिं विना तस्यैवानुपपत्तेः; विधिशेषो ह्यर्थवादः। तत्र च विधावार्थवादिकमेव फलं भविष्यति।

अवरुद्ध (युक्त) होते हैं। इसलिये कालसंसर्गका भान न होना ही कार्यत्वमें उपयोगी [अर्थात् क्रियात्वका बोधक] है, सर्वथा उसका सहन न होना ही कार्यत्वमें उपयोगी नहीं है, क्योंकि यदि कालका बिल्कुल संबन्ध न मानें तो शून्यताका प्रसंग आ जायगा [यानी किसीको भी 'कार्य' नहीं कहा जा सकेगा, क्योंकि 'यजेत' आदि 'लिङ्' के प्रयोगमें भी भविष्यत्कालका संबन्ध माना गया है]। भाष्यमें भी कहा है "यह विधिलिङ् आदि अर्थ भविष्यकालिक भी है।" अतः नामसंकीर्तनविषयक विधिका निवारण करना कठिन ही है।

अथवा, ये कीर्तनविषयक वचन अर्थवाद ही रहें, अर्थवादताके ही बलपर हम इनके 'विधि' होनेका अनुमान कर सकते हैं, क्योंकि बिना विधिके अर्थवादत्व ही सिद्ध नहीं हो सकता; विधिका शेष (अंगभूत) ही तो अर्थवाद हुआ करता है। इस प्रकार उनके विधि सिद्ध होनेपर वहाँ अर्थवादसे उपस्थापित [पापक्षय] ही फल होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामसंकीर्तनविषयाणि विधिवचनानि

अपि च स्पष्टमुपलभ्यन्त एव नामसंकीर्तनविषया विधयः—

तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा ॥
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ।
"संकीर्तयेज्जगन्नाथम्" "गोविन्देति सदा वाच्यम्"
नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ।
हित्वा लज्जां कलिमलकुलच्छेदकानीरयेद्वा

इसके अतिरिक्त नामसंकीर्तनविषयक विधियाँ स्पष्ट ही उपलब्ध होती हैं। यथा—

"इसलिये एकाग्रचित्तसे सात्त्वतों (भक्तों अथवा यादवों) के स्वामी भगवान् वासुदेवका श्रवण, कीर्तन, ध्यान और पूजन सदा ही करना चाहिये।" "पूर्ववर्ती भक्तोंद्वारा गाये हुए भगवत्प्रतिपादक नामोंको लज्जा छोड़कर गाता हुआ निरासक्तभावसे विचरण करता रहे।" "जगदीश्वरका नामोच्चारण करे।" "गोविन्द—इस नामको सदा ही रटे" "भगवान्में अनुराग उत्पन्न करनेवाले नामोंका लज्जा छोड़कर पाठ करे।" "अथवा लज्जा त्यागकर कलिके पाप-समूहको नष्ट करनेवाले भगवान् विष्णुके नामोंका निरन्तर उच्चारण करे। [प्रणवका अभ्यास, काशीका निवास, शतरुद्रियका जप और] सदा भगवान्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णोर्नामान्यनिशममृतप्राप्तिरेषा चतुर्धा ॥

इत्येवंजातीयका बहवः ।

फलश्रुतेरर्थवादत्वाक्षेपखण्डनम्

ननु भवतु नामकीर्तनविषयो विधिः, तथापि नित्य एवासौ "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इतिवत्;

संकीर्तयेज्जगन्नाथं वेदं वापि समभ्यसेत् ।

इति समभिव्याहारात्, ततश्च घृतकुल्यादिफलश्रुतेरिव पापक्षयफलश्रुतेरर्थवादत्वम् ।

विष्णुके नामोंका उच्चारण—इन चारों प्रकारोंसे अमृत (मोक्ष) पदकी प्राप्ति होती है।"

—इत्यादिरूपसे अनेकों वचन हैं।

शङ्का—नामकीर्तनविषयक विधि भले ही रहे, तथापि वह "प्रतिदिन स्वाध्याय-पाठ करे" इत्यादिके समान नित्य-विधि ही है [काम्य नहीं]; क्योंकि—

"जगदीश्वरका नाम-कीर्तन अथवा वेदाभ्यास करे।"

इस प्रकार उसका नैत्यिक वेदाभ्यासके साथ पाठ किया गया है। अतः जिस प्रकार "घृतकुल्या मधुकुल्याः पितॄन् स्वधा अभिवहन्ति" इत्यादि फलश्रुति अध्ययनकी अर्थवादभूत है, उसी प्रकार पापक्षयरूप फलश्रुति भी नाम-कीर्तनविधिका अर्थवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्, अविशेषात्; न हि नित्योऽनित्यो वा विधिः फलं विना समाप्यते, ततश्चाश्रुतफलकल्पनादार्थवादिकफलस्वीकरणमेव न्याय्यम् ।

उपसंहारः

तस्माद्विवक्षितार्थस्यैव नामकीर्तनस्य पापक्षयहेतुत्वप्रतिपादकानि पुराणवचनानीति ।

कृष्ण कृष्ण मधुसूदन विष्णो
कैटभान्तक मुकुन्द मुरारे ।
पद्मनाभ नरसिंह हरे श्री-
राम राम रघुनन्दन पाहि ॥

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि [नित्य अथवा काम्यविधिकी फलाकाङ्क्षामें] कोई विशेषता (अन्तर) नहीं है। नित्य या अनित्य कोई भी विधि फलके विना समाप्त नहीं होती, इसलिये अश्रुतफल-कल्पनाकी अपेक्षा आर्थवादिक फलको स्वीकार करना ही न्यायसंगत है।

अतः पुराण-वचन अपने अभिप्रेत अर्थवाले नामकीर्तनको ही पाप-क्षयका हेतु बतलाते हैं । इति। [अब परिच्छेदकी समाप्तिमें मङ्गलाचरण करते हैं—]

"हे कृष्ण! हे कृष्ण ! हे मधुसूदन ! हे विष्णो ! हे कैटभनाशक ! हे मुकुन्द ! हे मुरारे! हे पद्मनाभ! हे नरसिंह! हे हरे! हे श्रीराम ! हे राम ! हे रघुनन्दन ! आप हमारी रक्षा करें।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपादपद्मोपजीविनो लक्ष्मीधरस्य कृतौ भगवन्नामकौमुद्यां पुराणवचनानां विवक्षितार्थत्वप्रतिपादनं नाम प्रथमः परिच्छेदः ॥

इस प्रकार रघुनाथस्वरूप गुरुदेव श्रीयुत अनन्तानन्दके चरणारविन्दोंके आश्रित लक्ष्मीधरकी बनायी हुई भगवन्नामकौमुदीमें 'पुराणोंके वचनोंका अर्थ विवक्षित है' इस विषयका प्रतिपादक प्रथम परिच्छेद [सानुवाद] समाप्त हुआ।

पापौघहव्यहवनाय हुताशकल्पं
सङ्कल्पकल्पनविधौ जितकल्पवृक्षम्।
भैषज्यमेव भवदुर्गतिनाशनाय
नामामृतं भगवतो भुवने चकास्ति ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

द्वितीयः परिच्छेदः

दिवमिव धियमेव भासयन्मे सपदि मनःकुमुदं विकासयिष्यन् ।
सततमुदयतां तमो निरस्यँल्ललितमनोरमलीलनीलचन्द्रः ॥ १ ॥
असितावयवस्य या व्रजेन्दोः सितशोभैव पृथक्कृतेव भाति ।
प्रणयातिशयेन तां नु राधां भवबाधाविनिवृत्तये नमामः ॥ २ ॥

कस्मान्निमज्जनभयं ननु तर्कयाम-
रस्त्वं नाविको नरहरे यदि कर्णधारः ।
कामं निजोर्मिभिरयं प्रचलेत्समन्ता-
न्नाब्यो भवाब्धिरिह चेत्तव नामनौका ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्णाय नमः

मङ्गलाचरणम्

श्रीकान्त कृष्ण करुणाकर कञ्जनाभ
कैवल्यवल्लभ मुकुन्द मुरान्तकेति ।
नामावलीं विमलमौक्तिकहारलक्ष्म-
लावण्यबन्धनवतीं करवाणि कण्ठे ॥

एवं स्थिते नामकीर्तनस्य पापक्षयं प्रति साधनत्वे पुनरिदं विचार्यते—किं कस्यचित् साधकतमस्याङ्गभूतं तत् ? उत स्वयमेव साधकमिति ?

श्रीकान्त, श्रीकृष्ण, करुणाकर, कञ्जनाभ, कैवल्य-वल्लभ, मुकुन्द और मुरान्तक—इस नाम-मालाको, जो उज्ज्वल मुक्ता-हारके समान लावण्यमय सूत्रमें पिरोयी हुई है, मैं सदा ही अपने कण्ठमें धारण करूँ ।

पूर्व परिच्छेदमें कहे हुएके अनुसार नाम-कीर्तनका पापक्षयमें कारण होना सिद्ध हो जानेपर पुनः इस बातका विचार किया जाता है कि वह [नामकीर्तन पाप-क्षयके प्रति] किसी साधकतम प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर साधक है या स्वयं ही ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु निर्णीतमेतत् फलश्रुतेरर्थवादत्वनिराकरणेन ।

सत्यम्; तदेव पुनराक्षेपान्तरनिराकरणेन दृढीक्रियते स्थूणानिखननन्यायेन ।

पूर्वपक्षः—स्मृतिपुराणयोर्विरोधे समुच्चयः

तत्र मन्वाद्युक्तप्रायश्चित्ताङ्गमिति तावत्प्राप्तम्, तथा हि—विकल्प-

---

शङ्का–[पापक्षयरूप] फलश्रुतिके अर्थवादत्वका खण्डन करते हुए इस बातका निर्णय तो किया ही जा चुका है [कि वह साक्षात् साधक है]।

समाधान—हाँ, सचमुच ही निर्णय किया जा चुका है, फिर भी उसीको अन्य आक्षेपोंका निराकरण करते हुए स्थूणानिखननन्यायसे* दृढ़ किया जा रहा है।

पूर्वपक्ष

यहाँ पहले यह आपत्ति होती है कि मन्वादि-कथित प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही नामकीर्तन पाप-क्षयका कारण है; इस विषयमें यह कहा जाता है कि विकल्प,[1]

---

* जैसे खूँटेको गाड़ते समय 'यह दृढ़ हुआ या नहीं ?' इस बातको जाननेके लिये उसे हाथसे हिला-हिलाकर ठोंकते हैं अथवा अधिक गहरा गढ़ा खोदकर उसमें गाड़ते हैं, उसी प्रकार जहाँ सिद्धान्तविषयपर शङ्काएँ करके उसे सुदृढ़ करनेके लिये समाधान किया जाता है ऐसे स्थलोंपर स्थूणानिखननन्यायकी प्रवृत्ति समझी जाती है।

१. पाप-क्षयके उद्देश्यसे या तो नामकीर्तन करना चाहिये या मन्वादि-कथित प्रायश्चित्त, यही विकल्प है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समुच्चयव्यवस्थानामन्यतमाश्रयणेन स्मृतिपुराणविरोधस्तावदवश्यं परिहर्त्तव्यः, समानमूलत्वेनान्यतरस्याप्यनतिलङ्घनीयत्वात् । तत्र विकल्पव्यवस्थे तावन्न युज्येते, नित्यवदवगतस्य पाक्षिकत्वे सामान्यश्रुतस्य च विशेषविषयत्वे शब्दवचनस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गात्; अतः समुच्चयोऽत्र परिशिष्यते ।

ननु समुच्चयेऽपि निरपेक्षसाधनत्वेनावगतस्य सापेक्षत्वे

समुच्चय[1] और व्यवस्था[2]—इनमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर स्मृति और पुराणोंके विरोधका अवश्य परिहार करना चाहिये, क्योंकि एक ही समान वेदमूलक होनेके कारण दोनोंमेंसे एकका भी उल्लङ्घन करना उचित नहीं है। ऐसी दशामें यहाँ विकल्प और व्यवस्थाका आश्रय लेना तो ठीक नहीं, क्योंकि जो नित्यके समान ज्ञात है उसको विकल्प माननेसे और जिसका सामान्यरूपसे श्रवण होता है उसे किसी विशेषको विषय करनेवाला माननेसे वैदिक शब्द और स्मृति-वाक्योंके स्वारस्य-भङ्ग होनेका प्रसङ्ग आ जाता है। अतः अब यहाँ समुच्चय ही बच जाता है।

आक्षेपक—समुच्चयका आश्रय लेनेपर भी जो किसी अन्य साधनकी अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र साधन समझा गया हो

१. नाम-कीर्तन और प्रायश्चित्त—दोनों ही करने चाहिये, एकसे पाप-क्षय नहीं हो सकता, यह समुच्चय है।

२. किसी अधिकारीके लिये नाम-कीर्तन ही पापक्षयका साधक है और किसीके लिये प्रायश्चित्त—इस तरहका निर्णय ही व्यवस्था है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वारस्यभङ्गस्तदवस्थ एव ।

मैवं; नैरपेक्ष्यं हि साधनान्तराभावः, स च नानयोरन्यतरस्यापि विषयः; स्वविषयस्य साधनत्वे साधनान्तरस्य चाभावे प्रमेये वाक्यभेदप्रसङ्गात् । स तु योग्य-प्रमाणान्तरानुदयस्य विषयः, उपलभ्यते तु प्रमाणान्तरं साधनान्तरग्राह-

समुच्चयस्य श्रैष्ठ्यम्

उसे अन्यकी अपेक्षा रखनेवाला माननेसे स्वारस्यभङ्गका दोष तो ज्यों-का-त्यों रह ही गया ।

पूर्वपक्षी—ऐसा न कहो; क्योंकि अन्य साधनकी अपेक्षा न रखनेका तात्पर्य यह है कि अन्य साधन है ही नहीं; और अन्य साधनका अभाव इन दोनों (नामकीर्तन और मन्वादि-प्रायश्चित्त) मेंसे किसीका भी विषय नहीं है [अर्थात् इन कीर्तनादिविषयक वचनोंमें किसीसे भी यह बात सिद्ध नहीं होती कि पापक्षयादि कार्योंके लिये एकमात्र कीर्तन अथवा प्रायश्चित्त ही साधन है दूसरा नहीं। शब्दसे ऐसा अर्थ निकला ही नहीं करता,] क्योंकि स्वयं अपने-अपने विषयका साधक होना और उसके लिये दूसरे साधनका अभाव बतलाना—ये दो बातें एक ही वचनसे प्रमाणित करनेमें वाक्यभेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा*। साधनान्तरका अभाव तो वहाँ समझा जाता है जहाँ किसी अन्य योग्य प्रमाणकी उपलब्धि न होती हो, परन्तु यहाँ तो अन्य साधन-को ग्रहण करानेवाले प्रमाणान्तरकी प्राप्ति होती है [अर्थात्

* एक वाक्यसे एक ही कार्यका विधान होता है, दो कार्योंका विधान

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कम्, अतः प्रमाणद्वयपर्य्यालोचनायां परस्परसापेक्षत्वात् स्मार्त्तपौराणयोः समुच्चय एव श्रेयान् ।

नन्वेवमपि समुच्चितयोरनयोर्दर्शपौर्णमासयोरिव कारणत्वमेव

स्मृति और पुराणोंके प्रमाणोंसे दो भिन्न-भिन्न साधन उपलब्ध होते हैं] अतः दोनों प्रमाणोंका विचार करनेपर एकको दूसरेकी अपेक्षा होनेके कारण स्मृति और पुराणोंके वचनोंका समुच्चय ही उत्तम है ।*

आक्षेपक—यदि ऐसा मानें तो भी जिस प्रकार [स्वर्गरूप फल देनेमें] दर्श और पौर्णमास दोनों ही समानरूपसे कारण हैं, उसी प्रकार परस्पर समुच्चित (मिलित) हुए ये दोनों ही समानरूपसे पापक्षयके साधक क्यों न मान लिये जाँय ? अथवा

करनेके लिये दो वाक्य करने पड़ते हैं, इसलिये एक वाक्यसे दो कार्योंका विधान माननेपर वाक्यभेदरूप दोष अनिवार्य ही है ।

* नामकीर्तनवाक्यसे इतना ही प्रतीत होता है कि कीर्तन पापक्षयका साधक है, यह नहीं प्रतीत होता कि वह किसी अन्यकी अपेक्षा रखता ही नहीं; क्योंकि शब्दसे यह अर्थ नहीं ज्ञात होता । इसी प्रकार मनु आदिके वचनोंसे द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त ब्रह्महत्यादि पापके नाशक हैं, इतना ही बोध होता है, यह नहीं कि वे अन्य साधनकी अपेक्षा ही नहीं रखते । अतः दोनोंका मिलकर पापनाशका साधक होना उचित ही है; क्योंकि शास्त्रीय प्रमाणसे दोनों ही पापनाशक सिद्ध हैं । ऐसा माननेसे स्वारस्यभङ्ग आदि दोष भी नहीं आता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किं न स्याद् विपरीतो वाङ्गप्रधानभावः ?

पुराणवचनेभ्य एव भगवद्भजनस्य प्रायश्चित्तकर्माङ्गत्वावगमादिति ब्रूमः । श्रीभागवते तावत्—

प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम् ।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र ! सुराकुम्भमिवापगाः ॥

इति भगवद्भजनस्य प्रायश्चित्ताङ्गत्वमवगम्यते, प्रायश्चित्तानि न पुनन्तीति न तस्यार्थः, मन्वादिवचनव्याकोपात्, नारायणपराङ्मुख-

---

इसके विपरीत नामकीर्तन प्रधान है और प्रायश्चित्त उसका अङ्ग है—इस प्रकार इनमें अङ्गाङ्गिभाव क्यों नहीं स्वीकार किया जाय ?

पूर्वपक्षी—[इसके उत्तरमें] हम यह कहते हैं कि पुराणोंके वचनोंसे ही यह ज्ञात होता है कि 'भगवद्भजन प्रायश्चित्त कर्मका अङ्ग है' इसी कारण ऐसा नहीं किया जाता है । श्रीमद्भागवतमें भी—

" हे राजेन्द्र ! जैसे मदिराके घड़ेको नदियाँ नहीं शुद्ध कर सकतीं उसी प्रकार पापशोधनके लिये किये हुए प्रायश्चित्त भगवद्विमुख पुरुषको नहीं पवित्र कर सकते ।"

इस वचनसे ज्ञात होता है कि भगवद्भजन प्रायश्चित्तका अङ्ग है। उसका यह अर्थ नहीं है कि 'प्रायश्चित्त पवित्र ही नहीं कर सकते,' क्योंकि ऐसा होनेपर मन्वादि-वाक्योंसे विरोध होगा और 'नारायणपराङ्मुखम्' यह विशेषण देना भी व्यर्थ हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिति विशेषणवैयर्थ्याच्च । अपि च प्रायश्चित्तान्यनुष्ठितान्यपि नारायणपराङ्मुखं न पुनन्ति नारायणपरायणं तु पुनन्तीत्यर्थः । अतः स्वतः पुनतां तेषां नारायणपरायणत्वमङ्गमित्यवगम्यते । तथा तत्रैव—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः ।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं हरेः ॥

इति, तवेति वा; सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वं हि हरिकीर्तनस्य सिद्धवदनूद्यते । तथा स्कन्दपुराणेऽपि—

किन्तु उसका अर्थ यह है कि किये गये प्रायश्चित्त भी नारायण-विमुख पुरुषको पवित्र नहीं करते, नारायणके भक्तको तो पवित्र करते ही हैं, अतः स्वतः पवित्र करनेवाले उन प्रायश्चित्तोंका नारायणपरायणता अङ्ग है—यह बात ज्ञात होती है । तथा उस (भागवत) में ही—

"मन्त्र, तन्त्र, देश, काल, पवित्रता और द्रव्य आदिसे भी छिद्र (न्यूनता)को प्राप्त हुए कर्मोंको श्रीहरिका अथवा [हे हरे] आपका कीर्तन पूर्ण कर देता है"

इस प्रकार हरिकीर्तनका सम्पूर्ण कर्मोंको साङ्ग (पूर्ण) बनाना ही प्रयोजन है--इस बातका इस प्रकार अनुवाद करते हैं, मानो यह सब तरहसे सिद्ध हो चुकी है । तथा स्कन्दपुराणमें भी कहा है--

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु ।
न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम् ॥

इति । अनुवादश्च प्राप्तिमनुमापयति निवीताधिकरणन्यायेन; उपव्यानविधायकवाक्यशेषे निवीतानुवादवत् । श्रीविष्णुपुराणेऽपि—

"जिनके स्मरण और नामोच्चारणसे तप तथा यज्ञ आदि कर्मोंमें तत्काल न्यूनताकी पूर्ति हो जाती है, उन भगवान् अच्युतको मैं नमस्कार करता हूँ ।"

[आक्षेपक—नाम-कीर्तन सभी कर्मोंकी न्यूनताको पूर्ण करता है—ऐसा अनुवाद होनेपर भी प्रायश्चित्तके अङ्गरूपसे उसका विधान कैसे हो सकता है ? पूर्वपक्षी—] निवीताधिकरणन्यायसे अनुवाद भी प्रायश्चित्त, तप और यज्ञ आदिके अङ्गरूपसे नामकीर्तनके विधानका अनुमान कराता है। जैसे उपवीतविधायक वाक्यके शेषभागमें निवीत शब्दका अनुवाद उपवीतके अङ्गरूपसे निवीतकी विधि होनेका अनुमान कराता है *। श्रीविष्णुपुराणमें भी—

---

* इस प्रसंगका अभिप्राय यह है—'उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते (जो उपवीत पहनता है वह देव-चिह्न ही धारण करता है)' इस उपवीतविधायक वाक्यके शेषमें इस प्रकार निवीत आदिका अनुवाद हुआ है—'निवीतं मनुष्याणाम् (मनुष्यसम्बन्धी आतिथ्य आदि कर्मोंमें जनेऊको निवीतरूपमें (मालाकी भाँति) रखे)' 'प्राचीनावीतं पितॄणाम् (पितृसंबन्धी कर्मोंमें उसे प्राचीनावीत भावसे रखे अर्थात् बाएँ हाथको बाहर निकालकर दाएँ कन्धेपर जनेऊ कर दे) तथा 'उपवीतं देवानाम् (देव-सम्बन्धी कार्योंमें जनेऊको उपवीतरूपमें (दाएँ हाथको बाहर कर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु ।
तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम् ॥

इति कर्माङ्गत्वमवगम्यते हरिस्मरणस्य, यद्यत्र स्मरणं स्वातन्त्र्येण विवक्षितं किमिदं जपहोमार्चनादिष्विति ? अतः सर्वकर्माङ्गत्वाद्

"हे मैत्रेय ! जप, होम और पूजनादि कर्मोंमें प्रवृत्त रहते हुए जिसका मन भगवान् वासुदेवमें लगा रहता है उसके लिये देवेन्द्रका पद भी यदि फलरूपसे प्राप्त हो तो वह भी विघ्न ही है।"

इस कथनसे हरिस्मरण जपादि कर्मोंका अङ्ग ही प्रतीत होता है। यदि यहाँ हरिस्मरण स्वतन्त्रतापूर्वक विवक्षित होता तो 'जप, होम और पूजनादि कर्मोंमें' इस कथनकी क्या आवश्यकता थी ? अतः भगवान्‌का कीर्तन और स्मरण

बाएँ कन्धेपर) रखे ।' यहाँ उपवीतको देवकर्मोपयोगी होनेके कारण सर्वोत्तम बतलानेके लिये 'निवीतम्' आदि वाक्य अर्थवादरूपसे प्रयुक्त हुए हैं; क्योंकि ये सभी उपवीत-विधिके शेष (अङ्ग) हैं और विधिशेष अर्थवादरूप ही होते हैं—यह पहले कहा जा चुका है। यद्यपि निवीत-वचन अनुवादमात्र ही है, तथापि आतिथ्यादि कर्मोंमें निवीतकी विधिको प्रमाणित करता है। सेवा-सम्बन्धी कार्योंमें निवीतका विधान इसलिये है कि जनेऊ असावधानीसे गिरकर कहीं अशुद्ध न हो जाय। कण्ठमें मालाकी भाँति पहन लेनेसे फिर उसके गिरनेका भय नहीं रहता। यही निवीताधिकरणन्याय कहलाता है। जैसे यहाँ निवीतानुवाद उपवीतके अङ्गरूपसे निवीतकी विधिको प्रमाणित करता है, इसी प्रकार नामकीर्तनविषयक अनुवाद भी यागादिके अङ्गरूपसे कीर्तनकी विधि होनेका अनुमान कराता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवत्कीर्तनस्मरणयोः, प्रायश्चित्तस्यापि तदन्तःपातित्वात्, प्रायश्चित्ताङ्गत्वेनैव नामकीर्त्तनं पापक्षयहेतुर्न स्वतन्त्रमिति ।

पापध्वंसे नामकीर्तनस्य प्राधान्यमित्युत्तरपक्षः

अत्र समाधीयते—स्वप्रधानमेव पुरुषोत्तमकीर्त्तनं पापप्रध्वंसनहेतुः । श्रीभागवते तावत्—

कर्म्मणा कर्म्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते ।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम् ॥

इति कर्मात्मकप्रायश्चित्तनिन्दापूर्वकम्—

सभी कर्मोंके अङ्ग हैं तथा प्रायश्चित्त भी कर्मोंके ही अन्दर है, इसलिये प्रायश्चित्तका अङ्ग होकर ही नामकीर्तन पाप-क्षयका हेतु है, स्वतन्त्र नहीं ।

सिद्धान्तपक्ष

अब यहाँ समाधान किया जाता है—भगवान् पुरुषोत्तमका नामकीर्तन स्वयं प्रधानरूपसे पाप-नाशका कारण होता है; [किसी विधिका अङ्ग होकर नहीं,] क्योंकि श्रीमद्भागवतमें—

"[प्रायश्चित्तादि] कर्मसे [पाप] कर्मका आत्यन्तिक (समूल) विनाश नहीं होता; [उस समय भी वासना रहती ही है; अन्यथा पुनः पापाचार न होता], क्योंकि कर्मका अधिकारी अज्ञानी होता है। आत्यन्तिक विनाशका साधक प्रायश्चित्त तो विमर्श (ब्रह्मविद्या) है।"

इस प्रकार कर्मरूप प्रायश्चित्तकी निन्दापूर्वक—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।
अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥

इति ब्रह्मविद्यासमानस्कन्धतया केवलायाः कीर्तनादिलक्षणाया भगवद्भक्तेः प्रायश्चित्तत्वेनावधारितत्वात् ।

तत्राजामिलदृष्टान्तः

तथा—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥
एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम् ॥

"कुछ लोग केवल भक्तिसे भगवान् वासुदेवमें मन लगाये हुए अपने समस्त पापोंको उसी प्रकार नष्ट कर देते हैं जैसे सूर्य तुषारको।"

—इत्यादि कथनके द्वारा ब्रह्मविद्याकी समकक्ष होनेके कारण केवल कीर्तनादिरूपा भगवद्भक्ति [पाप-शोधक] प्रायश्चित्तरूपसे निश्चित की गयी है। तथा—

"सभी पापियोंके लिये सबसे बढ़कर उद्धारका उपाय यही है कि भगवान् विष्णुका नामोच्चारण किया जाय, जिससे उनमें मन लगा रहे। जिस समय अजामिलने 'नारायण' इस चार अक्षरोंवाले नामका उच्चारण किया उसी समय नामोच्चारणमात्रसे ही इस पापीका उद्धार हो गया। हे पुत्रो!

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामोच्चारणमाहात्म्यं हरेः पश्यत पुत्रकाः ।
अजामिलोऽपि येनैव मृत्युपाशादमुच्यत ॥

इति तत्र तत्रैवकारश्रवणात्,

एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां
सङ्कीर्तनं भगवतो गुणकर्मनाम्नाम् ।
विक्रुश्य पुत्रमघवान् यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण उपैति मुक्तिम् ॥

इत्यनेनापि केवलस्य कीर्तनस्य कृत्स्नपापक्षयहेतुत्वमेव

भगवान्के नामोच्चारणका माहात्म्य देखो, जिसके ही बलसे अजामिल भी यमराजके पाशसे मुक्त हो गया ।"

—इनमेंसे प्रत्येक वाक्यमें [नामकीर्तनको स्वतन्त्ररूपसे पापनाशक बतलाते हुए] निश्चयसूचक एवकार (ही) का श्रवण होता है । और—

"मनुष्योंके पापका नाश करनेके लिये इतने बड़े साधनकी आवश्यकता नहीं कि भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका कीर्तन किया जाय; क्योंकि आज अजामिल-जैसा पापी भी मरते समय 'नारायण' शब्दसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्ति पा रहा है ।"

—इस कथनके द्वारा भी 'केवल नाम-कीर्तन ही समस्त पापोंके नाशका कारण है'—इसी बातका समर्थन होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समर्थ्यते । यदि हि पर्याप्तवचनोऽयमलंशब्दस्तदा प्रथमाप्रयोगेण भवितव्यम्, अलं मल्लो मल्लायेतिवत्; इह तु तृतीया दृश्यते, अतो निवारणवचनोऽयमलंशब्द इत्यलमतिप्रसङ्गेनेतिवत् ।

ततश्चायमर्थः, भगवतो गुणकर्मनाम्नां सङ्कीर्तनमिति यत्पुंसामघनिर्हरणायेति, एतावता अलम्, एतावन्नानुष्ठेयम्; पापक्षयमात्रस्यातितुच्छत्वात्, भगवत्कीर्तनस्याति गरीयस्त्वात् । एतदेव विवृणोति—विक्रुश्येति, आमरणमभ्यस्तमहापापोऽजामिलोऽपि पुत्रं विक्रुश्य न

एतावतेति पद्यार्थनिरूपणम् ।

है। यदि इस 'अलम्' शब्दको पर्याप्त अर्थका वाचक मानें तो उसके योगमें तृतीया विभक्ति न होकर 'एतावान् अलम्' इस प्रकार प्रथमा विभक्तिका ही प्रयोग होना चाहिये। जैसे 'अलं मल्लो मल्लाय' (मल्लके लिये मल्ल पर्याप्त है) इसमें 'अलं मल्लः' यहाँ प्रथमा विभक्तिका प्रयोग देखा जाता है। परन्तु यहाँ तो 'एतावता' तृतीया विभक्ति दीख पड़ती है, अतः 'अब इस प्रसंगमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है' इस वाक्यके समान यह 'अलम्' शब्द निवारणका वाचक है।

इसलिये इसका अर्थ यों समझना चाहिये—भगवान्के गुण, कर्म और नामोंका जो कीर्तन मनुष्योंके पाप-नाशके निमित्त किया जाता है वह अनावश्यक है। [इसके लिये] इतने बड़े साधनका अनुष्ठान नहीं करना चाहिये; क्योंकि पापका नाशरूप कार्य अत्यन्त तुच्छ है और भगवान्का नाम-कीर्तन बहुत बड़ा है। इसी बातको स्पष्ट करते हैं—मरणपर्यन्त महान् पापोंका अभ्यास रखनेवाला अजामिल भी 'नारायण' शब्द

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

हरिं कीर्तयित्वा, तदपि न स्पष्टं म्रियमाणत्वेन शिथिलकरणत्वात्, तथापि दैवगत्या पुत्रनाम्न एव भगवन्नामत्वात्, मुक्तिं समस्तानर्थनिवृत्तिलक्षणां निरतिशयानन्दरूपां च प्राप्तः; नानर्थैकदेशस्य पापस्य निवृत्तिमात्रम्। तत्रापि मुक्तिः किल बभूवेति नैतदैतिह्यमात्रं किन्त्वयमधुनैव मुक्तिमुपयातीति साङ्गुलिनिर्देशमभिधीयते धर्म्मराजेन; तत्समये तस्यार्थस्य वर्तमानत्वात्। उक्तलक्षणाया मुक्तेरबहिष्ठेनानन्यवेद्यत्वेऽपि भगवल्लोकप्राप्तिलक्षणाया अपि मुक्तेस्तात्पर्य्यम्, तस्माद्विवक्षितार्थलाभः।

से पुत्रको पुकारकर, न कि भगवान्‌का कीर्तन करके, वह भी स्पष्ट नहीं, मरनेके समय जब कि उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो गयी थीं और उसमें भी दैवयोगसे पुत्रका नाम ही भगवान्‌का नाम था, जिसका समस्त अनर्थोंकी निवृत्ति हो जाना ही लक्षण है ऐसी निरतिशय आनन्दरूपा मुक्तिको पा गया; यहाँ अनर्थके एकदेशरूप पापकी ही निवृत्ति नहीं हुई, अपि तु उसका मोक्ष ही हो गया। यह केवल बीता हुआ इतिहासमात्र नहीं है, अपि तु इसी समय वह मुक्ति पा रहा है—इस प्रकार धर्मराज अङ्गुलिसे सङ्केत करते हुए कह रहे हैं; क्योंकि उस समय यह कार्य वर्तमान था। [अनर्थनिवृत्तिरूप] पूर्वोक्त लक्षणवाली मुक्तिका स्वरूप बाह्य न होनेके कारण यद्यपि दूसरेको ज्ञात नहीं हो सकता तथापि यहाँ तो भगवल्लोकप्राप्तिरूपा सालोक्य मुक्तिसे तात्पर्य है [उसका ज्ञान सबको होता है और वह भी परम मुक्ति ही है] इसलिये इस प्रसङ्गद्वारा [नामकीर्तन स्वतन्त्ररूपसे समस्त पापोंका नाशक है—इस] विवक्षित अर्थकी उपलब्धि होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

ततश्चापातालावनितले निमग्नमुपरि च स्वायम्भुवभुवनमुल्लिखन्तं सर्वतोविसारिविविधशाखोपशाखं संसारमहामहीरुहमेव समूलं गिलतो भगवन्नामग्रहणमहादावदहनस्य जननमरणमध्यवर्त्तिनः सर्वानेव क्षणेन शून्यतां नयन्तीभिरनन्तजन्मानुबन्धिनीभिरतिबहलाभिरप्यंहस्तूलपटलीभिः कुक्षिकोटरकुहरप्रान्तोऽपि मनाङ् न पूर्य्यते, तस्य कथं तद्ग्रसने साधनान्तरसाकाङ्क्षत्वशङ्कावतारः।

नामकीर्तनस्य साधनान्तरानपेक्षत्वम्

कर्मतो भक्तेः प्राधान्यम्, निरपेक्षसाधनत्वं च

अपि च—

न तथा ह्यघवान्राजन् पूयेत तपआदिभिः।

अतः जो भूमण्डलमें पातालतक नीचे गया है और ऊपर ब्रह्मलोकतकका उल्लेख करता है, जिसकी सब ओर फैली हुई नाना प्रकारकी छोटी-बड़ी शाखाएँ हैं, उस संसाररूपी महान् वृक्षको समूल निगल जानेवाले जिस भगवन्नामकीर्तनरूपी प्रचण्ड दावानलकी उदर-दरीका एक देश भी अनन्त जन्मोंसे अनुगत पापरूपी तूल (रूई) की बहुत बड़ी ढेरीसे—जो जन्म-मरणके बीचमें पड़े हुए सभी प्राणियोंको एक ही क्षणमें शून्य बना देती है—तनिक भी पूर्ण नहीं हो सकता वही कीर्तनरूप दावानल पापराशिको भस्म करनेमें अन्य साधनकी अपेक्षा रखता है—ऐसी शङ्का भी कैसे की जा सकती है? तथा—

"हे राजन्! पापी पुरुष तप आदिसे वैसा पवित्र नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया ॥

तस्य कृष्णस्य पुरुषाणां निषेवया, कृष्णे निवेशितेन्द्रियः कीर्तनादिपरः, इति—

न निष्कृतैरुदितैर्ब्रह्मविद्भि-
स्तथा विशुद्ध्यत्यघवान् व्रतादिभिः ।
यथा हरेर्नामपदैरुदाहृतै-
स्तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् ॥

इति च, कर्मभक्तिसाध्ययोः शुद्ध्योर्वैसादृश्यमुपदिश्यते; तदपि

होता जैसा कि भगवान् कृष्णमें अपनी इन्द्रियोंको लगाकर कृष्ण-भक्तोंकी सेवासे हो सकता है।"

यहाँ 'तत्पूरुषनिषेवया' का यह अर्थ है कि उन कृष्णा भगवान्‌के जनों (भक्तों) की सेवासे। ['कृष्णार्पितप्राणः' का अर्थ है—] अपनी मन आदि इन्द्रियोंको कृष्णमें लगाकर— नामकीर्तन आदिमें परायण होकर। इस वचनद्वारा तथा—

"पापी पुरुष ब्रह्मवेत्ताओंके बतलाये हुए व्रत आदि उद्धारके साधनोंसे वैसा शुद्ध नहीं होता जैसा कि भगवन्नाम-सम्बन्धी पदोंके उच्चारणसे होता है; क्योंकि वह (भगवन्नामोच्चारण) पुण्यकीर्ति भगवान्‌के ऐश्वर्यादि गुणोंकी प्राप्ति कराता है।"

इस वाक्यसे भी कर्म और [कीर्तनरूप] भक्तिसे होनेवाली शुद्धियोंमें असमानता बतलायी जाती है। अङ्ग-अङ्गिभावमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाङ्गाङ्गिभावे संबोभवीति, अङ्गप्रधानयोरेकफलत्वात् । श्रीविष्णुपुराणेऽपि—

प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

इति कर्मात्मकेभ्यः सकाशात् कृष्णानुस्मरणस्योत्कृष्टत्वमभिधीयते, तदपि प्रायश्चित्ताङ्गत्वे हरिस्मरणस्य न संजाघटीति, अङ्गिनः सकाशादङ्गस्योत्कृष्टत्वायोगात् ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।

इत्यत्रैकशब्दोऽपि नैरपेक्ष्यमेव प्रतिपादयति, यो हि सजातीयस्मरणमपि द्वितीयं न सहते स कथं जात्यन्तरं सहेत ?

ऐसा अन्तर होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अङ्ग और अङ्गीका एक ही फल हुआ करता है । श्रीविष्णुपुराणमें भी—

"तपस्या और कर्मरूप जितने भी प्रायश्चित्त हैं उन सबमें भगवान् कृष्णका स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है ।"

—इस प्रकार कर्मरूप प्रायश्चित्तोंसे कृष्णके स्मरणकी ही उत्कृष्टता बतलायी जाती है । यदि हरिस्मरण प्रायश्चित्तका अङ्ग हो तो यह उत्कर्ष-प्रतिपादन संघटित नहीं हो सकता; क्योंकि अङ्गीसे अङ्गकी उत्कृष्टता युक्तिसङ्गत नहीं है ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ।*

इसमें आया हुआ 'एक' शब्द भी कीर्तनकी निरपेक्षताका ही प्रतिपादन करता है । जिसमें किसी दूसरे सजातीय स्मरणको भी स्थान नहीं है वह विजातीय साधनको कैसे सह सकता है ?

---

* उसके लिये एक बार भगवान्का स्मरण ही उत्तम प्रायश्चित्त है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीनरसिंहपुराणेऽपि—

इत्युदीरितमाकर्ण्य कृष्णवाक्यं यमेरितम् ।
नारकाः कृष्ण कृष्णेति श्रीनृसिंहेति चुक्रुशुः ॥

इत्यारभ्य प्राप्तनरकाणामपि पापिनां कीर्तनमात्रादेव नरकार्णवादुत्तीर्णानां वैकुण्ठसङ्गम उपवर्ण्यते । श्रीस्कन्दपुराणेऽपि—

हरहरहरशब्दमादितो वै मुहुरभिधाय मुनीन्द्रवृन्दवर्य्यः ।
अपठदखिलमेघघोषतुल्यं सकलहिताय 'नमः शिवाय' शब्दम् ॥

इत्यारभ्य श्रवणमात्रादेव नरकान्निर्गत्य शिवपुरप्राप्तिरभिहिता ।

श्रीनरसिंहपुराणमें भी—

"यमराजद्वारा इस प्रकार कहे हुए कृष्ण-वाक्यको सुनकर सभी नरक-निवासी 'कृष्ण ! कृष्ण ! श्रीनृसिंह !' इस प्रकार पुकारने लगे ।"

–इस प्रकार आरम्भ करके नरकमें पड़े हुए पापियोंके कीर्तनमात्रसे ही नरकसमुद्रसे निकलकर वैकुण्ठ-लोकमें चले जानेका वर्णन किया गया है। तथा श्रीस्कन्दपुराणमें भी—

"उन मुनिवरने सब पापियोंके हितके लिये आरम्भमें बार-बार 'हर' 'हर' 'हर' ऐसा उच्चारण करके फिर मेघके समान गम्भीर स्वरसे 'नमः शिवाय' इस शब्दका कीर्तन किया ।"

इस प्रकार आरम्भ करके शिवनामके श्रवणमात्रसे ही नरकसे निकलकर पापियोंको शिवधामकी प्राप्ति कही गयी है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

श्रीविष्णुधर्म्मे तु स्पष्टमेव निरपेक्षसाधनत्वमुपवर्णितम्—

अथ पातकभीतस्त्वं सर्वभावेन भारत ।
विमुक्तान्यसमारम्भो नारायणपरो भव ॥

इति । तथा तत्रैव—

गोविन्देति समुच्चार्य पदं क्षपितकिल्बिषः ।
क्षत्रबन्धुर्विशुद्धात्मा गोविन्दत्वमुपेयिवान् ॥

इति प्रायश्चित्तपराङ्मुखस्यापि क्षत्रबन्धोः कीर्तनमात्रादेव पापक्षयो दर्शितः ।

श्रीविष्णुधर्मोत्तरपुराणमें तो—

"हे भारत ! यदि तुम पातकोंसे डर रहे हो तो अन्य प्रायश्चित्तोंका आरम्भ छोड़कर [कीर्तन आदिके द्वारा] भगवान् नारायणकी आराधनामें लग जाओ ।"

इस प्रकार स्पष्ट ही हरिकीर्तनके निरपेक्ष साधन होनेका वर्णन है । तथा उसीमें--

'गोविन्द' इस पदका उच्चारण करके पापोंसे मुक्त और शुद्धचित्त होकर वह क्षत्रबन्धु गोविन्दस्वरूप हो गया ।"

इस प्रकार प्रायश्चित्तसे मुँह मोड़े हुए क्षत्रबन्धुका भी कीर्तनमात्रसे ही पापक्षय दिखलाया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तस्मात्केवलमेव हरिकीर्तनं कृत्स्नपापक्षयहेतुः, नान्यसमुच्चितं मतरामन्याङ्गभूतमिति ।

ननु किमिदं कैवल्यं नाम ? किं साधनस्य स्वरूपमेव ? उत साधनान्तराभावः ? उतान्यस्यासाधनत्वम् ? तत्र यदि स्वरूपम्, तर्हि समुच्चयेऽपि स्वरूपस्यानपायादविरोधः । अथ साधनान्तराभावः, तदोभयविधानाद्वाक्यं भिद्येतेत्यवादिष्म। विशिष्टविधाने तु सति साधनान्तरे

कैवल्यमाक्षिपति

इसलिये केवल हरिकीर्तन ही समस्त पापोंके नाशका कारण है, किसी अन्यके साथ मिलकर या किसी अन्यका अङ्गभूत होकर नहीं ।

पूर्वपक्षी—यह [जो केवल कीर्तनको कारण कहा गया, उसमें] केवलत्व (केवल शब्दका तात्पर्य) क्या है ? [नामकीर्तनरूप] साधनका स्वरूप ही कैवल्य है ? या अन्य साधनका अभाव कैवल्य है ? अथवा अन्यमें साधनत्वका न होना ही कैवल्य है ?—इनमेंसे 'साधनका स्वरूप ही कैवल्य है' ऐसा यदि मानें तो समुच्चय (एक ही साथ दो साधनके रहने) में भी स्वरूपकी क्षति न होनेके कारण कोई भी विरोध नहीं है। यदि साधनान्तरके अभावको ही कैवल्य कहें तो एक ही वाक्यद्वारा नामकीर्तन और साधनान्तरका अभाव—दोनोंका विधान होनेसे वाक्यभेद हो जायगा—यह दोष हम पहले भी कह चुके हैं। यदि साधनान्तराभावविशिष्ट नामकीर्तनका विधान मानें तो किसी अन्य साधनके प्राप्त हो जानेपर नाम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतेऽपि कीर्तने पापक्षयो नाभविष्यत्, साधनान्तराभावविशिष्टस्यैव साधनत्वात्। अथान्यस्यासाधनत्वम्, तदापि वाक्यभेद एव; एकेन वाक्येनोभयविधानायोगात्। अथ विशिष्टविधानमिति चेत्तदाप्यन्यगतस्यासाधनत्वस्यान्यविशेषणत्वेन विधानायोगात्।

उच्यते—कारणस्य पौष्कल्यं कैवल्यम्, तदेव च नैरपेक्ष्यम्; पौष्कल्यं कार्यपूर्वक्षणनियतिः, यां सामग्रीमाचक्षते तद्विदः; यदनन्तरं कार्यमवश्यमात्मानं लभते तत्पुष्कलं कारणमिति यावत्। तच्च न

कैवल्यस्य सिद्धान्ततः स्वरूपम्।

कीर्तन करनेसे भी पापक्षय नहीं होगा; क्योंकि साधनान्तराभावविशिष्ट नामकीर्तन ही साधन माना गया है [और यहाँ साधनान्तरकी सत्ता है]। यदि [कीर्तनके सिवा] अन्यमें साधनत्वका न होना ही कैवल्य है—ऐसा मानें तो भी एक वाक्यसे नामकीर्तन और अन्यका असाधनत्व—दोनोंका विधान असम्भव होनेके कारण वाक्यभेदकी आपत्ति होगी। यदि अन्यासाधनत्वविशिष्ट नामकीर्तनका विधान मानें तो भी अन्य (प्रायश्चित्तादि) गत जो असाधनत्व है उसका अन्य (कीर्तन) के विशेषणरूपसे विधान करना ठीक नहीं है।

सिद्धान्ती—[कैवल्य क्या है? इसे] बतलाते हैं, कारणके पुष्कलभावको कैवल्य कहते हैं और वही निरपेक्षता है। कार्यके ठीक पूर्व क्षणमें नियमितरूपसे जो स्थिति है, जिसको कि विद्वान् पुरुष सामग्री कहते हैं, वही पौष्कल्य है। तात्पर्य यह है कि जिसकी उपस्थितिके अनन्तर कार्य अवश्य ही अपने स्वरूपको प्राप्त हो जाता है वही पुष्कल कारण है। वह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साधनान्तरसव्यपेक्षत्वेऽत्रकल्पते। तच्च क्वचिदेकस्य क्वचिद्द्वयोः क्वचिद्बहूनाम्, तत्र यदा द्वयोर्बहूनाम्, वा तदा स्वाश्रये व्यासज्य वर्तते पौष्कल्यम्, यदा पुनरेकस्य तदा कार्त्स्न्येन।

ननु समवाय्यसमवायिनिमित्तजन्यं सर्वं कार्यमारम्भवादे,

साधनान्तरकी अपेक्षा रखनेपर नहीं हो सकता। वह पुष्कलत्व कहीं एकमें* कहीं दोमें† और कहीं बहुतसे‡ साधनोंमें रहता है। जब दो या बहुत-से साधनोंमें रहता है उस समय अपने हर एक आश्रयमें व्यासज्यवृत्ति (विशेषरूपसे आसक्त) होकर रहता है और यदि एकमें रहता है तो पूर्णरूपसे अपने आश्रयमें विद्यमान रहता है।

पूर्वपक्षी—[नैयायिकोंके] आरम्भवादमें[1] तो सभी कार्य समवायी, असमवायी और निमित्त कारणसे उत्पन्न होते हैं और [सांख्यभास्करादिमतावलम्बियोंके] परिणामवाद[2]

---

* जैसे संयोगका नाशरूप जो कार्य है उसके प्रति पुष्कलकारणता केवल विभागमें है।

† जैसे 'दर्शपौर्णमासाभ्याम्' इस श्रुतिमें द्विवचन-निर्देश होनेके कारण दर्श तथा पौर्णमास दोनोंके ही अपूर्वोंमें स्वर्गप्राप्तिरूप कार्यके प्रति पुष्कल-कारणता है।

‡ जिस प्रकार घटरूप कार्यके प्रति दण्ड, चक्र, चीवर, कुलाल आदि सभीमें पौष्कल्य है।

१. कारणसे अत्यन्त भिन्न कार्यकी उत्पत्ति होती है—यह आरम्भवाद है।

२. कार्य और कारणमें पारमार्थिक भेद भी है और अभेद भी—यह परिणामवाद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परिणामविवर्तयोः पुनरुपादाननिमित्तजन्यम्, तत् कथमेकस्य पौष्कल्यम् ?

उच्यते—निमित्तकारणविषयमेतत् पौष्कल्याभिधानं नोपादानविषयम्, फलोपादानस्यात्मनः प्रसिद्धत्वेन शास्त्रानपेक्षणात् । उक्तं हि भाष्यकृद्भिः "जानात्येवासौ मयैतत् कर्तव्यमिति, उपायन्तु न वेद तस्योपायः कथनीयः" इति ।

तथा [अद्वैतवादी वेदान्तियोंके] विवर्तवादमें सभी कार्य उपादान और निमित्त कारणसे होते हैं, अतः एकको पुष्कल कारण कैसे कहा जा सकता है ?

सिद्धान्ती—बतलाते हैं [सुनो] यह पौष्कल्यवाद निमित्त कारणके विषयमें है, उपादान कारणके विषयमें नहीं; क्योंकि पापक्षयादि फलका उपादानभूत आत्मा तो ['मैं हूँ' इस प्रकार ज्ञात होनेके कारण] प्रसिद्ध है; अतः उसके लिये शास्त्रकी अपेक्षा नहीं रहती। भाष्यकार (शबर स्वामी) ने भी कहा है "उस पुरुषको यह तो अवश्य ही मालूम रहता है कि मुझे अमुक फलका साधन करना है, किन्तु उपाय नहीं जानता, अतः उसको [शास्त्रद्वारा] उपाय ही बतलाना है।"

---

१ 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' (घट आदि कार्य केवल वाणीसे कहनेके लिये नाममात्र है वस्तुतः तो कारणभूत मिट्टी ही सत्य है) इस श्रुतिके अनुसार कार्य केवल संज्ञामात्र है, अतः मिथ्या है और कारण ही सत्य है—यही विवर्तवाद है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु निमित्तकारणस्यापि कथमेकस्य पौष्कल्यम् ? न हि निमित्तकारणमात्रात् किंचित् कार्यं सिध्यति।

तदयुक्तम्, आलोकसंयोगमात्रादन्धकारनिवृत्तेर्दर्शनात्।

ननु यदि पौष्कल्यमेव नैरपेक्ष्यम्; कथं तर्हि व्रीहियवयोः ?

उच्यते—तत्र कारणत्वस्यैव प्रत्येकं परिसमाप्तत्वात्। अन्योन्यनिरपेक्षत्वमेव न सर्वनैरपेक्ष्यमितिकर्तव्यतासाकाङ्क्षत्वात्।

पूर्वपक्षी—अकेले निमित्त कारणको भी कैसे पुष्कल कारण कहा जा सकता है ? केवल निमित्त कारणसे तो कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है।

सिद्धान्ती—यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रकाशके संयोगमात्रसे [जो निमित्त कारण ही है] अन्धकारकी निवृत्ति देखी जाती है।

पूर्वपक्षी—यदि पुष्कल कारण ही निरपेक्ष साधन है तो व्रीहि और यव कैसे निरपेक्ष हो सकते हैं ?*

सिद्धान्ती—बतलाते हैं; व्रीहि तथा यवके स्थलमें प्रत्येकमें ही कारणताकी समाप्ति होनेके कारण वे निरपेक्ष हैं। यहाँ परस्पर ही निरपेक्षता है† सबसे निरपेक्षता नहीं है; क्योंकि प्रत्येकमें प्रोक्षणादि इतिकर्तव्यता (करण-सहकारी कार्य) की अपेक्षा है;

---

* क्योंकि व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत, (व्रीहिसे यज्ञ करे, यवसे यज्ञ करे) यहाँ पृथक्-पृथक् तृतीया विभक्तिका निर्देश होनेसे व्रीहि और यव निरपेक्ष साधन प्रतीत होते हैं; परन्तु इनमें प्रोक्षणादिकी अपेक्षा होनेके कारण पुष्कलत्व नहीं है, और इसीसे निरपेक्षता भी नहीं रही।

† अर्थात् व्रीहिकी अपेक्षा यव नहीं रखता और यवको व्रीहिको अपेक्षा नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पौष्कल्यं तु स्वव्यतिरिक्तसर्वनैरपेक्ष्यम्। अतश्च केवलया भक्त्येत्ययमर्थः—मधुमिदभिधानमेव मनागुद्दिश्यमानमशेषपापप्रध्वंसस्य पुष्कलं कारणं तरणिरिव गगनाङ्गनमवतीर्णस्तिमिरपटलपाटनस्य। तच्च पौष्कल्यं कारणत्वस्य विशेषणं न भक्तेः, भक्तेः कैवल्ये कारणत्वे च विधेये वाक्यभेदो मा प्रसाङ्क्षीदिति।

ननु भक्तेरेव विशेषणं कैवल्यम्, केवलया भक्त्येति भक्तिसामानाधिकरण्यात्?

[इसलिये ये एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखनेके कारण निरपेक्ष साधन तो हैं, किन्तु पुष्कल कारण नहीं हैं] क्योंकि पुष्कल कारण तो अपने अतिरिक्त सभीकी अपेक्षा नहीं रखता। अतः 'केवलया भक्त्या' इसका यह तात्पर्य है—भगवान् मधुसूदनका नाम ही यदि थोड़ा भी उच्चारण किया जाय तो वह अशेष पापोंको नष्ट करनेका पुष्कल कारण है; जैसे आकाशके प्राङ्गणमें अवतीर्ण हुआ सूर्य ही अन्धकारसमूहका विध्वंस करनेमें पुष्कल कारण है। वह पौष्कल्य कारणत्वका ही विशेषण है, भक्तिका नहीं; क्योंकि उक्त वाक्यद्वारा भक्तिके कैवल्य और कारणत्व दोनोंका विधान करनेपर कहीं वाक्यभेदका प्रसंग न उपस्थित हो जाय [—ऐसा सन्देह है]।

पूर्वपक्षी—भक्तिका ही विशेषण कैवल्य है; क्योंकि 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यमें [केवल तथा भक्ति—दोनोंमें समान विभक्ति होनेसे] केवल शब्दका भक्तिके साथ सामानाधिकरण्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवं, कारणत्वविशेषणत्वेऽपि तत्सामानाधिकरण्योपपत्तेः, तन्तुभिरुपादानैः पटं—कुविन्दः करोतीतिवत्। तत्र हि कारणं विशिंषदुपादानत्वं तद्द्वारेण तन्तूनपि विशिनष्टि, तथेहापि; अन्यथा कैवल्यस्य भक्तिविशेषणत्वे वाजपेयोक्तो वैरूप्यदोषोऽपि प्रसज्येत, तत्र हि वाजपेयशब्दस्यान्नादिद्रव्यवचनत्वे करणभूतं द्रव्यं प्रति यजत्यर्थस्य प्राधान्यात् फलापूर्वं प्रति च गुणभावात् प्रधानत्वगुणत्वोद्देश्यत्वविधेय-

---

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि कारणत्वका विशेषण माननेपर भी भक्तिके साथ उसके समानाधिकरणत्वकी उपपत्ति हो जाती है; जैसे 'तन्तुभिरुपादानैः पटं कुविन्दः करोति' (उपादान कारणभूत तन्तुओंसे जुलाहा वस्त्र बुनता है) इस वाक्यमें उपादानपद कारणका विशेषण होता हुआ उसीके द्वारा तन्तुओंका भी विशेषण होता है, इसी प्रकार यहाँ भी कैवल्यपद कारणत्वका विशेषण होता हुआ भक्तिका भी विशेषण होता है। अन्यथा कैवल्यपदको एकमात्र भक्तिका विशेषण माननेपर वाजपेयाधिकरणमें कहा हुआ वैरूप्यदोष भी उपस्थित होगा। वहाँ [वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत (स्वाराज्यकी कामनावाला वाजपेयद्वारा यजन करे) इस वाक्यमें] वाजपेय पदको अन्नादि द्रव्यका वाचक मान लेनेपर 'यज्' धातुका यजनरूप अर्थ करण (साधन) भूत अन्नादि द्रव्यके प्रति प्रधान तथा उससे होनेवाले फलापूर्वके प्रति गौण होने लगेगा और ऐसा होनेसे एक ही प्रतीतिमें एक ही यागकी वाजपेय शब्दके वाच्य द्रव्यके प्रति प्रधानता और फलापूर्वके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वज्ञातत्वाज्ञातत्वानि परस्परविरुद्धान्येकस्यां प्रतीतावेकस्यैव प्रसज्ये-रन्निति नामधेयत्वमेव तस्य समर्थितम्, तथेहापि केवलया भक्त्येति कैवल्यगुणयुक्ताया भक्तेः फलसाधनत्वे विवक्षिते तस्याः कैवल्यं प्रति

प्रति गौणता होगी तथा एकहीमें उद्देश्यता-विधेयता, ज्ञातता-अज्ञातता आदि परस्पर विरुद्ध दोषोंकी आपत्ति होगी* इसलिये 'वाजपेय' शब्द यज्ञका नाममात्र है, इस प्रकार उसकी नामधेयताका समर्थन किया गया है। इसी तरह यहाँ भी 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यमें कैवल्यगुणयुक्त भक्तिको ही यदि फलकी साधिका माननी इष्ट हो तो भक्ति कैवल्यके प्रति प्रधान और फलके प्रति गौण हो जायगी और ऐसी

---

* स्वर्ग आदि कामनाओंके लिये जो यज्ञ किया जाता है उसके द्वारा एक 'अपूर्व' नामक फलकी उत्पत्ति होती है वही 'अपूर्व' स्वर्गादिका साधक होता है। अपूर्वको ही अदृष्ट भी कहते हैं, इसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, इसलिये यह 'अज्ञात' है, यज्ञके द्रव्यादि साधनोंसे यह उत्पन्न किया जाता है अतः 'विधेय' है। इसके विपरीत द्रव्य आदि साधन प्रत्यक्ष दृष्ट होनेके कारण ज्ञात हैं तथा 'अपूर्व' के उत्पादक होनेसे 'उद्देश्य' हैं। पूर्व मीमांसामें वाजपेय यज्ञके प्रकरणमें इस बातका विचार किया गया है कि 'वाजपेय' शब्दका अर्थ क्या है? क्या वाजपेय शब्दसे द्रव्य आदि साधनका ग्रहण होता है? या उससे उत्पन्न होनेवाले अपूर्वका? यदि 'अपूर्व' का ग्रहण मानें तो जहाँ यह कहा जाता है कि 'वाजपेय द्वारा यजन करे' वहाँ 'अपूर्व' द्वारा यजन नहीं बन सकता; क्योंकि अपूर्व तो यजनका फल है। यदि द्रव्यादि साधनोंको ही वाजपेय शब्दका मुख्य अर्थ मानें तो 'यजन' रूप कार्यका संबन्ध प्रधानतया अन्नादि द्रव्योंसे होगा और गौणरूपसे 'अपूर्व' के साथ होगा। ऐसी स्थितिमें एक ही वाजपेय शब्द प्रधानतया अन्नादि द्रव्योंका वाचक होकर उद्देश्य और ज्ञात होगा तथा वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राधान्यात् फलं प्रति च गुणभावाद्विरुद्धत्रिकद्वयापत्तिरनिवार्यैव; तस्मात्कारणविशेषणमेव पौष्कल्यम्।

दशामें परस्पर विरुद्ध [प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन] पूर्वोक्त युग्म त्रिकों-की आपत्तिका निवारण असम्भव हो जायगा, इसलिये पौष्कल्य-पद कारणका ही विशेषण है†।

गौणरूपसे अपूर्वके साथ सम्बद्ध होकर विधेय एवम् अज्ञात होगा। इस प्रकार एक ही प्रतीतिमें प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन परस्पर विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होगी। इसलिये 'वाजपेय' शब्द केवल यज्ञका नाममात्र है, वह द्रव्य आदिमें विशेषरूपसे रूढ़ नहीं है—ऐसा निश्चय किया गया है।

† भाव यह है कि 'केवलया भक्त्या' इस वाक्यका यदि यह अभिप्राय मानें कि 'कैवल्यगुणसे युक्त भक्ति पापक्षयमें कारण है तो एक ही भक्तिका केवल शब्दसे भी सम्बन्ध होता है और फलके साथ भी। इनमें केवल शब्दके साथ तो विशेष्य होनेके कारण वह 'प्रधानतया' अन्वित होती है और फलके साथ 'गौणरूप' से। तथा केवल शब्द साधनकोटिमें है अतः उससे अन्वित होनेपर भक्तिमें 'उद्देश्यता' रहती है और फलसे सम्बन्ध होनेपर उसमें 'विधेयता' हो जाती है। इतना ही नहीं, उद्देश्यरूपसे वह 'ज्ञात' रहती है और विधेयरूपसे 'अज्ञात'। इस प्रकार प्रधानत्व-गौणत्व, उद्देश्यत्व-विधेयत्व और ज्ञातत्व-अज्ञातत्व—इन विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होने लगती है, इसलिये केवल शब्द भक्तिका विशेषण नहीं है अपि तु कारणका ही विशेषण है, ऐसा माननेपर उक्त वाक्यका तात्पर्य यह होता है कि पापक्षयके प्रति भक्ति ही पुष्कल (निरपेक्ष) कारण है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विरोधमुद्भाव्य तत्परिहारः ।

ननु तृतीयया साधकतमत्वमभिधीयते, तमबर्थश्च सातिशयः, स चापेक्षिकः, अपेक्षा च नासति साधकान्तरेऽवकल्पते, केवलप्रातिपदिकेन च पौष्कल्यमभिधीयत इति परस्परव्याहतमेतत् ।

पूर्वपक्षी—परन्तु 'केवलया भक्त्या' की तृतीया विभक्तिसे तो यहाँ साधकतमत्वका प्रतिपादन होता है, साधकतम शब्दमें जो तमप् प्रत्यय है उसका अर्थ 'अतिशय (अधिकता) सहित है,' अतिशयभाव भी अपेक्षाकृत होता है, अपेक्षा भी किसी अन्य साधककी उपस्थितिके बिना नहीं हो सकती और यहाँ पौष्कल्यका कथन केवल प्रातिपदिक संज्ञासे होता है, इस प्रकार ये बातें परस्पर विरुद्ध हैं‡ ।

‡ इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये—'केवलया भक्त्या' (केवल भक्तिसे पाप नष्ट होता है) इस वाक्यमें तृतीया विभक्ति (करण कारक) के द्वारा यह प्रतिपादन होता है कि भक्ति पापनाशका साधक ही नहीं, साधकतम (अतिशय साधक) है। 'साधकतम' शब्दमें जो 'तमप्' प्रत्यय है उसीका अर्थ अतिशय है। हम किसीको अतिशय साधक तभी कह सकते हैं, जब उससे निम्न श्रेणीके अन्य अनेकों साधक उपलब्ध हों। जहाँ दूसरे साधक हैं ही नहीं वहाँ किसकी अपेक्षा अतिशय साधक होगा? अतिशयकी सिद्धि तो अन्य साधकोंके होनेपर ही हो सकती है। इसी आशयसे पूर्वपक्षीने शङ्का की है कि तृतीया विभक्तिद्वारा भक्तिको 'साधकतम' माननेपर अन्य सामान्य साधकोंकी उपस्थिति अनिवार्य हो जाती है, ऐसी दशामें वह निरपेक्ष साधन नहीं रहती; क्योंकि उसे अन्य सामान्य साधकोंकी अपेक्षा है। एक ओर तो यह बात है, दूसरी ओर 'केवल' रूप प्रातिपदिकसे पौष्कल्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदयुक्तम्, अतिशयोऽप्यत्र कार्यसन्निकर्षोऽभिप्रेतः; स च नापेक्षिक एव, अपि त्वनापेक्षिकोऽपि; तदाहुर्वार्तिककारमिश्राः—

यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य चार्थेन संगतिः।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा॥

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि यहाँ (तृतीया विभक्तिके अर्थमें) जो अतिशय भाव है वह कार्य-सन्निकर्ष-रूप ही माना गया है* और वह साधकान्तरकी अपेक्षा रखता ही है—ऐसा नियम नहीं है, अपि तु, उसकी अपेक्षा नहीं भी रखता है। अतएव पूज्यपाद वार्तिककारने कहा है—

"अथवा इन्द्रिय, विषयके साथ इन्द्रियोंका संयोग, इन्द्रियोंके साथ मनका संयोग, आत्माके साथ मनका संयोग अथवा ये सभी प्रमाण (साधकतम) हैं।"

(निरपेक्षता) का प्रतिपादन होता है; क्योंकि केवल शब्दका अर्थ ही है 'एक मात्र।' 'एक मात्र साधक है' ऐसा कहनेसे अन्य साधनोंकी अपेक्षाका अभाव स्पष्ट ही प्रतीत होता है—इस प्रकार यहाँ परस्पर विरोध है।

१. निकट-से-निकट कालमें एक क्षणका भी व्यवधान न करके कार्यकी सिद्धि होना ही कार्य-संन्निकर्ष है।

* पूर्वपक्षीकी उक्त शङ्काका उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है—तुमने जो यह कहा कि साधकतम (अतिशय साधक) में अतिशय भावकी सिद्धिके लिये अन्य साधककी अपेक्षा है, सो ठीक नहीं है; क्योंकि हम दूसरेकी अपेक्षासे 'अतिशय' होना नहीं मानते, हमारे मतमें अतिशयभाव 'कार्य-सन्निकर्षरूप' ही है अर्थात् हम उसीको अतिशय साधक (साधकतम) मानते हैं जो क्षणभरका भी व्यवधान न करके कार्य सिद्ध कर सके। ऐसा माननेसे अन्य साधकोंकी अपेक्षाका निराकरण हो जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। अत्र चात्मन इन्द्रियार्थपर्यन्तानामापेक्षिकं साधकतमत्वम्, सर्व एव वेत्यत्र त्वनापेक्षिकम्, अवधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात्। तत्राप्यापेक्षिकत्वे कथं चिद्विप्रकर्षस्यापि सम्भवाद् अनापेक्षिक एव मुख्यः सन्निकर्षः, स एव चौत्सर्गिकस्तृतीयार्थः, साधनान्तरेषु तु प्रमाणान्तरैरुपस्थापितेषु तद्बलादापेक्षिकोऽपि स्वीक्रियते। अत इह कार्यप्रत्यासन्नत्वमनापेक्षिकमेव

--इस वार्तिकमें आत्माके साथ मनके संयोगसे लेकर इन्द्रिय-विषयसंयोगतक अपेक्षाकृत साधकतमत्व है और 'सर्व एव वा' (अथवा सभी हैं—) इसमें अपेक्षारहित साधकतमत्व बतलाया है; क्योंकि अपेक्षाके अवधिभूत अन्य साधनका वहाँ अभाव है। उन (सापेक्ष और निरपेक्ष दोनों सन्निकर्षों) में निरपेक्ष ही मुख्य सन्निकर्ष है; क्योंकि सापेक्षतामें किसी प्रकार कुछ कालतक व्यवधानकी भी सम्भावना रहती है। और वह (निरपेक्ष सन्निकर्ष) ही तृतीया विभक्तिका स्वाभाविक अर्थ है। अन्य प्रमाणोंसे उपस्थित किये गये साधनान्तरोंमें तो उनके बलसे ही आपेक्षिक सन्निकर्ष भी स्वीकार कर लिया जाता है। [जैसे पूर्वोक्त वार्तिकमें इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा विषयेन्द्रिय-संयोग आदिमें साधकतमत्व स्वीकार किया गया है] अतः यहाँ प्रतिबन्धकरहित तृतीयाके द्वारा निरपेक्ष कार्यसन्निकर्षका ही प्रतिपादन होता है। इससे

---

१. अर्थात् इन्द्रियकी अपेक्षा विषयेन्द्रियसंयोग और उसकी भी अपेक्षा इन्द्रियमनःसंयोग साधकतम है, इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी अपेक्षा उत्तरोत्तर साधकतम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुक्तप्रग्रहया तृतीययाऽभिधीयते; ततश्च सिद्धमेव पौष्कल्यं स्पष्टार्थमनूद्यते केवलयेति न व्याघातः।

न चैकहायन्यादिभिरन्वितः सोमक्रय इव भक्त्या कैवल्येन चान्वितमंहोविधूननमेव प्रतीयते, परस्परान्वयस्तु तयोः पार्ष्ठिक इति वक्तव्यम्; अघधूननस्य फलस्योद्दिश्यमानत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः, तस्मादस्मदुक्तैव वाचोयुक्तिर्वरीयसी। तस्मान्निरपेक्षमेव भगवन्नामकीर्तनं पापक्षयहेतुर्नान्याङ्गभूतं न चान्यसमुच्चितमिति।

यह सिद्ध ही हो गया कि केवल शब्दसे पौष्कल्य (निरपेक्ष साधनत्व) का ही कथन है; स्पष्ट समझनेके लिये ही ['केवलया भक्त्या' में] केवल शब्दका अनुवाद हुआ है; अतः कोई विरोध नहीं है।

"अरुणया[1] एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति" इस वचनद्वारा जिस प्रकार एकहायनी आदिसे युक्त ही सोम-क्रय होता है उसी तरह 'केवलया भक्त्या' इस वचनद्वारा भक्ति और कैवल्य–दोनोंसे युक्त ही पाप-नाशन प्रतीत होता है, उनमें परस्पर अन्वय तो पीछे किया गया है—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा माननेपर पापनाशरूप फल उद्देश्य कोटिमें आ जायगा; अतः उसकी विधेयता सिद्ध नहीं होगी। इसलिये हमारी कही हुई युक्ति ही श्रेष्ठ है। अतः सिद्ध हुआ कि भगवन्नामकीर्तन निरपेक्षरूपसे ही पापनाशका कारण है किसी अन्य (मन्वादि-प्रायश्चित्त) का अङ्ग होकर या उसके साथ मिलकर नहीं।

---

१. एक सालकी पिङ्गलनेत्रोंवाली बछियासे [उसके बदलेमें] सोम-रस खरीदे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामकीर्तनस्यान्यकर्माङ्गत्वनिरासः

यत्तूक्तं पुराणवचनैरेवाङ्गत्वमवगम्यत इति, तदयुक्तम्; प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्यस्यायमर्थः—प्रायश्चित्तानि न निष्पुनन्ति न सम्यक् पुनन्तीति, सम्यक्त्वञ्चात्र वासनापरिक्षयः, स च न कर्मसाध्यः, तानि हि नारायणपराङ्मुखमधिकुर्वन्ति तस्य च कथं वासनाविध्वंसं विदध्युः ? तस्य भक्तिज्ञानैकसाध्यत्वात्। यस्तु

तुमने जो यह कहा था कि 'पुराणोंके ['प्रायश्चित्तानि चीर्णानि०...' इत्यादि] वचनोंसे ही यह ज्ञात होता है कि नामकीर्तन अन्य कर्मोंका अंगभूत है' वह भी अयुक्त ही है; क्योंकि 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि' इसका अर्थ यह है—प्रायश्चित्तानि न निष्पुनन्ति--प्रायश्चित्त [आचरित होनेपर भी भगवद्विमुखको] भलीभाँति पवित्र नहीं कर सकते। यहाँ 'भलीभाँति' कहनेका तात्पर्य है वासनाका सर्वथा क्षय हो जाना, और वासनाक्षय कर्मद्वारा साध्य नहीं है। वे प्रायश्चित्त नारायण-विमुखपर अधिकार रखते हैं, पर उसकी वासनाका नाश कैसे कर सकते हैं? क्योंकि वासनाका नाश तो केवल भक्ति और ज्ञानसे ही हो सकता है। परन्तु जो नारायण-

---

१. प्रायश्चित्तानि चीर्णानि नारायणपराङ्मुखम्।
न निष्पुनन्ति राजेन्द्र सुराभाण्डमिवापगाः॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारायणप्रवणः स कर्मात्मकेषु प्रायश्चित्तेषु न प्रवर्तत एव। एवं च पापक्षयं कुर्वतामेव प्रायश्चित्तानां तद्वासनाक्षयहेतुत्वं निवार्यते।

अत्र स्मृतिविरोधपरिहारः।

न चैवं सति मन्वादिवचनविरोधो न वा विशेषणानर्थक्यम्, हेतुत्वेनोपयोगात्, इदमेव च स्पष्टीकृतं कर्मणा कर्मनिर्हार इति, न हि तस्य कर्मणा कर्मनिर्हारो नास्तीत्यर्थः, अपि तु नात्यन्तिक इति, आत्यन्तिकत्वञ्च सह वासनाभिः परिक्षय इति। अविद्वदधिकारत्वादिति

परायण है, वह कर्मरूप प्रायश्चित्तोंमें प्रवृत्त ही नहीं होता, इस प्रकार जो केवल पापक्षयके साधक प्रायश्चित्त हैं उनके वासना-क्षयमें कारण होनेका निषेध किया जाता है।

ऐसा होनेपर न तो मन्वादि-वचनोंसे विरोध होता है और न 'नारायणपराङ्मुखम्' यह विशेषण ही व्यर्थ होता है; क्योंकि विशेषणको हेतु मान लेनेसे उसका उपयोग हो जाता है। इसी बातको 'कर्मणा कर्मनिर्हारः'[1] इत्यादि वचनोंसे स्पष्ट किया गया है। उसका यह अर्थ नहीं है कि कर्मसे कर्मका नाश नहीं होता, अपि तु 'आत्यन्तिक विनाश नहीं होता' यह अर्थ है। आत्यन्तिकका अभिप्राय यह है कि वासनाओंके साथ ही उसका नाश हो 'अविद्वदधिकारत्वात्' यह कथन भी उसकी हेतुताको ही प्रकट करता है।

---

१. कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारत्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हेतुत्वमेव प्रकटयति, अधिक्रियतेऽस्मिन् पुरुष इत्यधिकारः, अविद्वुषोऽधिकारोऽविद्वदधिकारस्तस्य भावस्तस्मात्, भगवत्पराङ्मुखविषयत्वात्प्रायश्चित्तानामित्यर्थः । विमर्शनमिति च ब्रह्मविद्या दृष्टान्तत्वेनानूद्यते न विधीयते, भक्तेरेव प्राकरणिकत्वात् ।

तथा—

क्वचिन्निवर्ततेऽभद्रात्क्वचिच्चरति तत्पुनः ।
प्रायश्चित्तमतोऽपार्थं मन्ये कुञ्जरशौचवत् ॥

जिसमें पुरुष अधिकृत किया जाय उसे अधिकार कहते हैं, अविद्वान् (अज्ञानी) का जो अधिकार है वही अविद्वदधिकार कहा जाता है उसका भाववाचक शब्द 'अविद्वदधिकारत्व' है, इसमें पञ्चमी विभक्ति जोड़नेसे 'अविद्वदधिकारत्वात्' शब्द बना है; इससे तात्पर्य यह निकला कि प्रायश्चित्त भगवद्विमुखके ही लिये हैं । विमर्शन कहते हैं ब्रह्मविद्याको, इसका दृष्टान्तरूपसे अनुवाद हुआ है, विधान नहीं किया जाता है; क्योंकि यहाँ भक्तिका ही प्रकरण है । तथा;

"[प्रायश्चित्त करनेवाला मनुष्य] कभी पापसे निवृत्त होता है और कभी पुनः उसे करने लगता है; अतः मैं [उसके किये हुए] प्रायश्चित्तको हाथीके स्नानकी भाँति व्यर्थ ही समझता हूँ ।"

---

१. यह व्याख्या 'अविद्वदधिकारत्वात्' पाठ मानकर की गयी है । 'अविद्वदधिकारित्वात्' पाठ माननेपर यों व्याख्या करनी चाहिये—'अविद्वान् अधिकारी यस्मिंस्तत्, तस्य भावः, तस्मात् ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति सतीषु पापवासनासु पापप्रवृत्तेरवश्यंभावात् 'प्रायश्चित्तमनर्थकम्' इति ब्रुवतेदमेवोपजीव्यते ।

नामकीर्तनात् सवासनानां पापानां ध्वंसः

तथा—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

इत्येतदपि संवादकम् ।

यस्मिन् यस्मिन्निमित्ते यद्यत्प्रायश्चित्तं विहितं तपोदानव्रतादि च तैः प्रायश्चित्तैस्तान्यघान्येव पूयन्ते नश्यन्ति; न पुनरधर्मजम् अधर्मेभ्यो जातम्, अन्येषु-

उपर्युक्तश्लोकार्थनिरूपणम् ।

इस प्रकार पाप-वासनाओंके रहते हुए अवश्य ही पापकी प्रवृत्ति होनेके कारण 'प्रायश्चित्त व्यर्थ है' ऐसा कहते हुए यही सिद्ध करते हैं [कि प्रायश्चित्त पापोंके संस्कारकी निवृत्ति नहीं कर सकते] ।

तथा—

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।
नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥

यह वचन भी पूर्व कथनका ही अनुमोदन करता है ।

जिन-जिन पापोंके निमित्त जो-जो तप, दान और व्रत आदि प्रायश्चित्त विहित हैं उन-उनके द्वारा वे-वे पापमात्र ही नष्ट होते हैं, अधर्मज अर्थात् अधर्मसे उत्पन्न हुआ चित्त शुद्ध नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग्रहणाड्डः; ततश्च तत्तत्संस्कारविशिष्टतयोत्पन्नं हृदयम्, ईशाङ्घ्रिसेवया तु तदपि पूयते, अपिशब्दान्न केवलमघानि नश्यन्ति; अपि तु तत्संस्कारा अपीति । ईशाङ्घ्रिसेवा चात्र न

होता । 'अन्येष्वपि दृश्यते' * (३।२।१०१) इस पाणिनि-सूत्रमें 'अन्येषु' पदका ग्रहण किया है, अतः सभी उपाधियोंसे रहित केवल 'जन्' धातुसे तथा जातिभिन्न पञ्चम्यन्त और सप्तम्यन्तसे इतर उपपद रहनेपर भी 'ड' प्रत्यय होता है, इसलिये अधर्मपूर्वक 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय हुआ [फिर 'अधर्म जन् ड' इस अवस्थामें 'ड्' की इत्संज्ञा और धातुके 'अन्' भागका लोप हो जानेसे अधर्मज शब्द सिद्ध हुआ] उस अधर्मके संस्कारसे विशिष्ट होकर जो चित्त बना है वही अधर्मज है। [प्रायश्चित्तोंसे वह शुद्ध नहीं होता] परन्तु भगवान्‌के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है । अपि (भी) शब्दके उच्चारणसे यह अभिप्राय व्यक्त हुआ कि 'केवल पाप ही नष्ट नहीं होते अपि तु, पापोंके संस्कार भी नष्ट हो जाते हैं'।

---

* यहाँ शंका होती है कि 'अधर्मेभ्यो जातम्' इस विग्रहमें पञ्चम्यन्त अधर्म शब्द उपपद रहते हुए 'जन्' धातुसे 'ड' प्रत्यय कैसे होगा ? क्योंकि 'सप्तम्यां जनेर्डः' इस सूत्रके अनुसार सप्तम्यन्त उपपद रहते हुए ही जन् धातुसे 'ड' प्रत्ययका विधान होता है, पञ्चम्यन्त उपपद रहते हुए यदि होता भी है तो वह शब्द अजातिवाचक रहे तभी होता है। इसके उत्तरमें कहते हैं— 'अन्येष्वपि' इत्यादि ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चतुर्थी पादसेवनलक्षणा भक्तिर्विवक्ष्यते; किं तर्हि ? कीर्तनलक्षणा तदधिकारत्वात्, तथा हि सेवा भजनं भक्तिरिति पर्यायाः ।

नवधा भक्तिः

सा चात्र—

श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

'भगवच्चरणसेवा' से यहाँ नवधा भक्तिमें कही हुई पादसेवनरूपा चौथी भक्ति नहीं विवक्षित है, तो क्या विवक्षित है ? कीर्तनरूपा भक्ति ही विवक्षित है; क्योंकि उसीका प्रकरण चल रहा है । इस प्रकार सेवा, भजन और भक्ति ये पर्याय (समान अर्थवाले) शब्द हैं ।

वह भक्ति भी—

"भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य (सेवकभाव), सख्य (मित्रभाव) और आत्मसमर्पण" ।*

---

* नव प्रकारकी भक्तिके यहाँ क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—श्रवणमें राजा परीक्षित, कीर्तनमें शुकदेव, स्मरणमें प्रह्लाद, पादसेवनमें लक्ष्मी, अर्चनमें राजा पृथु, वन्दनमें अक्रूर, दास्य-भक्तिमें हनुमान्‌जी, सख्य भक्तिमें अर्जुन तथा आत्मनिवेदनमें राजा बलि प्रख्यात हुए थे । जैसा कि कहा है—

विष्णोस्तु श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्तने
प्रह्लादः स्मरणे च सेवनविधौ लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति नवधा भिद्यते, सा च प्रत्येकं कृत्स्नपापक्षयहेतुः, तत्तन्माहात्म्यप्रतिपादकवचनानां पुराणेषु भूयस्त्वात् । इह तु कीर्तनस्यैव सेतिहासमाप्रकरणपरिसमाप्तेः प्रतिपादनात् कीर्तन-लक्षणोपादीयते ।

अथ वा सर्वप्रकारापि भक्तिरत्र प्रकरणिनी, केवलया भक्त्ये-त्यविशेषेण प्रक्रमात् ; कीर्तनवदन्येषामपि शृङ्गग्राहिकया पापक्षय-हेतुत्वप्रतिपादनाच्च । तत्र—

इस प्रकार नव भेदवाली है; इनमेंसे प्रत्येक भक्ति समस्त पापोंके नाशकी कारणभूत है, क्योंकि पुराणोंमें इन सबके महत्त्व बतलानेवाले बहुत अधिक वचन मिलते हैं। परन्तु यहाँ प्रकरणकी समाप्तितक [अजामिलके] इतिहाससहित कीर्तनका ही प्रतिपादन है, इसलिये कीर्तनरूपा भक्ति ही भक्तिशब्दसे गृहीत होती है।

अथवा, यहाँ सब प्रकारकी भक्तिका प्रकरण है, क्योंकि केवलया भक्त्या (केवल भक्तिसे) इस प्रकार सामान्यरूपसे भक्तिका प्रकरण आरम्भ हुआ है और सींग पकड़कर भिन्न-भिन्न गौओंका परिचय देनेके समान कीर्तनके अतिरिक्त श्रवण आदिको भी पाप-क्षयका हेतु बतलाया गया है। उस नवधा भक्तिमें—

अक्रूरस्त्वभिवादने च हनुमान् दास्ये च सख्येऽर्जुनः
सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत्कैवल्यमेषां पदम् ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।
न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान्
स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृताः॥

इति स्मरणस्य; तदपीशाङ्घ्रिसेवयेति पादसेवनस्य; यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवयेत्यात्मनिवेदनस्य भगवज्जनसेवायाश्च; तस्या अपि मुख्यभगवद्भक्तित्वात्, सर्वपुराणेषु पुनः पुनरत्यादरेण मद्भक्तजनवात्सल्यमित्यादिभिर्विधीयमानत्वात्।

"जिन्होंने यहाँ भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंमें अपने गुणानुरागी मनको एक वार भी लगा दिया वे उन चरणोंके स्मरणरूप प्रायश्चित्तका आचरण करके यमराज और उनके पाशधारी दूतोंका स्वप्नमें भी दर्शन नहीं करते।"

यह वचन स्मरणरूपा भक्तिको, 'तदपीशाङ्घ्रिसेवया' (भगवान्की चरण-सेवासे हृदय भी शुद्ध होता है) यह वचन चरणसेवामयी भक्तिको, 'कृष्णार्पितप्राणस्तत्पूरुषनिषेवया' (कृष्णमें अपने प्राणोंको अर्पणकर उन के भक्तोंकी सेवासे मनुष्य जितना शुद्ध होता है उतना अन्य प्रकारसे नहीं) यह वचन आत्मनिवेदन और भगवद्भक्तोंकी सेवाको समस्त पापोंका क्षय करनेमें कारण वतलाता है; क्योंकि भक्तोंकी सेवा भी प्रधान भगवद्भक्ति है; तथा 'मद्भक्तजनवात्सल्यम्' (मेरे भक्तोंपर दया दिखाना) इत्यादि वचनोंसे सभी पुराणोंमें अत्यन्त आदरके साथ वारम्वार इसका विधान किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं
चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् ।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि
तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥

इति तु यमवाक्यं नवविधाया अपि, तथा हि यदिति व्यस्तमव्ययम्, अन्यथा यच्छिर इति समासे जिह्वाचेतःशब्दाभ्यां सम्बध्यमानस्य यच्छब्दस्याद:सापेक्षत्वेनासामर्थ्यप्रसङ्गाद्, विष्णुकृत्य-

---

"[हे दूतगण !] जिसकी जीभ भगवान्‌के गुणों और नामोंका उच्चारण नहीं करती, जिसका चित्त भगवान्‌के चरणारविन्दोंका स्मरण नहीं करता तथा जिसका मस्तक एक बार भी भगवान् कृष्णको नमस्कार नहीं करता उन भगवान् विष्णुके निमित्त कर्म न करनेवाले दुष्टोंको ही तुमलोग पकड़ ले आना।"

यह यमराजका वचन तो नवों प्रकारकी भक्तिका सर्व पापनाशक होना बतलाता है; इसीको स्पष्ट करते हैं— 'यच्छिरः' इस पदमें 'यत्' शब्द पृथक् अव्ययपद है, अन्यथा यदि 'यच्छिरः' इसको समासमें एकपद मानें तो 'जिह्वा' और 'चेतस्' शब्दसे सम्बन्ध रखनेवाले यत् शब्दमें इन दोनों (जिह्वा तथा चेतस्) शब्दोंकी अपेक्षा होनेके कारण असामर्थ्यका* प्रसङ्ग उपस्थित होगा। 'विष्णुकृत्यम्' शब्दसे गोबलीवर्दन्यायके

---

* ऐसी दशामें समास हो ही नहीं सकता; क्योंकि 'समर्थः पदविधिः' इस सूत्रके अनुसार सामर्थ्य रहनेपर ही समास होता है। 'संसृष्टार्थं समर्थम्' इस भाष्यकारके वचनानुसार यहाँ एकार्थीभावरूप सामर्थ्यका ग्रहण होता है। यदि यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मिति च कीर्तनस्मरणवन्दनेभ्योऽवशिष्टं श्रवणादिषट्कं गृह्यते गोबलीवर्दन्यायेन। न कृतं विष्णुकृत्यं यैस्तेऽकृतविष्णुकृत्यास्तानानयध्वमिति नवविधभक्तिहीनानामानयनप्रतिपादनेनैकैकभक्तियुक्तानामनानयनं प्रतीयते, एकाङ्गवैकल्येन प्रत्युदाहरणनियमात्। तत्रापि "वैवस्वतं संगमनं जनानाम्" इतिश्रुत्यानयनस्योत्सर्गतः प्राप्तत्वाद् भक्तानामनानयनमेव विधीयते, अप्राप्तत्वात्। ततश्च

अनुसार कीर्तन, स्मरण और वन्दनसे अवशिष्ट श्रवणादि छः साधनोंका ग्रहण होता है। जिन्होंने विष्णुका कृत्य नहीं किया है, वे 'अकृतविष्णुकृत्य' हैं, उन्हें ले आओ—इस प्रकार नव प्रकारकी भक्तिसे हीन पुरुषोंके ले आनेका कथन होनेसे यह प्रतीत होता है कि जो एक-एक भक्तिसे भी युक्त हैं उन्हें नहीं ले आना है; क्योंकि एक अंगका अभाव होनेपर प्रतिकूल उदाहरण देनेका नियम है*। यद्यपि भक्तोंका 'नहीं लाया जाना' अर्थतः प्रतीत होता है तथापि 'वैवस्वतं सङ्गमनं जनानाम्' (प्राणियोंको ले जानेवाले यमराजको) इस श्रुतिसे 'सभी जीवोंका यमराजद्वारा लाया जाना' स्वतः प्राप्त होनेके कारण भक्तोंके नहीं लाये जानेका ही विधान है; क्योंकि वह अप्राप्त है [और विधि अप्राप्तकी ही होती है]। अतः भाव यह है

यत्शब्द समस्त हो जाय तो उसके अर्थका अन्यत्र अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि वह समासवृत्तिमें आवद्ध हो चुका है और वृत्त किसीका विशेषण नहीं होता; अतएव यह परिभाषा है—सविशेषणानां वृत्तिर्न वृत्तस्य च विशेषणयोगो न।

* जैसे 'एक सालकी लाल रंगवाली बछिया देकर सोमरस खरीदे' इस कथनसे यह सिद्ध हुआ कि दो सालकी या श्वेत रंगकी बछिया देकर न खरीदे। इसी प्रकार नवविध भक्तिसे हीन पुरुषको ले आनेके लिये यमकी आज्ञा होनेसे जो एक भी भक्तिसे युक्त है उसका नहीं लाया जाना सिद्ध हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नवविधाया भक्तेरेकैकत्वेन कृत्स्नपापक्षयहेतुत्वमिति भावः। श्रवणादीनां तु माहात्म्यं स्वस्वप्रकरणे विशेषतोऽवगन्तव्यम्। प्रसङ्गागतं चैतत्, प्रस्तुतं पुनरधर्मवासनानिवृत्तिहेतुत्वं भक्तेरेव नो कर्मणामिति।

अधर्मपदार्थविवेचनम्

ननु कोऽयमधर्मो नाम ? यद्वासनानां निवृत्तये न प्रभवन्ति कर्माणि। किं हननादि कर्मैव ? किं वा तज्जन्यः संस्कारः ? किं वान्यः ? न तावत् कर्म, तस्य स्वयमेव निवृत्तत्वात् तादर्थ्येन प्रायश्चित्तविधानानुपपत्तेः, अथ संस्कारः, न तज्जन्यामन्यां वासना-

---

कि नौ प्रकारकी भक्तियोंमेंसे प्रत्येकको ही सम्पूर्ण पापोंके क्षयकी हेतुता प्राप्त है। पुराणोंमें अपने-अपने प्रकरणोंमें श्रवण आदिका माहात्म्य विशेषरूपसे जाननेयोग्य है। ऊपरकी बातें प्रसङ्गानुसार आ गयीं, प्रस्तुत विषय तो यही है कि अधर्मोंकी वासनाको निवृत्त करनेमें भक्ति ही कारण है, कर्म नहीं।

पूर्वपक्षी—यह अधर्म क्या वस्तु है ? जिसकी वासनाओंको मिटानेमें कर्म समर्थ नहीं हैं। क्या हिंसा आदि कर्म ? या हिंसादिजन्य संस्कार ? अथवा इनसे भिन्न कोई वस्तु अधर्म है ? हिंसादि कर्म तो अधर्म है नहीं; क्योंकि वह [हिंसा आदि हो जानेके उपरान्त] स्वयं ही निवृत्त हो जाता है, उसके लिये प्रायश्चित्तका विधान ठीक नहीं जँचता। यदि हिंसादि कर्मसे होनेवाले संस्कारको अधर्म कहें तो पुनः उससे होनेवाली दूसरी वासना हम नहीं मान सकते; क्योंकि एक संस्कारसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मङ्गोकुर्मः संस्कारस्य संस्कारान्तरायोगादनवस्थाप्रसङ्गात्, न वान्यः, प्रमाणाभावात्। यदाहुर्वार्तिककारमिश्राः—

तस्मात्फलप्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम्।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक्॥

इति। शक्तिमात्रमिति च यागादिजन्यः संस्कार एवोच्यते, शक्तिमन्तमन्तरेण मुख्यशक्तेरवस्थानायोगात्। उत्पत्तौ वापि पश्वादेः शक्तिमात्रकमित्यपि फलस्य पूर्वावस्था, यथोक्तं निबन्धकृद्भिः

दूसरे संस्कारकी उत्पत्ति असङ्गत है और ऐसा माननेपर अनवस्था दोषकी आपत्ति होगी। इनसे अतिरिक्त भी कोई वस्तु अधर्म नहीं है; क्योंकि उसकी सत्तामें कोई प्रमाण नहीं है; जैसा कि भगवान् वार्तिककारने भी कहा है—

"इसलिये यागादिके फलदानमें प्रवृत्त होनेके समय अथवा पश्वादिरूप फलकी उत्पत्तिके पूर्व यागादिकी जो शक्तिमात्र है वही अपूर्व है उससे भिन्न नहीं है।"*

'शक्तिमात्र' कहनेसे यागादिजन्य संस्कारका ही प्रतिपादन होता है; क्योंकि शक्तिमान्के विना मुख्य शक्तिकी स्थिति नहीं रह सकती। "उत्पत्तौ वापि पश्वादेः शक्तिमात्रकम्" इस कथनसे पश्वादि फलकी पूर्वावस्था कही गयी है; जैसा कि निवन्धकारने कहा है—फलके अङ्कुरित होनेकी अवस्था ही [पूर्वावस्था है]

---

* इस श्लोकमें पूर्वार्धसे यागादिकी फलदानकालिक उत्तर अवस्थाको अपूर्व कहा गया है और उत्तरार्धसे पश्वादिकी उत्पत्तिरूप फलकी पूर्वावस्था अपूर्व कही गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"फलस्य चाङ्कुरावस्था" इति । सा च यागादिजन्यः संस्कार एव। धर्मवदेवाधर्मः, तथा चाधर्मवासनाक्षयो नाम न कश्चित् ।

इदमपेशलम्, जात्यन्तरमेव धर्माधर्मौ न संस्कारजातीयौ, अभियुक्तैर्भेदेनानुक्रान्तत्वात् । तत्र च क्रियाज्ञानयोरेव संस्कार इति तार्किकाः । वयं तु सर्वेषामेव संस्कारव्यतिरिक्तानां विनश्यतां

और वह यागादिसे होनेवाला संस्कारमात्र ही है। अतः जिस प्रकार धर्म किसी कर्मका संस्कार है उसी प्रकार अधर्म भी है; इसलिये 'अधर्मकी वासनाका नाश' नामक कोई वस्तु है ही नहीं।

सिद्धान्ती—यह कथन अच्छा नहीं है; धर्म और अधर्म दोनों ही भिन्न जातिके हैं, संस्कारजातीय नहीं हैं; क्योंकि [अक्षपाद आदि] अभियुक्तों (विद्वानों) ने भिन्नरूपसे ही उनकी गणना की है। क्रिया और ज्ञानसे ही जन्य संस्कार होते हैं—ऐसा तो तार्किक ही मानते हैं*। हमलोग तो संस्कारातिरिक्त सभी विनाशशील पदार्थोंका संस्कार होता है, ऐसा कहते हैं; विनाशशील होनेके कारण ही उनमें संस्कारका अनुमान†

---

* नैयायिकोंके मतमें संस्कार तीन प्रकारके होते हैं—वेग, स्थितिस्थापक और भावन्त। इनमें प्रथम दो संस्कार क्रियाजन्य हैं और तीसरा ज्ञानजन्य है।

† अनुमानका प्रकार यों है—

संस्कारातिरिक्तं सर्वं संस्कारजनकम्, तद्भिन्नत्वे सति विनाशशीलत्वात्; क्रियाज्ञानवत् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सोऽस्तीति ब्रूमः, विनश्यत्त्वेनैवानुमातुं शक्यत्वात् । श्रीविष्णुपुराणे चैतदेव स्पष्टीकृतम्—

हिंसाहिंसे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते ।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते तस्मात्तत्तस्य रोचते ॥

इति । तैर्हिंसादिभिर्भाविता वासितास्तान्येव प्रतिपद्यन्ते, न चात्र धर्माधर्मशब्दाभ्यां विहितप्रतिषिद्धयोः क्रिययोरुपादानं तयोः पृथगेव हिंसादिशब्दैरुपात्तत्वात् । यद्यपि मुख्यवृत्त्याग्निहोत्र-

---

किया जा सकता है। श्रीविष्णुपुराणमें भी इसीको स्पष्ट किया गया है—

"हिंसा-अहिंसा, मृदु-क्रूर, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य—इन सबको इनकी वासनासे प्रभावित पुरुष ही प्राप्त करते हैं, अतएव इनमें उनकी रुचि हो जाती है।"

इस प्रकार उन हिंसादिकोंके द्वारा प्रभावित—उनकी वासना (संस्कार) से वासित पुरुष उन हिंसादिको ही प्राप्त करते हैं। इस वचनमें धर्म और अधर्म शब्दसे विहित तथा प्रतिषिद्ध क्रियाओंका ग्रहण नहीं है; क्योंकि उन दोनों (धर्म-अधर्म) का हिंसा आदि शब्दोंसे पृथक् ग्रहण किया गया है ‡। यद्यपि मुख्य वृत्ति (अभिधाशक्ति) से अग्निहोत्र

'संस्कारातिरिक्त सभी वस्तु संस्कार-जनक हैं, क्योंकि वे संस्कारभिन्न होते हुए विनाशशील हैं; जैसे—क्रिया और ज्ञान।'

‡ अतः ऐसा नहीं कहना चाहिये कि ज्ञान और क्रिया ही संस्कार-जनक हैं; क्योंकि उक्त श्लोकमें हिंसा आदिको भी संस्कार-जनक कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हननक्रिययोरेवार्थानर्थहेतुत्वेन धर्माधर्मशब्दवाच्यत्वं तथापि यद्द्वारेण तयोरर्थानर्थहेतुत्वं तदेवापूर्वं प्रायेण धर्माधर्मशब्दाभ्यां शास्त्रेषु व्यवह्रियते ।

मतान्तरसंवादः

वार्तिककाराणामपि स्वर्गयागयोरन्तराले किञ्चिदतीन्द्रियं तयोरेव साध्यसाधनसंबन्धनिर्वाहकं वस्तु श्रुतार्थापत्तिप्रमेयमपूर्वन्नाम न परपरिकल्पितं कार्यनियोगापरपर्यायशब्दैकसमधिगम्यं किञ्चिदिति मनीषितम्, न पुनः

और हिंसा कर्मोंको ही पुरुषार्थ तथा पुरुषानर्थका साधक होने- के कारण धर्म और अधर्म शब्दका वाच्य कहा गया है तथापि जिसके द्वारा वे दोनों अर्थ या अनर्थके कारण होते हैं उस अपूर्वका ही शास्त्रोंमें प्रायः धर्माधर्म शब्दोंसे व्यवहार किया जाता है ।

वार्तिककारको* भी यही मानना इष्ट है कि स्वर्ग और यज्ञके मध्यमें उनके साध्य-साधनभावको निभानेवाली कोई 'अपूर्व' नामक अतीन्द्रिय वस्तु है जिसका श्रुतार्थापत्ति† प्रमाणसे निश्चय होता है, अन्य लोगोंकी कल्पना की हुई एक- मात्र लिङादि-शब्दसे जाननेयोग्य 'कार्य' और 'नियोग' आदि

---

* यहाँ यह शङ्का होती है कि वार्तिककारने धर्मको संस्काररूप कैसे कहा ? इसीके उत्तरमें वार्तिककारका अभिप्राय बतलाते हैं ।

† क्षणभङ्गुर यज्ञ आदि कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलके जनक कैसे हो सकते हैं ? नष्ट हुआ कारण तो फलका साधक होता नहीं देखा जाता । इस प्रकार साध्य-साधनभावकी अनुपपत्ति ही अर्थापत्ति है, इसीसे 'अपूर्व'की कल्पना की जाती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कार एव । मण्डनमिश्रैरप्ययमेवार्थोऽङ्गीकृतः प्रारब्धक्रिययैव जीवन्मुक्तिं समर्थयद्भिः । अथ वाग्निहोत्रहननादिक्रियाणां विहित-प्रतिषिद्धत्वनिबन्धनः स्वर्गनरकहेतुरेकः संस्कारः श्रुतार्थापत्तिप्रमेयः, तासामेवान्योऽपि सजातीयोत्पत्तिहेतुः क्रियानिबन्धनोऽनुमेयः, यथा

नामोंवाली कोई वस्तु, 'अपूर्व' नहीं है । 'संस्कार ही अपूर्व है' ऐसा मानना वार्तिककारको अभीष्ट नहीं है। धर्माधर्मरूप प्रारब्ध-क्रियासे ही जीवन्मुक्तिका समर्थन करनेवाले मण्डनमिश्रजी-ने* भी यही सिद्धान्त माना है [कि धर्म और अधर्म—ये दोनों विजातीय हैं न कि संस्काररूप हैं ।] अथवा अग्निहोत्र और हिंसा आदि कर्मोंका विधि-निषेधके कारण होने-वाला एक स्वर्ग-नरकका हेतुभूत संस्कार है, जो श्रुता-र्थापत्ति प्रमाणसे निश्चित करने योग्य है और फिर उन्हीं क्रियाओंका दूसरा संस्कार भी, जो सजातीय संस्कारके उत्पत्तिका हेतुभूत और क्रियारूप हेतुसे सिद्ध होनेवाला है, अनुमानद्वारा† जान लेनेयोग्य है । जैसे योगी, शैव,

---

* यहाँ शङ्का होती है कि मण्डनमिश्र आदि वेदान्तके विद्वान् तो संस्कारको ही लेकर जीवन्मुक्तिका समर्थन करते हैं और सभी संस्कार धर्म-अधर्म शब्दसे ही कहे जाते हैं; अन्यथा उनके दुख-सुख-भोगकी उपपत्ति नहीं हो सकती—इसीके उत्तरमें मण्डनमिश्रके मतका उल्लेख करते हैं।

† अनुमान-वाक्य यों समझना चाहिये—विमता यागादिक्रिया सजाती-योत्पादकसंस्कारहेतुः; क्रियात्वात्, वेष्टनादिक्रियावत् । अर्थात् विवादकी स्थानभूत यागादिक्रिया अन्य सजातीय संस्कारको उत्पन्न करनेवाले संस्कारकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

योगिशैववैष्णवशिवलिङ्गशालग्रामादिदर्शनस्य पुरुषार्थहेतुरतिशयः शास्त्रसमधिगम्यः कश्चिदस्ति, पाषण्डिचाण्डालादिदर्शनस्य पुनरनर्थहेतुः, तयोरेवानुभवनिमित्तः स्मृतिहेतुरन्योऽपि। अस्मिंश्च विभागे—

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतो हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः॥

वैष्णव, शिवलिङ्ग और शालग्रामादिके दर्शनका कोई पुरुषार्थसाधक 'अतिशय' है, जो शास्त्रगम्य है तथा पाषण्डी और चाण्डालोंके दर्शनका भी कोई अनर्थसाधक 'अतिशय' है और फिर उन्हीं दोनों प्रकारके दर्शनोंका अनुभवसे सिद्ध स्मरणका कारणभूत दूसरा 'अतिशय' भी है। इस प्रकारके विभागमें—

"यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी चित्त कुमार्गकी ओर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित्त ऐकान्तिक—सर्वथा पापनिवर्तक नहीं है; इसलिये कर्मके आत्यन्तिक विनाशकी इच्छा रखनेवाले पुरुषके लिये भगवान्का गुणानुवाद ही ऐकान्तिक साधन है; क्योंकि वह चित्तका शोधक है।"

उत्पत्तिका हेतु है; क्योंकि वह क्रिया है, जैसे वेष्टन आदि क्रिया। 'उदुम्बरी वेष्टयितव्या' इस विधि-वाक्यसे उदुम्बर-शाखाको वेष्टित करनेकी विधि बतलायी गयी है, इसके वेष्टनसे एक संस्कार उत्पन्न होता है जो कि प्रधान यागजन्य संस्कारका जनक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्येवंजातीयकं वचनजातं प्रमाणम्। तथा हि न तावत्-

सजातीयोत्पादक- संस्कारे प्रमाणदर्शनम्

सजातीयोत्पादकः संस्कारो नास्त्येवेति वक्तुं शक्यते

यः सकृत्पातकं कुर्यात् कुर्यादेनस्ततोऽपरम्।

इति श्रुतेः।

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥

इत्यादिस्मृतेश्च। स्वर्गनरकसृष्टाविव पुण्यपापसृष्टावप्यविषमस्य कृपालोः परमेश्वरस्य प्राचीनपुण्यपापसापेक्षत्वाच्च। परमसिद्धान्तेऽप्यन-

---

इत्यादि प्रकारके वाक्यसमूह प्रमाण हैं। तथा सजातीयोत्पत्तिका हेतुभूत कोई संस्कार है ही नहीं—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस विषयमें—

"जो एक वार कोई पाप करता है वह उससे भिन्न दूसरा पाप भी कर सकता है।" यह श्रुति तथा—

"उन उत्पन्न होनेवाले जीवोंमेंसे जिन्होंने पूर्वजन्ममें जो-जो कर्म किये थे वे पुनः-पुनः जन्म लेनेपर उन्हीं-उन्हीं कर्मोंको प्राप्त करते रहते हैं।"

इत्यादि स्मृति भी प्रमाण है। स्वर्ग-नरककी सृष्टिके समान पाप-पुण्यकी सृष्टिमें भी समानभाव रखनेवाले दयामय परमेश्वर पूर्वजन्मके पुण्यपापकी ही अपेक्षा [रखते हुए जीवको तदनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त] करते हैं। परम सिद्धान्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पाक्तन्यैव सापेक्षत्वं सृष्टेर्मायामयत्वेन वैषम्यदोषसमाधानाच्च ।

संस्कारद्वयाङ्गीकारे युक्तिः यदि परं स्वर्गनरकहेतुरेव सजातीयोत्पादकोऽपीति वक्तव्यम् ; तथा च सति—

विद्यातपःप्राणनिरोधमैत्री-
तीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः ।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा
यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥

इत्यादिना वेदाभ्यासजपोपासनादिस्वाध्यायैः शुद्धेरनात्यन्ति-

(वेदान्त) में भी प्राचीन संस्कारादिकी अपेक्षाका त्याग न करके ही सृष्टिको मायामय मानकर ईश्वरमें प्राप्त होनेवाले वैषम्य-दोषका समाधान किया है ।

किन्तु यदि स्वर्ग-नरकका हेतुभूत एक ही संस्कार सजातीय उत्पत्तिका कारण है—ऐसा कहा जाय तो ऐसा होनेपर—

'विद्या (अन्य देवोपासना), तप, प्राणायाम, मैत्री, तीर्थस्नान, व्रत, दान और जपसे अन्तरात्माकी वैसी आत्यन्तिक शुद्धि नहीं होती जैसी भगवान् अनन्तके हृदयस्थित होनेपर होती है ।'

इत्यादि वचनोंसे वेदाभ्यास, जप, उपासना और स्वाध्यायसे होनेवाली शुद्धिके आत्यन्तिक न होनेकी कल्पना नहीं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कत्वाभिधानं नात्रकल्पेत; निरंशस्य संस्कारस्य सान्वयविनाशायोगात्, तस्मात्स्वर्गनरकहेतुः सजातीयोत्पत्तिहेतुश्चेति संस्कारद्वयं कर्मणामवश्यमभ्युपगन्तव्यम् ।

भक्तेरेवात्यान्तिकशुद्धिकरत्वम्

ततश्च नरकहेतुः संस्कारः प्रायश्चित्तैर्निवर्त्यते न सजातीयोत्पादकः, भक्त्या पुनरुभयविधोऽपीति भक्तेरेवात्यन्तिकशुद्धिहेतुत्वं न कर्मणामिति, अतश्च प्रायश्चित्तानि चीर्णानीत्येतदप्यनात्यन्तिकतया कर्मात्मकानि प्रायश्चित्तानि विनिन्द्य प्रकरणिनीमत्यन्तपावनीं भगवद्भक्तिमेव प्रशंसति ।

यत्पुनः सर्वकर्मसाद्गुण्यार्थत्वमिति, तदविरुद्धम्, दध्यादिवद्गु-

---

वन सकती; क्योंकि अंशरहित संस्कारका आंशिक विनाश नहीं हो सकता । अतः कर्मोंके स्वर्ग-नरकका हेतु और सजातीय उत्पत्तिका हेतु—ये दो संस्कार अवश्य मानने चाहिये ।

ऐसी स्थितिमें नरकका हेतुभूत संस्कार ही प्रायश्चित्तसे निवृत्त होता है, सजातीय उत्पत्तिका हेतुभूत संस्कार नहीं । परन्तु भक्तिसे दोनों प्रकारके संस्कार निवृत्त होते हैं; अतः भक्ति ही आत्यन्तिक शुद्धिका हेतु है कर्म नहीं । इसलिये 'प्रायश्चित्तानि चीर्णानि' यह वचन आत्यन्तिक शुद्धिका साधन न होनेसे कर्ममय प्रायश्चित्तोंकी निन्दा करके प्रकरणप्राप्त अत्यन्त पावन भगवद्भक्तिकी ही प्रशंसा करता है ।

तुमने जो यह कहा था कि नामकीर्तन समस्त कर्मोंमें सद्गुणका आधान करनेके लिये है, इससे मुझे विरोध नहीं है;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनस्य कर्मसाद्गुण्यार्थत्वेऽप्यविरोधः

भयार्थत्वोपपत्तेः, यथा दध्ना जुहोति दध्नेन्द्रियकामस्य जुहोतीत्यादिशास्त्रात् क्रत्वर्थत्वं पुरुषार्थत्वं च दध्यादिस्वरूपस्य; तथेहापि। "वासुदेवे मनो यस्य" इति तु गुणफलाधिकारः, फलश्रवणात्। न च पर्णमयीत्यादिवत् फलश्रुतेरर्थवादत्वम्, स्मरणस्य भावार्थत्वेन स्वतः फलसाधनतोपपत्तेः, पर्णतावैषम्यात्।

क्योंकि दधि आदिकी तरह वह दोनों प्रयोजनोंका साधक हो सकता है। जैसे 'दहीसे हवन करता है' 'इन्द्रियोंकी कामनावाले पुरुषके लिये दहीसे हवन करता है' इत्यादि शास्त्र-वचनोंके अनुसार दही आदिका स्वरूप यज्ञ और पुरुष दोनोंके लिये सिद्ध होता है उसी प्रकार यहाँ कीर्तन भी उभयार्थक होगा। 'वासुदेवे मनो यस्य' इस वचनमें गुणयुक्त फलका सम्बन्ध है; क्योंकि वहाँ फलका श्रवण होता है*। 'यस्य पर्णमयी जुहूः' इत्यादिकी तरह यहाँ फलश्रुति अर्थवाद नहीं है; क्योंकि यहाँ स्मरण भावार्थ (धात्वर्थ) है, अतः उसमें फलसाधनताकी स्वतः सिद्धि हो जाती है, पर्णतान्यायसे यहाँ समानता नहीं है।

---

* 'तस्यान्तरायो मैत्रेय देवेन्द्रत्वादिकं फलम्।' इस प्रकार फलका श्रवण होता है; तात्पर्य यह कि जपादिमें भगवान्का स्मरण इन्द्रपदसे भी महान् फलका हेतु है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्तोपसंहारः

तस्मादन्याङ्गत्वे प्रमाणाभावात् स्वातन्त्र्येण च सर्वपुराणानां गतिसामान्यात् स्वप्रधानमेव भगवत्कीर्तनं कृत्स्नपापक्षयहेतुरिति स्थितम् ।

श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयापरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रुनेत्रमवशं मां नाथ [1]नित्यं कुरु ॥

अतः 'कीर्तन अन्य कर्मोंका अङ्ग है' इसमें कोई प्रमाण न होनेके कारण और सभी पुराणोंके स्वतन्त्र एवं समानार्थक होनेसे नामकीर्तन स्वयं ही प्रधानरूपसे समस्त पापोंके क्षयका कारण है—यह बात सिद्ध हुई ।

"हे[1] नाथ ! आप मुझे ऐसा कर दें कि मैं प्रतिदिन 'श्रीराम, जनार्दन, जगन्नाथ, नारायण, आनन्दमय, दयामय, कमला-कान्त, कृष्ण' इत्यादि आपके नाममय महान् सुधासागरकी तरङ्गोंमें डूबकर आँखोंसे आँसू बहाता हुआ विवश होकर बारंबार मूर्छित होता रहूँ ।"

---

१. [अब नाममें दृढ़ निश्चय होनेके कारण ग्रन्थकार भगवान्से भक्तिकी प्रार्थना करते हैं—]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपादपद्मोपजीविनो लक्ष्मीधरस्य कृतौ श्रीभगवन्नामकौमुद्यां नामकीर्तनस्य पुरुषार्थत्वप्रतिपादनं नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥

इस प्रकार श्रीमान् अनन्तानन्द रघुनाथके चरण-कमलोंका आश्रय लेनेवाले लक्ष्मीधरकी कृति—भगवन्नामकौमुदीमें नामकीर्तनकी पुरुषार्थरूपताका प्रतिपादन करनेवाला दूसरा परिच्छेद समाप्त हुआ।

क्षुत्तृड्भ्यामभिभूताय मर्त्यलोके विषीदते ।
नामामृतमयीं भिक्षां देहि मे करुणार्णव ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नामकौमुदी

तृतीयः परिच्छेदः

क्रोधो दहत्येष लुनाति लोभः क्षोभं च कामादिरयं विधत्ते ।
पापैर्मनोभूः परिपीडितेयं प्रतीक्षते नाथ तवावतारम् ॥ १ ॥

विरमसि चिरमस्ति को विचारस्त्वमसि वदान्यवरो लघुर्हि याच्ञा ।
निरवधिकरुणार्णवं जनोऽयं वरयति विन्दुनिषेकमेकवारम् ॥२॥

विबुधास्तु मुधा सुधां पिबन्तु न बुधास्तत्र मनाङ्मनो नयन्ति ।
हरिनामसुधैव चेत्सुलभ्या वसुधैव त्रिदिवस्य वन्दनीया ॥३॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीकृष्णाय नमः

मङ्गलाचरणम्

यस्य नामान्यधीयानैः शुकैरपि शुकायितम् ।
विनेयैर्वल्लवस्त्रीणां स कृष्णः कुरुतात् कृपाम् ॥

पूर्वपक्षः—विकल्पव्यवस्थयोर्व्यवस्थाया ज्यायस्त्वम्

एवं भक्तिकर्मणोः संभूय साधनत्वे निरस्ते पुनरिदं विचार्यते—किमनयोर्व्यवस्था विकल्पो वेति ? तत्राधिकारिभेदेन व्यव-

---

गोपियोंके सिखलाये हुए शुकनामक पक्षी जिनके नामोंका उच्चारण करते हुए शुकदेवजीके समान ज्ञानी हो गये वे भगवान् कृष्ण मुझपर कृपा करें ।

पूर्वपक्ष नं० १

इस प्रकार (द्वितीय परिच्छेदके निश्चयानुसार) भक्ति और कर्मके एक साथ मिलकर पापक्षयमें कारण होनेका निराकरण करनेके पश्चात् पुनः इस बातका विचार किया जाता है कि भक्ति तथा कर्म इन दोनोंमें व्यवस्था[1] है या विकल्प[2] ? यहाँ [श्रद्धालु आदि] अधिकारिभेदसे व्यवस्था

---

१. किसी विशेष अधिकारीके लिये नामकीर्तन है और उससे भिन्न अधिकारीके लिये द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त हैं—इस प्रकारका नियम व्यवस्था है।

२. सभी लोग स्वेच्छानुसार नामकीर्तन अथवा द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त कर सकते हैं—यह विकल्प है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्याय्यमधिकारिविशेषणस्य किञ्चित्करत्वाच्छ्रद्धादिसहकृतस्यैव कीर्तनस्य पावनत्वं फलिष्यति, विकल्पे तु तन्निरपेक्षस्यैव, तत्र गुरुलघुनोर्विकल्पे गुरुणो ह्यत्यन्तबाधप्रसङ्गाद् व्यवस्थैव साधीयसी।

ननु नामकीर्त्तनविषयं शास्त्रं न द्वादशवार्षिकादेः साधनत्वमपलपति तत्कथं बाधः ?

उच्यते—अननुष्ठानमेवात्र बाधितत्वम्, न विषयापहारः।

माननेपर अधिकारीका [श्रद्धा आदि] विशेषण ही फलोपयोगी हो सकता है; अतः श्रद्धा आदिके सहित ही नामकीर्तन पवित्र करनेवाला है—ऐसा फलित होगा। परन्तु विकल्प माननेपर श्रद्धा आदिकी अपेक्षासे रहित नामकीर्तन ही पवित्र करनेवाला सिद्ध हो सकता है। इनमेंसे यदि विकल्प-पक्ष स्वीकार करें तो गुरु और लघुके विकल्पमें गुरुके अत्यन्त बाध होनेकी आपत्ति होगी * इसलिये व्यवस्था ही अच्छी है।

आक्षेपक—नामकीर्तन-विषयक शास्त्र तो द्वादशवार्षिक (बारह वर्षोंमें समाप्त होनेवाले) आदि प्रायश्चित्तोंकी साधनताका अपलाप नहीं करता, फिर इससे उनका बाध कैसे होगा ?

पूर्वपक्षी—कहते हैं [सुनो—] यहाँ अननुष्ठान (कर्ममें

---

* द्वादशाब्द आदि गुरु कर्म, कठिन और बहुत कालतक सिद्ध होनेवाला है, परन्तु कीर्तन लघु कर्म, सुकर और शीघ्रसाध्य है; फल दोनोंका एक ही है। ऐसी दशामें लघु कर्मके अनुष्ठानसे ही यदि कार्य सिद्ध हो जाता है तो गुरु कर्म कौन करेगा ? अतः गुरु कर्मका बाध हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यथोक्तं भट्टैः "एतेन प्रवृत्तिश्च फलं प्रमाणानां प्रवृत्त्याख्यफलापहारश्च बाधः" इति। तत्र यदा समशिष्टयोर्द्वयोरपि नोपलभ्यते विशेषः, तदा निरङ्कुशत्वादिच्छायाः कस्यचित्कदाचित्कस्मिंश्चित्प्रवृत्तिरिति द्वयोरपि पाक्षिकमनुष्ठानम्; यदा पुनरुपलभ्यते विशेषः सुकरदुष्करत्वभेदेन तदा सुकरानुरागिणीमिच्छां न कश्चिदपि कदाचिदप्यपाकृष्टमीष्ट इति दुष्करस्यात्यन्तबाध एव तस्माद् व्यवस्थैव वरीयसी।

तत्र महदल्पादिपापभेदेन व्यवस्था

तत्र केचिन्नितान्तमनुरक्ताः स्मृतिषु पुराणेभ्यश्च मना-

प्रवृत्तिका अभाव) ही बाध है, विषयापहाररूप बाध नहीं है;* जैसा कि भट्टजीने कहा है—"इस कारण प्रवृत्ति भी प्रमाणोंका फल है और प्रवृत्तिनामक फलका अपहार भी उनका बाध है।" यदि समानरूपसे विहित दो कर्मोंमें [से किसी एकमें] कोई विशेषता उपलब्ध न हो तो इच्छाकी स्वतन्त्रता होनेसे किसीकी किसी भी कर्ममें प्रवृत्ति हो सकती है। ऐसी स्थितिमें दोनोंका ही वैकल्पिक अनुष्ठान किया जा सकता है। परन्तु यदि किसीमें सुकर और दुष्कर भेदसे विशेषता प्राप्त हुई तो सुकर कर्ममें अनुरक्त होनेवाली अभिलाषाको कोई कभी नहीं त्याग सकता; अतः दुष्कर कर्मका अत्यन्त बाध हो जायगा, इसलिये विकल्पसे व्यवस्था ही श्रेष्ठ है।

यहाँ कुछ लोग स्मृतियोंमें अत्यधिक अनुरक्त होकर पुराणोंसे किञ्चित् भय मानते हुए छोटे-बड़े, प्रकट-गुप्त अथवा

---

* विषयापहाररूप बाध तो तब होता जब कि नामकीर्तनविषयक वचनमें द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्तके पापनाशक होनेका खण्डन किया गया होता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्विष्यतो महदल्पपापभेदेन वा ज्ञाताज्ञातकृतभेदेन वा प्रकाशरहस्यभेदेन वा स्मार्त्तं पौराणञ्च प्रायश्चित्तं व्यवस्थापनीयमिति वदन्ति, ततश्चाल्पाज्ञानादिकृतविषयैः स्मार्त्तैर्विकल्प्यते पौराणमित्युक्तं भवति ।

उक्तव्यवस्थायाः खण्डनम्

तन्न साधीयः—

पापे गुरूणि गुरुणि स्वल्पान्यल्पे च तद्विदः ।
प्रायश्चित्तानि मैत्रेय जगुः स्वायम्भुवादयः ॥
प्रायश्चित्तान्यशेषाणि तपःकर्मात्मकानि वै ।
यानि तेषामशेषाणां कृष्णानुस्मरणं परम् ॥

इति गुरुलघुसर्वपापानामविशेषेण कृष्णानुस्मरणस्य मुख्यप्रायश्चित्तत्वाभिधानात् ।

जानकर या विना जाने किये हुए पापोंके भेदसे स्मार्त (स्मृतिकथित) और पौराणिक प्रायश्चित्तकी व्यवस्था करनी चाहिये—ऐसा कहते हैं । इससे अल्प, अज्ञानकृत और गुप्तपापविषयक स्मार्त प्रायश्चित्तोंके साथ पौराणिक प्रायश्चित्तका विकल्प है—यह प्रतिपादित होता है ।

परन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि—

"हे मैत्रेय ! पापोंके प्रायश्चित्तको जाननेवाले स्वायम्भुवमनु आदि स्मृतिकारोंने महान् पापके लिये महान् और लघुके लिये लघु प्रायश्चित्त बतलाये हैं । वे जो तपःकर्मरूप सम्पूर्ण प्रायश्चित्त हैं उन सभीमें भगवान् कृष्णका स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है ।"

इस प्रकार सामान्यतः छोटे-बड़े सभी पापोंके लिये कृष्णका स्मरण ही मुख्य प्रायश्चित्त कहा गया है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अवान्तरपूर्वपक्षः—कीर्तनस्य महापातकाद्यनिवर्तकत्वम्

ननु को नाम न ब्रूते कृष्णानुस्मरणं महापातकादिप्रकीर्णान्तसर्वाघसंहरणमिति, सा हि ब्रह्मविद्या, तथा हि कृषति विलिखति विदारयति संसाराटवीमिति वा, कर्षति—आकर्षति—आत्मसात्करोति वाज्ञानमिति वा कृष्णः परमात्मा, सदानन्दरूपो वा;

कृष्णस्मरणशब्दस्य ब्रह्मविद्यार्थत्वकल्पनम्

> कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
> तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥

इति च स्मृतेः। तस्य चायमर्थः—भवनं भूः सत्ता तद्वाचको

पूर्वपक्ष नं० २

पूर्वपक्षी—भगवान् कृष्णका स्मरण महापातक (ब्रह्महत्यादि) से लेकर प्रकीर्ण (छोटे) पापोंतक सभीका संहार करनेवाला है—ऐसा कौन नहीं कहता? किन्तु यहाँ कृष्ण-स्मरण ब्रह्मविद्या है, वह इस प्रकार है—कर्षण करता—फाड़ता अर्थात् संसार-रूपी वनका विदारण (नाश) करता है अथवा कर्षण करता—खींचता अर्थात् अज्ञानको अपने वशमें करता है इसलिये कृष्ण—परमात्मा अथवा सदानन्दस्वरूप है। इसमें निम्नाङ्कित स्मृति प्रमाण है—

"'कृष्' शब्द भू (सत्ता) का वाचक है और 'ण' आनन्दका। इन दोनोंकी एकता परब्रह्म है; उसे ही कृष्ण कहते हैं।"

इसका भाव यह है—भूका अर्थ है भवन अर्थात् सत्ता (सदा रहना), अतः यहाँ भूवाचक शब्दका अर्थ हुआ सत्तावाचक;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भूवाचकः, न तु पृथिवीवाचक इति; निर्वृतिवचनेन णकारेणानन्वयात्, पृथिवीवर्तिनां जीवानामानन्दो यस्मादिति विग्रहे लक्षणाप्रसङ्गात्, आस्थावरमाचतुराननञ्च सर्वेषां जीवानामानन्दयितरि स्वसमयपरिपच्यमाननानापुण्योपसादितविविधविषयसन्निधिसंसृज्यमानमनोमुकुरमण्डलान्तरभिव्यज्यमानतया तत्तदानन्दतयोपधीयमाने परमात्मनि पृथिवीगतानन्दत्वस्य तद्हेतुत्वस्य चाविवक्षितत्वात्, विवक्षितत्वे वा "ये वामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां

पृथ्वीवाचक नहीं, क्योंकि [पृथिवी जड़ वस्तु है, अतः] उसका आनन्दवाचक णकारसे अन्वय नहीं हो सकता। यदि 'पृथ्वीपर रहनेवाले जीवोंको जिससे आनन्द प्राप्त होता है [वह कृष्ण है]'—ऐसा विग्रह करें तो लक्षणाका प्रसङ्ग* उपस्थित होता है। और जो स्थावरसे लेकर ब्रह्माजीतक सभी प्राणियोंको आनन्द देनेवाले हैं तथा समयानुसार फल देनेवाले नाना प्रकारके पुण्योंद्वारा प्राप्त भाँति-भाँतिके विषयोंकी सन्निधिसे रचे हुए मनरूपी दर्पणके भीतर अभिव्यक्त होनेके कारण जो उन-उन [माल्यानन्द, चन्दनानन्द आदि] आनन्दोंके रूपमें उपाधिसे प्रतीत होनेवाले हैं उन आनन्दमय परमात्मामें केवल पृथिवीके जीवोंका आनन्दत्व और उन्हींके आनन्दकी उत्पत्तिका कारणत्व विवक्षित नहीं है। यदि विवक्षित मानें तो "जो उस आदित्यमण्डलसे परवर्ती लोक हैं

* जड होनेके कारण पृथिवीमें आनन्द रह नहीं सकता; अतः पृथिवी शब्दकी उसपर रहनेवाले जीवमें लक्षणा माननी पड़ेगी तथा जीव शब्दमें षष्ठ्यर्थकी भी लक्षणाद्वारा ही उपस्थिति होगी, इस प्रकार दो बार लक्षणाकी आपत्ति होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

च" इत्यादिशास्त्रविरोधात् । तस्मान्निरवद्यस्य सर्वेषामात्मभूतस्य सदानन्दस्यानुस्मरणं पुनः पुनश्चिन्तनं सजातीयप्रत्ययावृत्तिलक्षणं विजातीयप्रत्ययनिरोधलक्षणं वा निदिध्यासनमिहोपादीयते । तस्य चात्मसतत्त्वसाक्षात्कारकारणभूतं श्रवणं प्रति फलोपकार्य्यङ्गभूतस्यासम्भावनानिरासवत् तत्प्रतिबन्धकपातकप्रध्वंसोऽपि द्वारकार्य्यं भवत्येव;

उनका और देवताओंके आनन्दोंका भी ईशन (शासन) करनेवाला ईश्वर है।" इत्यादि शास्त्रोंसे विरोध पड़ता है। इसलिये सबके आत्मभूत और अनिन्दनीय सदानन्दस्वरूप परमात्माका किया हुआ चिन्तन अर्थात् सजातीय प्रतीतियोंकी आवृत्ति या विजातीय प्रतीतियोंकी निवृत्तिरूप निदिध्यासन ही यहाँ [ऐक्य शब्दसे] गृहीत होता है। वह निदिध्यासन आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके कारणभूत श्रवणका फलोपकारक अङ्ग है और जिस प्रकार प्रमाण एवं प्रमेयकी असम्भावनाको निवृत्त करना [श्रवण तथा मननका] मुख्य कार्य है उसी प्रकार आत्मतत्त्वसाक्षात्कारके प्रतिबन्धक पापोंका नाश करना भी उस (निदिध्यासन) का मुख्य कार्य है ही *। इस विषयमें—

---

* इस प्रसङ्गका स्पष्टीकरण यों है—पहले यहाँ यह प्रश्न उठता है कि निदिध्यासन तो साक्षात् ज्ञानका हेतु है उसे पापक्षयका साधन कैसे माना जाय? इसीके उत्तरमें कहते हैं कि साक्षात् ज्ञानका हेतु श्रवण ही है; निदिध्यासन तो उसका अङ्ग है, जो उसके फलमें उपकारक होता है। तथा निदिध्यासनका मुख्य व्यापार पापक्षय ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।

इति स्मरणात्, कीर्तनस्य महापातकादिनिवर्तकत्वे नेदं प्रमाणम् ।

मध्यमपक्षः—अनन्तरोक्तपूर्वपक्षखण्डनमुक्तव्यवस्थानिरासश्च

कृष्णशब्दस्य रूढ-यौगिकार्थप्रदर्शनम्

इदमसुन्दरम्, कृष्णशब्दस्य तमालश्यामलत्विषि यशोदास्तनन्धये ब्रह्मणि रूढत्वात्; रूढिर्योगमपहरतीति न्यायात् । यौगिकत्वे वा दुर्वारमदनमहाग्रहगृहीततया समुल्लङ्घितसकलसेतूनां गोकुलकामिनीनाम्, अतिविषमरो-

---

"पापकर्मका नाश हो जानेसे ही मनुष्योंको ज्ञानकी उत्पत्ति होती है"

यह स्मृति प्रमाण है। इसलिये ये [पूर्वोक्त 'पापे गुरूणि गुरूणि…'इत्यादि दोनों] वचन कीर्तनके महापातकादि-निवर्तक होनेमें प्रमाण नहीं हैं।

मध्यम पक्ष (पूर्वपक्ष नं० २ का खण्डन)

मध्यस्थ—यह कथन तो अच्छा नहीं मालूम होता; क्योंकि 'रूढि योगका अपहरण कर लेती है' इस न्यायके अनुसार 'कृष्ण' शब्द यशोदाके दूध पीनेवाले तमालके समान श्यामल कान्तियुक्त ब्रह्ममें ही रूढ है। अथवा यौगिक माननेपर भी, अनिवार्य प्रेमरूपी महान् ग्रहसे गृहीत होनेके कारण [भगवान्में तन्मय होकर] समस्त सेतुओं (बन्धनों) का उल्लङ्घन करनेवाली

१—'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत्प्रथाम्' इस प्रसिद्धिके अनुसार ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षावेशविवशविश्रृङ्खलसकलकरणवृत्तीनां पूतनाप्रभृतीनामरातीनाम्, अत्यन्तपराचीनचेतसां यमुनावनपशुपक्षिसरीसृपाणाम्, अतिबहल-मोहपटलीपिनद्धसर्वेन्द्रियाणां वृन्दावनतरुगुल्मलतावीरुधामपि मुक्ति-सुखमनिवारितं वितरतो नित्यनिरस्तनीहारतया निरन्तरस्वमहिमस-मुल्लसदनन्तानन्दस्य गोपालशिरोमणेः सर्वप्रकारोऽपि योगोऽस्यैवेति तस्यैवेह ग्रहणं न निर्गुणस्य ब्रह्मणः; प्रयोगप्राचुर्य्यात्तत्रैव प्रथम-

---

गोकुलकी कामिनियोंको, अत्यन्त विषम रोषके आवेशसे विवश एवं उच्छृङ्खल इन्द्रियोंवाले पूतनादि शत्रुओंको, अत्यन्त बहिर्मुख (विषयोन्मुख) चित्तवाले यमुना और वृन्दावनके पशु, पक्षी तथा सर्पादिकोंको और बुद्धिगत विपुल व्यामोहरूप आवरणसे ढँकी हुई समस्त इन्द्रियोंवाले वृन्दावनीय वृक्ष, तृण, लता तथा वेलोंको भी जो अबाध मोक्ष-सुख बाँटते थे, सदा ही अज्ञानरहित होनेके कारण निरन्तर अपनी ही महिमामें उल्लसित होनेवाला अनन्त आनन्द ही जिनका स्वरूप है ऐसे इन गोपाल-शिरोमणिमें ही [कर्षण करना आदि] सब प्रकारका यौगिक अर्थ भी है; अतः उन्हींका यहाँ ग्रहण है, निर्गुण ब्रह्मका नहीं; क्योंकि गोपाल कृष्ण अर्थमें ही कृष्ण शब्दका अधिक प्रयोग होनेके कारण उसी अर्थमें सर्वप्रथम प्रतीतिका उदय होता है।

मदन शब्दका 'प्रेम' अर्थ किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्प्रतीतेरुदयात् । तस्य चानुस्मरणं कीर्तनमेव न ध्यानम्, वाक्य-शेषे कीर्तनस्यैव प्रशंसनात्;

क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् ।
क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम् ॥

इति । न चान्यद्विधीयतेऽन्यत्प्रशस्यत इति सङ्गच्छते । अपि च प्रतीचीनमात्मवस्तु न कदाचिदपि स्मरणाङ्गनमवतरति, प्रतीचीनत्वस्यैव व्याघातात्, अतस्तस्य नाम्ना रूपेण वा तदुभयनिरासेन वोपाधिना तद्विषयत्वं वक्तव्यम्, तत्र नामोपाधिकं स्मरणमिह गृह्यते

उन भगवान् कृष्णका निरन्तर स्मरण, कीर्तन ही है ध्यान नहीं; क्योंकि वाक्यके शेषभूत अगले श्लोकमें कीर्तनकी ही प्रशंसा की गयी है—

"पुनः लौट आना ही जिसका लक्षण है ऐसा स्वर्ग-गमन कहाँ ? और मुक्तिका सर्वोत्तम बीज भगवान् वासुदेवका जप कहाँ ?"

अन्यका विधान करके अन्यकी प्रशंसा करे—यह बात सङ्गत नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रत्यग्रूप आत्मवस्तु कभी स्मरण-पथपर नहीं आ सकती; क्योंकि ऐसा होनेपर उसकी प्रत्यग्रूपताका ही व्याघात होगा। इसलिये राम-कृष्ण आदि नामसे या मेघके समान श्यामता आदि रूपसे अथवा दोनोंके त्यागरूप उपाधिसे 'वे भगवान् स्मरणका विषय होते हैं'—ऐसा कहना चाहिये। उनमेंसे नामोपाधिक स्मरणका ही यहाँ ग्रहण होता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तच्च कीर्तनमेव । स्मरणशब्देन च कीर्तनमुपाददानस्य मानसमपि भगवन्नाम्नोऽनुसन्धानं सर्वाघसंहारि, न केवलं वाचिकमिति विवक्षितम्; पुराणान्तरे च समानप्रकरणे नानाविधनरकयातनाकन्दकुद्दालस्य कीर्तनस्यैव वर्णितत्वात् ।

इहाप्यस्मिन् प्रकरणे सङ्कीर्तनमेवोपादीयते, न ध्यानम्; तस्य च गुरुलघुभेदानादरेण सर्वाघसंहारहेतुत्वेनावधारितत्वान्न महदल्प-पापभेदेन व्यवस्थापनं गरीयः । अत एव न ज्ञानाज्ञानप्रकाशरहस्य-भेदावपि व्यवस्थापकौ, स्वरूपेण वा गरिमलघिमानौ स्यातां निमि-त्तान्तरेण वा; गरिमलघिमानावेव तौ, कस्तत्र विशेषः ? गुरुलघुनोश्चां-

---

है और वह कीर्तनरूप ही है। जो स्मरणशब्दसे कीर्तनका ग्रहण करते हैं उन्हें यह कहना इष्ट है कि भगवान्के नामोंका वाणीद्वारा ही स्मरण करना नहीं, अपितु मनद्वारा अनुसन्धान करना भी सब पापोंका नाशक है, क्योंकि अन्य पुराणोंमें भी इसीके समान [कीर्तनके] प्रकरणमें नाना प्रकारकी नरक-यातनारूप कन्दके [छेदनके] लिये कुदालसदृश कीर्तनका ही वर्णन किया गया है।

यहाँ भी इस प्रकरणमें सङ्कीर्तनका ही ग्रहण है, ध्यानका नहीं; और वह पापोंके गुरु-लघुभेदका अनादर करता हुआ समस्त पापोंके संहारका हेतु निश्चित किया गया है। इसलिये महान् और अल्प पापके भेदसे उसकी व्यवस्था उत्तम नहीं है, अतएव ज्ञान-अज्ञान, प्रकट और गुप्त भेद भी व्यवस्था करनेवाले नहीं हो सकते। स्वरूपसे गुरुता-लघुता हो अथवा अन्य निमित्तसे वे गुरुता-लघुता ही हैं, उनमें विशेषता क्या है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हसोरविशेषेण निवर्तकं भगवत्कीर्तनमित्यभ्यधायि; तत्कथं तद्भेदेन व्यवस्थेति ?

कैमुत्यन्यायेनोक्तव्यवस्थायाः खण्डनम्

यस्मिन्न्यस्तमतिर्न याति नरकं स्वर्गोऽपि यच्चिन्तने
विघ्नो यत्र निवेशितात्ममनसो ब्राह्मोऽपि लोकोऽल्पकः ।
मुक्तिं चेतसि यः स्थितोऽमलधियां पुंसां ददात्यव्ययः
किं चित्रं यदघं प्रयाति विलयं तत्राच्युते कीर्तिते ॥

इत्यनेनापि व्यवस्था न प्रतीयते, कथम् ? अल्पपापनिवर्तकत्वे कीर्तनस्य न चित्रबुद्धिः, किन्तु नितान्तमहीयसामप्यंहसां

हम यह कह चुके हैं कि भगवन्नाम-कीर्तन छोटे-बड़े सभी पापोंका सामान्यरूपसे निवर्तक है, अतः गुरु-लघुभेदसे अलग-अलग व्यवस्था कैसे मानी जा सकती है ?

"जिनमें बुद्धि लगानेवाला जीव कभी मनुष्य-लोकके सुखोंको नहीं स्वीकार करता, जिनके चिन्तनमें स्वर्गलोककी प्राप्ति भी विघ्न-सी प्रतीत होती है, जहाँ अपना चित्त प्रवेश करानेवाले पुरुषको ब्रह्मलोक भी छोटा मालूम होता है, जो अविनाशी परमेश्वर विमल बुद्धिवाले पुरुषोंके चित्तमें स्थित होकर मुक्ति देते हैं, उन्हीं भगवान्के कीर्तन करनेपर यदि पाप नष्ट हो जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है ?"

इस वचनसे भी व्यवस्थाकी प्रतीति नहीं होती । [यदि कहो] कैसे नहीं होती ? [तो सुनो—] कीर्तनके अल्प पापका निवर्तक होनेपर आश्चर्यमयी बुद्धि नहीं हो सकती; अपि तु अत्यन्त महान्से भी महान् पापोंकी कीर्तनमात्रसे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीर्तनमात्रान्निवृत्तिरित्युच्यमाने कस्यचिदनवगतभगवन्नाममहिम्नः पुंसश्चित्रबुद्धिरुत्पद्यते; सा निवर्त्यते कैमुत्यन्यायेन । तथा हि—यस्मिन्न्यस्तमतिः, यच्चिन्तने, यत्र निवेशितात्ममनसः, चेतसि यः स्थित इति च स्मरणमेव शब्दभेदेन प्रतिवाक्यमलङ्कारार्थमावर्त्यते—

विकसन्ति कदम्बानि स्फुटन्ति कुटजोद्गमाः ।

इतिवत् । उत्तरोत्तरभूमिकागतस्तु विशेषो विद्यमानोऽपि न

निवृत्ति हो जाती है—ऐसा कहनेपर जो भगवान्की नाम-महिमाको नहीं जानता उस पुरुषकी बुद्धि विस्मित हो सकती है और वह विस्मय-बुद्धि ही कैमुतिकन्याय * से निवृत्त की जाती है। उसका प्रकार यों है—'जिनमें बुद्धि लगानेवाला' 'जिनके चिन्तनमें' 'जिनमें अपना चित्त प्रवेश करानेवाला' 'जो चित्तमें स्थित होकर' इत्यादिरूपसे प्रतिवाक्यमें अलंकारके लिये शब्द-भेदसे स्मरणकी ही आवृत्ति की जाती है; जैसे—

"कदम्ब विकसित होते हैं, कुटजकी कलियाँ खिलती हैं"

इस वाक्यमें शब्दभेदसे विकासका ही कथन है। [नरक (मानव-सुख), स्वर्ग, ब्रह्मलोक और मोक्ष] इनमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता विद्यमान होनेपर भी यहाँ वह विवक्षित

---

* जो दुःसाध्य कार्य कर सकता है उसके लिये छोटे कार्यके करनेमें क्या आश्चर्य है ? यही इस न्यायका सारांश है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विवक्ष्यते कैमुत्यानुपयोगात् । नरकशब्देन तु नाधर्मफलस्य ग्रहणम्, तन्निवृत्तेः कैमुत्येन सिषाधयिषितत्वात् । ततश्चायमर्थः—यस्मिन्नच्युते निविष्टबुद्धिर्नरकं नराणां कं सुखं मानुषमानन्दं सार्वभौमत्वादिकम् अन्तरायत्वेनापि न प्राप्नोत्येव, यदि कथञ्चिदसावमरपुरीपारमैश्वर्य्यमधिगच्छति तर्हि स विघ्नः, द्विपरार्द्धस्थायी हैरण्यगर्भोऽपि लोकोऽल्पकः, मुरमथनचरणस्मरणस्यातिविसदृशं फलम्, सार्वभौमसेवाया इव स्वोदरम्भरित्वम्, किं तर्हि ? तेषां स्मरतां पुंसां मुक्तिं सकार्य्याविद्याविध्वंसद्वारेण निरतिशयानन्दे निजमहिमन्यवस्थानमेव ददाति

नहीं है; क्योंकि कैमुतिकन्यायमें उसका उपयोग नहीं है। 'नरक' शब्दसे यहाँ अधर्मकी फलभूत नरक-यातनाका ग्रहण नहीं है; क्योंकि उसकी निवृत्तिको यहाँ कैमुत्य-न्यायसे ही सिद्ध करना इष्ट है। अतः 'यस्मिन्न्यस्तमतिः' इत्यादि श्लोकका अर्थ यों है—जिन भगवान् अच्युतमें बुद्धि लगानेवाला पुरुष नर-क—मनुष्योंके सुख अर्थात् सार्वभौमत्व आदि मानव आनन्दको विघ्नरूप होनेके कारण स्वीकार ही नहीं करता है। यदि किसी प्रकार वह देवपुरीके परम ऐश्वर्यको प्राप्त करता है तो वह भी उसके लिये विघ्न ही है। दो परार्द्धोंतक रहनेवाला ब्रह्मलोक भी उसके लिये अत्यन्त तुच्छ है; भगवान् मुरारिके चरण-चिन्तनका वह अत्यन्त अयोग्य फल है; जैसे सम्राट्की सेवाका केवल पेट पालना ही फल होना अत्यन्त अयोग्य है। तो योग्य फल क्या है ? [सो बतलाते हैं—] उन स्मरण करनेवाले पुरुषोंको भगवान् उनकी अविद्याका उसके कार्यसहित नाश करके अपनी महिमामें स्थितिरूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवान्। अमलधियो हि ते, न हि तेषां समलधियामिवान्येषां देशकालावच्छिन्नं फलमुचितम्, इदमेवामलत्वं धियो यदुत पुरुषोत्तमपादपल्लवप्रवणत्वम्, विषयद्वारेणैव हि समलत्वममलत्वं च धियः, ततश्च येषां धीर्भुवनत्रितयान्तरे वर्तमानं यं कञ्चिदमरमन्यमवलम्बते तेषामुचितान्येव साम्राज्यादीनि, येषां पुनर्भुवनत्रितयोत्तीर्णभक्तानुगृहीतमूर्त्तिमुत्तमश्लोकशिखामणिमवलम्बते, तेषां तु विविधपरिच्छेदविरहिणी मुक्तिरेवोचिता, न तु परिच्छिन्नान्यन्यानि फलानीति।

इह दातृदानसंप्रदानभावस्यौपचारिकत्वान्न षष्ठीपर्य्यनुयोगः।

निरतिशय आनन्दमग्न मोक्ष देते हैं; क्योंकि उनकी बुद्धि निर्मल होती है, अन्य कलुषित बुद्धिवाले पुरुषोंकी भाँति उनके लिये देश-कालसे परिच्छिन्न फल उचित नहीं है। भगवान् पुरुषोत्तमके चरण-पल्लवोंमें अनुराग होना ही बुद्धिकी विमलता है। बुद्धिका मलयुक्त और निर्मल होना विषयोंके ही [ग्रहण और त्यागके] द्वारा होता है। अतः जिनकी बुद्धि त्रिभुवनके भीतर वर्तमान जिसी-किसी अन्य देवताका आश्रय लेती है उनके ही लिये साम्राज्यादि भोग उचित हैं; परन्तु जिनकी बुद्धि [निरीहताके कारण] त्रिभुवनसे अतीत भक्तोंद्वारा सेवित स्वरूपवाले पुण्यकीर्तिशिरोमणि परमेश्वरका आश्रय लेती है, उनके लिये तो [देश, काल और वस्तुकृत] नाना प्रकारके परिच्छेदसे रहित (मूर्ति, विनाश और भेदसे शून्य) मुक्ति ही उचित है, इससे भिन्न परिच्छिन्न फल नहीं।

यहाँ दाता, दान और सम्प्रदानभाव औपचारिक (गौण) है, इसलिये यहाँ षष्ठीविभक्तिके प्रयोगके विरुद्ध कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

मुक्तिमपि न कतिपयानां वितीर्य्य विरमति मुरभिदितरदानिवत्, अपि तु येषां मनसि स्थितः तेषां सर्वेषामेवेति बहुव्रीहौ सिद्धस्य सर्वनाम्नो विवक्षा। अपि च, अन्येषां दातॄणां यद्यर्थिनो मनसि स्थिताः तर्हि तेभ्योऽर्थं वितरन्ति, अयं पुनरर्थिनामेव मनसि स्थितो मुक्तिं ददाति, अन्यच्च, अन्ये दातारो वनीयकेभ्यो धनं विभज्य वितरन्तो वियन्ति; अयं पुनरव्ययः प्रतिवनीयकं सर्वस्वं वितरन्नपि न व्येति। य एवं मनोमात्रेणाप्यभिमुखानां सर्वाननर्थानपनयति

प्रश्न नहीं उठ सकता। भगवान् मुरारि अन्य दानियोंकी भाँति कुछ ही लोगोंको मुक्ति बाँटकर विराम नहीं लेते, अपि तु जिन-जिनके मनमें वे स्थित होते हैं उन सभीको देते हैं—इस प्रकार बहुव्रीहिसमासके अन्तर्वर्ती सर्वनामपदकी* विवक्षा है। इसके अतिरिक्त अन्य दाताओंके मनमें यदि याचक स्थित होते (जँचते) हैं तो वे उन्हें धन वितरण करते हैं, परन्तु ये भगवान् स्वयं याचकोंके ही मनमें स्थित होकर मुक्ति देते हैं। तथा इतर दानी याचकोंको विभाग करके धन बाँटते हुए खर्चेमें पड़ जाते हैं, परन्तु ये अव्यय हैं, प्रत्येक याचकको सर्वस्व देते हुए भी घाटेमें नहीं रहते। जो इस प्रकार सम्मुख आये हुए प्राणियोंके सङ्कल्पमात्रसे [अविद्या-अहङ्कारादि] सभी अनर्थोंको दूर करते और उन्हें

---

* 'अमला धीर्येषाम्' (निर्मल है बुद्धि जिनकी) इस प्रकार विग्रह वाक्यमें आये हुए 'येषाम्' (जिनकी) इस सर्वनामपदके द्वारा उक्त अर्थका प्रतिपादन करना इष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निरतिशयं चार्थमुपनयति, तस्मिन्बहिरन्तःकरणद्वयीं वाङ्मनसलक्षणां प्रणिदधानानामनर्थैकदेशपरिहारमात्रं किं चित्रम्? नैव चित्रमिति। ततश्च ज्ञानकृतप्रकाशमहापातकपरिहारोऽपि मनसः क्षतिमेवावहति न पुनः पूर्तिम्, तत्कथं तत्रापि सङ्कोचेन व्यवस्थाशङ्केति।

युक्त्यन्तरेणोक्तव्यवस्थानिरासः

एवञ्च—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः।
पुमान्विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव॥

निरतिशय पुरुषार्थ (परमानन्दमय मोक्ष) प्राप्त कराते हैं उन परमेश्वरमें वाणी और मनरूप बाह्य एवं आन्तरिक दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंको एकनिष्ठ करनेवाले भक्तोंके अनर्थोंका एकदेशमात्र नष्ट होना क्या आश्चर्य है? अर्थात् यह आश्चर्यकी बात नहीं है। इसलिये कीर्तनद्वारा जान-बूझकर किये हुए और प्रकट पापका नाश हो जाना भी मनको थोड़ा ही प्रतीत होता है पूर्ण नहीं* फिर उसमें भी संकोचके साथ [अर्थात् अज्ञात और अल्प पापका ही नाशक कीर्तन है—इस प्रकार न्यूनतापूर्वक] व्यवस्थाकी आशङ्का कैसे की जा सकती है?

ऐसा माननेसे—

"विवश होकर भी जिनका नाम लेनेपर मनुष्य सिंहसे डरे हुए मृगोंकी भाँति समस्त पापोंसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं।"

---

* जब केवल मनसे ही चिन्तन करनेपर भगवान् मोक्षतक दे देते हैं, तो मन और वाणी—दोनोंसे चिन्तन एवं कीर्तन करनेका फल मोक्षसे भी बड़ा होना चाहिये। इससे ज्ञात तथा प्रकट पापका नाश हो जाना कौन-सी बड़ी बात है? अतः इतना-सा फल न्यून ही है पूर्ण नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्येतदप्यनुसृतं भवति । वर्णितव्यवस्थायां तु प्रकीर्णकविषयत्वे पातकशब्दो बाध्येत, अतिपातकादिविषयत्वे सर्वशब्दः, न च पातकशब्दस्येव सर्वशब्दस्यापि विशेषान्तरे पर्य्यवसानम्, प्रयोगवैफल्यात् पातकशब्देनैव तत्सिद्धेः, अस्मत्पक्षे तु पातकशब्देनैव सर्वपातकग्रहणेऽपि न्यायाभासपरिकल्पितव्यवस्थाबाधेन सफलः सर्वशब्दः, तस्मान्नैव व्यवस्था ।

यह वचन भी संगत हो जाता है। पूर्वोक्त व्यवस्था स्वीकार करनेपर तो यदि इस वचनको प्रकीर्ण (छोटे-छोटे साधारण) पापोंको ही विषय करनेवाला मानें तो 'पातक' शब्द बाधित होगा और यदि अतिपातक आदिविषयक मानें तो 'सर्व' शब्द बाधित होगा। यदि कहो 'पातक' शब्दकी भाँति 'सर्व' शब्द भी विशेष प्रकारके पापोंका ही बोध करानेमें तात्पर्य रखता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि पातक शब्दसे ही उस तात्पर्यकी सिद्धि होनेके कारण उसका प्रयोग निरर्थक हो जायगा। हमारे पक्षमें तो पातक शब्दसे ही सब पातकोंका ग्रहण होनेपर भी न्यायाभास-कल्पित व्यवस्थाका बाध करके सर्व शब्द सफल हो जाता है, अतः व्यवस्था मान्य नहीं है।*

---

* यहाँके प्रसंगका स्पष्टीकरण यों है—महापातकसे लेकर उपपातकतक जितने भेद शास्त्रोंमें बतलाये गये हैं वे सभी पातक कहलाते हैं, महापातकको ही अतिपातक कहते हैं, इन सभीसे अतिरिक्त पाप प्रकीर्ण कहे जाते हैं। उपर्युक्त विष्णुपुराणके वचनमें यह कहा है कि 'सर्वपातकैः पुमान् विमुच्यते' (पुरुष समस्त पातकोंसे छूट जाता है)। यदि कीर्तनके द्वारा अज्ञात और गुप्त पापोंसे ही मुक्त होनेकी व्यवस्था मानी जाय तो यह विचारणीय है कि ऊपर लिखे हुए वचनका क्या तात्पर्य है ? यदि यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीमद्भागवते तु शृङ्गग्राहिकयैव महापातकान्यनुक्रम्य सङ्कीर्तनेनैव तन्निवृत्तिरभिहिता—

स्तेनः सुरापो मित्रध्रुग् ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
स्त्रीराजपितृगोहन्ता ये च पातकिनोऽपरे॥

श्रीमद्भागवतमें तो शृङ्गग्राहिकान्यायसे ही महापातकोंकी गणना करके सङ्कीर्तनसे ही उनकी निवृत्ति बतलायी है—

"चोर, मद्य पीनेवाला, मित्रद्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुकी शय्यापर सोनेवाला (गुरुस्त्रीगामी), स्त्री राजा पिता एवं गौका वध करनेवाला और इनसे अतिरिक्त जितने भी

मान लें कि वह सभी प्रकीर्ण [नगण्य] पापोंसे ही मुक्त होनेकी बात कहता है तो उसमें पातक शब्दका प्रयोग असंगत होगा; क्योंकि पातक शब्द विशेष प्रकारके पापोंकी संज्ञा है। यदि कहें कि वह महापातक आदि पातकोंसे ही मुक्त होना बतलाता है तो सर्व शब्दका प्रयोग व्यर्थ होता है; क्योंकि सर्वशब्द सभी पातकोंको ग्रहण करानेके लिये ही है। यदि कहा जाय कि जिस प्रकार पातक शब्द सामान्यतः सभी पापोंका वाचक होनेपर भी विशेषमें तात्पर्य रखता है उसी प्रकार सर्वशब्द भी विशेष प्रकारके पापोंको ही ग्रहण करता है, तो ठीक नहीं, क्योंकि विशेष प्रकारके पापोंका ग्रहण तो पातक शब्दसे ही हो जाता है फिर इसीके लिये सर्व शब्दकी क्या आवश्यकता है ? अतः व्यवस्था माननेपर इस दोषका उद्धार नहीं हो सकता। यद्यपि व्यवस्था न माननेपर भी सर्व शब्दका प्रयोग असंगत ही है; क्योंकि पातक शब्द सामान्यतः सभी पापोंका वाचक है ही, उसीसे सबका ग्रहण हो जायगा, तथापि इस कल्पित व्यवस्थाको बाधित करना ही सर्व शब्दका मुख्य प्रयोजन माननेसे वह सफल हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ॥

इति । न च तदज्ञानकृतविषयं रहस्यविषयं वेति वक्तव्यम्, बुद्धिपूर्वमखिलजगत्प्रख्यातं पातकं कृतवतोऽजामिलस्यापि नामकीर्तनादेव तन्निवृत्तेर्वर्णनात् । न च तदप्युपपातकादिविषयमिति वक्तव्यम्, तस्मिन्महापातकानामप्यनुक्रान्तत्वात्; "यतस्ततोऽप्युपानिन्ये न्यायतोऽन्यायतो धनम्" इत्यादिना ।

श्रीविष्णुधर्मे च बुद्धिपूर्वप्रकाशमहापातकिनः क्षत्रबन्धोरपि

पापी हैं—उन सभीके लिये एकमात्र यही उद्धारका सुगम उपाय है कि भगवान् विष्णुका नामोच्चारण किया जाय जिससे उनके प्रति बुद्धि लगी रहे।"

यहाँ ऐसा कहना उचित नहीं है कि 'यह वाक्य अज्ञानकृत अथवा रहस्य (गुप्त) पापके विषयमें ही है', क्योंकि जिसने जान-बूझकर सब प्रकारके जगत्प्रसिद्ध पाप किये थे उस अजामिलके पापोंकी नामकीर्तनद्वारा निवृत्ति होनेका वर्णन किया गया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वह वर्णन उपपातक आदिको ही विषय करनेवाला है; क्योंकि "इधर उधरसे वह न्याय अथवा अन्यायसे धन लाया करता था" इत्यादि वचनसे अजामिलमें महापातकोंकी भी गणना की जा चुकी है।

तथा श्रीविष्णुधर्मोत्तर पुराणमें* जान-बूझकर प्रकट

---

* गोविन्देति समुच्चार्य पदं क्षपितकल्मषः ।
क्षत्रबन्धुर्विनष्टात्मा गोविन्दत्वमुपेयिवान् ॥

'वह विनष्टात्मा क्षत्रियाधम 'गोविन्द' इस पदका उच्चारण करके पापमुक्त हो भगवत्स्वरूप हो गया।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामकीर्तनमात्रात् परमपूतत्वप्रतिपादनान्नेयं व्यवस्था न्यायविदां हृदयमधिरोहति ।

मतान्तरव्यवस्था—श्रद्धाभक्तिमतः श्रवणकीर्तनादिष्वाधिकारः, तादितरस्य तु स्मार्ते कर्मणि

तस्मादन्यथा व्यवस्थाप्यते—तद्यथा; यस्य पुराणेषु मातृवचनेष्विव न कदाचिदिमान्यपथ्यमतथ्यं वाभिदधति; अपि तु पथ्यमेव तथ्यमेवेति दृढतरश्रद्धानुबद्धा, भगवति च भक्तजनमनःसरोजिनीजीवितेश्वरे नमदमरमण्डलमौलिमालामाणिक्यशलाकालिखितनिजविजयवर्णना-

---

महापाप करनेवाले क्षत्रियाधमका भी हरिनाम-कीर्तनमात्रसे परम पावन हो जाना बतलाया गया है; इसलिये [स्वल्प-महान् पापोंके भेदसे की हुई] यह व्यवस्था न्यायवेत्ताओंके मनपर नहीं अधिकार प्राप्त कर सकती ।

न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्था

अतः वे अन्य प्रकारसे व्यवस्था करते हैं, सो इस तरह है—माताके वचनोंकी भाँति पुराणोंके वचनोंमें भी जिसकी अत्यन्त सुदृढ़ श्रद्धा हो अर्थात् जो यह समझता हो कि ये पुराण कभी अपथ्य (हानिकर) अथवा मिथ्या नहीं कहते अपि तु सदा लाभदायक और सत्य ही प्रतिपादन करते हैं; तथा जो भक्तोंके हृदयकमलके जीवितेश (सूर्य) हैं, जिनकी चरण-पादुका, प्रणाम करते हुए देव-वृन्दके मुकुटोंमें जटित माणिक्यकी लेखनीसे अङ्कित अपनी विजयवर्णनमयी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्णश्रेणीसनाथपादपीठे पुरभिदि मुरभिदि वा भक्तिभरगरिमगर्भिणी स्तम्भस्वेदरोमोद्गमादिसात्त्विकभावसहचरी चित्तवृत्तिः, सापि न गतानुगतिकत्वेन, अपि तु तदीयमहिममहार्णवावगाहनेन; तस्य पौराणानां श्रवणकीर्तनादीनामन्यतमं गुरुलघुविशेषानादरेण सर्वेषामेव निरङ्कुशमंहसां परमं प्रक्षालनम्, इतरस्य पुनः प्रतिपदोक्तं स्मार्तमिति ।

श्रद्धावतोऽधिकारे प्रमाणदर्शनम् ।

तत्र श्रद्धावतोऽधिकारे नारदीयवचनं प्रमाणम्—

वर्णमालाओंसे सुशोभित हो रही है उन भगवान् शङ्कर अथवा विष्णुमें जिस भक्तकी चित्तवृत्ति—अनुकरणशीलताके कारण नहीं, अपितु भगवान्‌की महिमारूपी महासागरमें निमग्न होनेके कारण—भक्ति-भारके गौरवसे भरी हो और स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च आदि सात्त्विक भावोंसे युक्त रहती हो उसीके लिये पुराण-प्रतिपादित श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमेंसे कोई एक भी साधन बड़े-छोटे भेदकी अपेक्षा न करके उसके सभी पापोंका स्वतन्त्रतापूर्वक भली-भाँति शोधन करनेवाला हो सकता है; इससे भिन्न श्रद्धा-भक्तिरहित पुरुषके लिये प्रतिपदोक्त (भिन्न-भिन्न पापोंके लिये स्पष्टतया बतलाये हुए) स्मार्त प्रायश्चित्त कर्तव्य हैं ।

[श्रद्धावान् और भक्तिमान्‌मेंसे] श्रद्धावान्‌का कीर्तन आदिमें अधिकार होनेके विषयमें यह नारदीय वचन प्रमाण है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती ।

इति, श्रीमद्भागवते च—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धश्च यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

इति,

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ॥

इति च पुराणेषु श्रद्धावतां भक्तियोगाधिकारं दर्शयति; निवर्तयति तु कर्माधिकारम् । श्रीमद्भगवद्गीतासु—

"जिसको जितना विश्वास (श्रद्धा) है उसे उतनी ही सिद्धि प्राप्त होती है ।"

तथा श्रीमद्भागवतमें भी—

"जो पुरुष मेरी कथा आदिमें स्वेच्छासे ही (स्वभावतः) श्रद्धा रखता है तथा जो न अत्यन्त विरक्त है और न अत्यन्त आसक्त, उसको भक्तियोग ही सिद्धिदायक होता है ।"

यह वचन तथा—

"जबतक कर्मोंसे वैराग्य न हो अथवा जबतक मेरी कथाके श्रवण आदिमें श्रद्धा उत्पन्न न हो तबतक ही कर्म करे ।"

यह वचन भी श्रद्धावानोंका पौराणिक भक्तियोग (श्रवण-कीर्तनादि) में अधिकार दिखलाते हैं और उनके लिये कर्माधिकारकी निवृत्ति करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीतामें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

इति श्रद्धाहीनस्य सर्वत्रानधिकारं दर्शयति । शिवधर्मोत्तरेऽपि—

विधिवाक्यमिदं शैवं नार्थवादः शिवात्मकः ।
लोकानुग्रहकर्ता यः स मृषार्थं कथं वदेत् ॥

इति गुणवादनिराकरणेन शिवशासनेषु श्रद्धामुत्पादयन् श्रद्धावतोऽधिकारं दर्शयति । श्रुतिरपि कर्मकाण्डे ज्ञानकाण्डे च श्रद्धावत एवाधिकारं दर्शयति, तत्र कर्मकाण्डे "श्रद्धयाग्निः

"परमात्म-तत्त्वको न जाननेवाला, अश्रद्धालु और संशयात्मा प्राणी नष्ट (परमार्थसे भ्रष्ट) हो जाता है, सन्दिग्ध चित्तवाले पुरुषके लिये तो न यह मनुष्य-लोक है, न परलोक है और न सुख ही है।"

यह वचन श्रद्धाहीन पुरुषका सर्वत्र अनधिकार दिखलाता है। शिवधर्मोत्तरमें भी—

"यह शिवसम्बन्धी विधिवाक्य है, अर्थवाद नहीं; यह परम कल्याणमय है। भला जो लोकोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं वे भगवान् शिव असत्य कैसे कह सकते हैं?"—

यह वचन अर्थवादका निराकरण करके शिवकी आज्ञाओंमें श्रद्धाकी उत्पत्ति कराता हुआ श्रद्धावान्‌का अधिकार प्रदर्शित करता है। श्रुति भी कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें श्रद्धावान्‌का ही अधिकार दिखलाती है; उनमेंसे कर्मकाण्डमें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

 CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समिद्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः" इत्यादिका। ज्ञानकाण्डे "श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादिका। तस्मात्सर्वत्र श्रद्धावत एवाधिकारः।

सा च पुरुषभेदेन विषयभेदेषु व्यवतिष्ठते, तस्माद् व्यवस्थितोऽधिकार इति। युक्तश्चैतत्, विधिपुरुषसम्बन्धो वा तद्धेतुर्वा व्युत्पत्तिभेदेनाधिकारशब्दार्थ इति न्यायविदां स्थितिः। तत्र श्रेयःसाधनलक्षणस्य विधेः स्वसाध्यभोग्यश्रेयोद्वारेण भोक्त्रा पुरुषेण सम्बन्धो विधिपुरुषसम्बन्धः, तद्धेतुर्जीवनकामनादिः।

"श्रद्धयाग्निः[1] समिद्ध्यते श्रद्धया हूयते हविः" इत्यादि और ज्ञानकाण्डमें "श्रद्धावित्तो[2] भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इसलिये सर्वत्र श्रद्धावान्‌का ही अधिकार है।

वह श्रद्धा पुरुषभेदसे [उनकी रुचिके अनुकूल] भिन्न-भिन्न विषयोंमें व्यवस्थित रहती है, अतः पुरुषका अधिकार व्यवस्थित होता है। यह ठीक भी है, व्युत्पत्तिभेदसे[3] अधिकार शब्दका अर्थ विधि-पुरुषसम्बन्ध अथवा उसका हेतु है—यह न्यायवेत्ताओंकी स्थिति (सिद्धान्त) है। उनमें श्रेयःसाधनरूप विधिका उससे सिद्ध होनेवाले भोग्यरूप कल्याणके द्वारा भोक्ता पुरुषसे सम्बन्ध होना ही विधिपुरुषसम्बन्ध है और उस (सम्बन्ध) का हेतु

१—'श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित होती है, श्रद्धासे हविका हवन होता है।'

२—श्रद्धारूपी धनसे युक्त होकर अपनेमें ही आत्माका साक्षात्कार करे।

३—'अधिकरणमधिकारः' इस व्युत्पत्तिसे विधिपुरुषका सम्बन्ध और 'अधिक्रियतेऽनेन' इस व्युत्पत्तिसे विधिपुरुषसम्बन्धका हेतु ही अधिकार माना गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नियोगवादिनस्तु नियोज्यनियोगयोर्बोद्धृबोद्धव्यलक्षणः सम्बन्धो विधि-पुरुषसम्बन्धः, स च कर्मण्यैश्वर्य्यमित्येवलक्षणादधिकारादन्य एवेति मन्यन्ते। स सर्वोऽपि न श्रद्धामन्तरेण सम्भवति, अनवगताप्तभावस्य पुंसो वाक्याद्विशिष्टप्रवर्त्तकविषयाद् वस्तुवृत्त्या विसंवादशून्यादपि ममेदमिष्टसाधनमिति वा ममेदं कार्यमिति वा प्रतिपत्तेः प्रवृत्तेश्चादर्शनात्।

ननु यस्य वेदस्तन्मूलं च स्मृतिपुराणादि सर्वं शास्त्रं प्रमाणमिति

जीवनकामना आदि है। नियोगवादी (प्रभाकर भट्ट) यह मानते हैं कि नियोज्य-नियोगका बोद्धृ-बोद्धव्यरूप सम्बन्ध ही विधि-पुरुषसम्बन्ध है और वह 'कर्ममें ईश्वरत्व है' ऐसा लक्षण होनेके कारण अधिकारसे भिन्न ही है। परन्तु वह सब भी श्रद्धाके बिना सम्भव नहीं है; क्योंकि जिसके आप्तभाव (विश्वास-पात्रता) को नहीं जाना गया है उस पुरुषके इष्टसाधनत्व-प्रतिपादक वास्तविक विरोधशून्य वाक्यसे भी 'मेरा यह इष्टसाधन है' ऐसा ज्ञान किसीमें नहीं देखा जाता अथवा 'मेरा यह कर्तव्य है' यह समझकर उसमें [किसी भी पुरुषकी] प्रवृत्ति नहीं देखी जाती।

शङ्का—'वेद और वेदमूलक स्मृति-पुराण आदि सभी शास्त्र प्रमाणभूत हैं'—ऐसा माननेके कारण जिसकी बुद्धिकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धानिमित्तकव्यवस्थायामनुपपत्तिः

निर्णिक्तशङ्कापङ्कबुद्धिरस्ति स एव शास्त्रेऽधिक्रियते। तत्र यदि कथञ्चिदेकदेशेऽप्यश्रद्धा तत्कथमेकदेशान्तरेऽप्यधिकारः ? अपि च नैकदेशविषयिणी श्रद्धैव सम्भविनी। सा हि शास्त्रस्य प्रमाणान्तरसंवादनिबन्धना वा ? स्वतःप्रामाण्यनिबन्धना वा ? न तावदाद्यः, प्रमाणान्तरैर्दुरवगाहत्वादतिगहनस्य धर्मतत्त्वस्य। नापि द्वितीयः, स्वतःप्रामाण्यस्यैकदेशान्तरेऽप्यविशेषात्। तन्निबन्धना चेदभविष्यत् सर्वत्रापि श्रद्धा, न वा कुत्रचित्। तत् कथं तन्निबन्धना व्यवस्थेति ?

शङ्कारूप कीचड़ धुल गयी है उसीका शास्त्रमें अधिकार है। यदि उसे शास्त्रके एकदेश (पुराण आदि) में भी अश्रद्धा हो तो उसका एक देशान्तर (स्मृति आदि) में भी कैसे अधिकार हो सकता है ? इसके अतिरिक्त [शास्त्रके एक भागमें अश्रद्धा रहनेपर] दूसरे भागमें श्रद्धा हो नहीं सकती; क्योंकि [यह विचारणीय है कि] शास्त्रका अन्य (प्रत्यक्षादि) प्रमाणोंसे अविरोध होनेपर उसमें श्रद्धा होती है अथवा उसे स्वतःप्रमाण मानकर ? इनमें प्रथम पक्ष तो मान्य है नहीं, क्योंकि धर्मका तत्त्व अत्यन्त गहन है; अतः उसमें शब्दप्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंका प्रवेश होना कठिन है, और न दूसरा पक्ष ही सम्भव है; क्योंकि जो स्वतःप्रमाण है [वह सम्पूर्ण एक-सा ही है] उसके एक भागमें भी कोई विशेषता नहीं है। यदि उसे स्वतःप्रमाण मानकर उसमें श्रद्धा होगी तो सम्पूर्ण भाग [अर्थात् पुराण और स्मृति— दोनों] में ही श्रद्धा हो सकती है; किसी एक ही देशमें नहीं होगी। ऐसी दशामें श्रद्धानिमित्तक व्यवस्था भी कैसे मानी जाय ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इदमसाम्प्रतम्, धर्मब्रह्मविषयशास्त्रयोः प्रामाण्यस्याविशिष्टत्वेऽपि श्रद्धाया व्यवस्थितत्वात्। यो ह्यकर्तारमात्मानमवगमयन्तीरुपनिषदोऽपि न श्रद्धत्ते स एव कर्मविधीनाद्रियते, अत एव हि तस्यैव तत्राधिकारो नेतरस्य। अन्यथा हि सर्वस्यापि सर्वत्राधिकारोऽभविष्यत्, न च तथास्ति। एवमिहापि वक्तृदोषविरहादेकतुलारूढेषु सर्वशास्त्रेषु समानगरिमसूत्सर्गसिद्धापि श्रद्धा कुत्रचित् कुतश्चित् प्रतिबन्धकाददृष्टादुदा-

अनुपपत्तिपरिहारः

समाधान—यह कथन अनुचित है; क्योंकि धर्म और ब्रह्मके प्रतिपादक शास्त्रोंमें प्रमाणता एक-सी ही होनेपर भी श्रद्धा व्यवस्थित हुआ करती है। जो कर्तृत्व-शून्य आत्मतत्त्वका बोध करानेवाली उपनिषदोंपर भी श्रद्धा नहीं करता वही यागादि कर्मविधियोंका आदर करता है, इसलिये उसीका वहाँ अधिकार है दूसरेका नहीं। यदि ऐसा न मानें तो सभीका सर्वत्र अधिकार होने लगेगा, और ऐसा होता नहीं है। इसी प्रकार यहाँ भी वक्ताके दोषसे रहित होनेके कारण एक तुलनापर आरूढ हुए समान गौरव रखनेवाले सम्पूर्ण शास्त्रोंमें जो स्वभावसिद्ध श्रद्धा है वह भी कहीं (एकदेशमें) किसी अदृष्ट प्रतिबन्धकसे और उदाहरणाभास दिखलायी देनेसे

---

१. 'ग्रामेऽयमेक एवाद्वितीयः पुरुषः (गाँवमें यह एक ही अद्वितीय पुरुष है)' इस वाक्यसे जैसे अन्य पुरुषोंका अभाव सूचित न होकर उसके समान पुरुषका अभाव सूचित होता है उसी प्रकार 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंसे भी ब्रह्मव्यतिरिक्त प्रपञ्चका अभाव सूचित नहीं होता, बल्कि यही जाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

हरणाभासदर्शनाच्चार्थान्तरपरत्वशङ्काकलङ्केन कुण्ठीक्रियते; तदुपपन्नं तन्निबन्धना व्यवस्थेति ।

भक्तिमतोऽधिकारे प्रमाणप्रदर्शनम्

भक्तेरप्यधिकारिविशेषणत्वं पुराणवचनैरेवावगम्यते । श्रीविष्णुपुराणे तावत्—

यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् ।
मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः ॥

इति । अत्र च भक्तिशब्देन भगवदालम्बनो रत्याख्यः स्थायी

अर्थान्तरपरत्व (अन्य अर्थ होने) की शङ्कारूप कलंकसे कुण्ठित हो जाती है, इसलिये उन (शास्त्रों) के स्वतःप्रामाण्यसे सिद्ध होनेवाली व्यवस्था ठीक ही है।

भक्ति भी अधिकारीका विशेषण है—यह पुराणके वचनोंसे ही ज्ञात होता है। श्रीविष्णुपुराणमें यों कहा है—

"हे मैत्रेय! जिस प्रकार अग्नि धातुओंको गला देती है उसी प्रकार भक्तिके साथ किया हुआ जिन भगवान्का नाम-कीर्तन सम्पूर्ण पापोंका लय करनेवाला है।"*

यहाँ 'भक्ति' शब्दसे भगवान् जिसके आलम्बन विभाव हैं ऐसे रति (अनन्य प्रीति) नामक स्थायी भावका कथन होता है,

---

जाता है कि ब्रह्मके समान कोई दूसरा नहीं है—इस प्रकारके उदाहरणाभासोंसे बुद्धि संशयग्रस्त हो जाती है।

* इससे भगवद्भक्तके सम्पूर्ण पापोंकी निवृत्तिका कारण भगवन्नाम-कीर्तन है और इतर मनुष्योंके पापक्षयका हेतु मन्वादिकथित द्वादशाब्दिकादि प्रायश्चित्त है—इस प्रकार व्यवस्था सिद्ध हुई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्ते रत्याख्य-स्थायिभावपरत्वम्

भावोऽभिधीयते, न भजनमात्रम्, तस्य कीर्तन-शब्देनोपायेषूपात्तत्वात्। प्रह्लादचरिते चायमर्थः स्फुटतरमवगम्यते—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

—इति श्लोकद्वयस्यैकवाक्यत्वात्।

नन्वन्यैव भक्तिरन्यैव च प्रीतिः, निर्देशभेदादेव; अन्यथा हि

केवल भजनका ही नहीं; क्योंकि उस (भजन) का कीर्तन शब्दसे उपायोंमें ग्रहण हुआ है। प्रह्लादचरितमें यह अर्थ अत्यन्त स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है; क्योंकि वहाँ—

"हे नाथ! हे अच्युत! हजारों योनियोंमेंसे मैं जिन-जिनमें जाऊँ उन-उनमें रहते हुए मेरी सदा ही आपमें अविचल भक्ति बनी रहे। अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जो अटल प्रीति होती है वही प्रीति आपको स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे अलग न हो।"

इस प्रकार इन दो श्लोकोंकी एकवाक्यता है।

शङ्का—किन्तु भक्ति अन्य ही वस्तु है और प्रीति भी अन्य ही है—यह बात पृथक्-पृथक् निर्देशसे ही सिद्ध है; अन्यथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तेः प्रीतिपरत्व-विरोधः

पौनरुक्त्यं प्रसज्ज्येत, अन्यच्च नेह प्रीतिः प्रार्थ्यते, अपि तु 'हे माप लक्ष्मीपते! अविवेकिनां विषयेषु या प्रीतिः सा त्वामनुस्मरतो मे हृदयात्सर्पतु गच्छतात्' इति रागनिवृत्तिः प्रार्थ्यते। तत् कथमेकवाक्यत्वमिति?

विरोधपरिहारः

असुभगमेतत्, यदि भक्तेरन्या प्रीतिः प्रार्थ्यते विरक्तिर्वा, तर्हि तस्या अपि भगवद्वाक्ये भक्तेरिवानुभाषणेन ग्रहणेन च भवितव्यम्, "भक्तिर्मयि तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति" इतिवत् "मयि प्रीतिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्य-

---

यहाँ पुनरुक्तिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा। [इसके अतिरिक्त] दूसरी बात यह है कि यहाँ (द्वितीय श्लोकमें) प्रीतिकी याचना नहीं की जा रही है, अपि तु 'हे माप—लक्ष्मीपते! अविवेकी पुरुषोंकी विषयोंमें जो प्रीति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे निकल जाय—अन्यत्र चली जाय' इस प्रकार राग-निवृत्तिकी प्रार्थना की जा रही है। इसलिये इन दोनों श्लोकोंमें एकवाक्यता कैसे हो सकती है?

समाधान—यह कथन अच्छा नहीं है; क्योंकि यदि भक्तिसे भिन्न प्रीति अथवा विरक्तिकी प्रार्थना की जाती तो जिस प्रकार भगवान्के "भक्ति तो तुम्हारी मुझमें है ही तथा और भी होगी" इस अगले वाक्यमें* भक्तिका अनुवाद और ग्रहण हुआ है उसी प्रकार "तुम्हारी प्रीति तो मुझमें है ही फिर भी होगी"

---

* वह वाक्य इस प्रकार है—

मयि भक्तिस्तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति।
वरस्तु मत्तः प्रह्लाद व्रियतां यस्तवेप्सितः॥ (१।२०।२०)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ति" इति, "विषयेषु विरक्तिस्तु तवास्त्येव भूयोऽप्येवं भविष्यति" इति च तथा, न चैवमभवत्। तस्मात्पूर्वश्लोकोद्दिष्टाया भक्तेः स्वरूपवर्णनमुत्तर-श्लोकेन क्रियत इति व्याख्येयम्, तद्यथा—अनुस्मरत इति षष्ठी पञ्चमी वा पुरुषस्य हृदयस्य च विशेषणम्, प्रीतिशब्देन च सुखं वा तदभि-व्यञ्जिका वा बुद्धिवृत्तिर्गृह्यते, तत्र सुखपक्षे तस्य सर्वत्रैकरूपत्वात्त-दुपरागस्यैव भेदाद्विषयेष्वनुभूयमानेषु या प्रीतिर्यत्सुखमभिव्यज्यते सा त्वामनुस्मरतो मे हृदयान्मापसर्पतु नापयातु त्वदनुस्मरणेनैव तत्सुखमभिव्यज्यतामिति सुखाभिव्यञ्जकं भगवदनुस्मरणं प्रार्थितं

"विषयोंमें विरक्ति तो तुम्हें है ही पुनः होगी"—इस रूपमें प्रीति या विरक्तिका भी अनुवाद और ग्रहण होने चाहिये, परन्तु ऐसा हुआ नहीं; इसलिये पूर्व श्लोकमें कही हुई भक्तिका उत्तर श्लोकके द्वारा स्वरूप वर्णन किया जाता है—ऐसी ही व्याख्या करनी चाहिये। उसका प्रकार यह है—'अनुस्मरतः' इस शब्दमें षष्ठी अथवा पञ्चमी विभक्ति है और वह पुरुष अथवा हृदयकी विशेषण-भूत है। प्रीति शब्दसे सुख अथवा उसको अभिव्यक्त करनेवाली बुद्धिवृत्तिका ग्रहण है। उनमेंसे सुखपक्षमें सुखका स्वरूप सर्वत्र एक ही है केवल उसकी उपाधिमें ही भेद है; इसलिये अनुभव किये जानेवाले विषयोंमें जिस प्रीति—जिस सुखकी अभिव्यक्ति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे न जाय—अलग न हो, आपके स्मरणसे ही उस सुखकी अभिव्यक्ति हो—इस प्रकार सुखको अभिव्यक्त करनेवाले भगवत्स्मरणकी याचना की जाती है। बुद्धि-वृत्तिपक्षमें भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवति । वृत्तिपक्षेऽपि तथैव; तत्रापि तत्स्वरूपसमानयोगक्षेमस्यापि तद्भेदस्य विषयावच्छेदमन्तरेणानवगमादवच्छेदकविषयान् बहिर्भाव्य प्रीतेरेवोपादानेऽविवेकिनां विषयेषु सुखसाधनेषु या प्रीतिः सा त्वामनुस्मरतो मम हृदयान्नापयातु विषयानुल्लङ्घ्य त्वामेव निरतिशयसुखात्मानमालम्बतामिति यत्तच्छब्दयोः सामानाधिकरण्यं स्फुटमेव। ततश्च पक्षद्वयेऽपि श्रीमन्मुरमथनचरणारविन्दमकरन्दमन्दाकिनीमवगाहमानस्य मनसः कोऽपि समुल्लासः स्वानन्दमाविर्भावयन् भक्तिरित्यभिहितं भवति, सा च रतिरेवेति ।

इसी प्रकार भगवत्स्मरण प्रार्थित होता है, वहाँ भी [जन्य होनेके कारण] बुद्धिके स्वरूपके समान ही जो योगक्षेम है उसका और बुद्धिवृत्तिके भेदका ज्ञान विषयरूप अवच्छेद (आश्रय) के विना हो नहीं सकता, इसलिये प्रीतिके अवच्छेदक (विशेषणभूत) विषयोंको अलग करके केवल प्रीतिका ही ग्रहण करनेपर अविवेकियोंकी विषयोंमें—सुखके साधनोंमें जो प्रीति होती है वह आपका स्मरण करते हुए मेरे हृदयसे दूर न हो अर्थात् विषयोंका उल्लङ्घन करके निरतिशय सुखरूप आप परमात्माका ही आश्रय ले—इस प्रकार यत् और तत् शब्दोंकी समानाधिकरणता स्पष्ट ही है। अतः दोनों ही पक्षोंमें श्रीभगवान् मुरारिके चरणारविन्दोंकी मकरन्दमयी मन्दाकिनी (गङ्गा) में स्नान करनेवाले मनका कोई अनिर्वचनीय उल्लास ही अपने आनन्दको प्रकट करता हुआ 'भक्ति' कहलाता है, और वह भक्ति रति (प्रीतिरूपा) ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रतिरेव भक्तिरित्यत्र प्रमाणम्, भक्तेर्गरीयस्त्वं च

श्रीमद्भागवते च—रतिरेव भक्तिरित्यवगम्यते—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

इत्यत्र। तस्य ह्ययमर्थः—'गुणलिङ्गानां गुणमयशरीराणामानुश्रविकं श्रुतिपुराणादिगम्यं कर्म चरितं येषां ते तथोक्ताः, तेषां देवानां मध्ये सत्त्व एव शुद्धसत्त्वमयमङ्गलमूर्तौ सरस्वतीतीरवासिभृगुमुख्यमुनिजनसिद्धान्तप्रसिद्धमहिमनि श्रीवत्सलाञ्छन एक-

---

श्रीमद्भागवतमें भी—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

इस वचनसे 'रति ही भक्ति है' यह ज्ञात होता है। इसका अर्थ यह है—'जो गुणलिङ्ग हैं—अर्थात् जिनके शरीर गुणमय हैं और जिनके कर्म—चरित्र आनुश्रविक अर्थात् श्रुतिपुराणादिसे जाननेयोग्य हैं उन देवताओंमेंसे सत्त्वमें ही अर्थात् शुद्ध सत्त्वमय—मङ्गलमूर्ति भगवान्में ही—जो सरस्वतीतीरनिवासी भृगु-आदि मुनियोंके निर्णयानुसार विख्यात महिमावाले हैं* तथा जिनके वक्षःस्थलमें श्रीवत्सचिह्न सुशोभित है उन विष्णुमें

---

* एक बार यज्ञ करनेकी इच्छासे सरस्वतीके तटपर निवास करनेवाले भृगु आदि महर्षियोंने विचार किया कि ब्रह्मा आदि तीनों देवताओंमें जो सबसे प्रधान हो उसीका यजन किया जाय। इस निश्चयके लिये भृगुजी

भ० कौ० ९

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मनसः पुरुषस्य एकाग्रस्य वा मनसो या वृत्तिरनिमित्ता फलाभिसंधिशून्या स्वरसत एव विषयसौन्दर्यादयत्नेनैव जायमाना न बलादापाद्यमाना सा भागवती भक्तिः; सा च सिद्धेर्ज्ञानाद् गरीयसी' इति। गरीयस्त्वमेव विवृणोति—

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

ही एकचित्त हुए पुरुषकी अथवा एकाग्र हृदयकी जो कारणरहित यानी फलकामनासे शून्य, [अनन्य प्रीतिरूपा] वृत्ति है, सो भी बलात्कारसे स्थापित की हुई नहीं, अपितु, स्वभावसे ही अर्थात् [भगवद्विग्रहरूप] विषयमें अत्यन्त सौन्दर्य होनेके कारण विना यत्नके ही उत्पन्न हुई है वही भगवान्की भक्ति है और वह सिद्धि अर्थात् ज्ञानसे श्रेष्ठ है।' [इसके अगले वाक्यमें] भक्तिकी श्रेष्ठताको ही व्यक्त करते हैं—

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥

भेजे गये। वे सर्वप्रथम ब्रह्मलोकमें गये और वहाँ ब्रह्माजीको प्रणामादि किये विना ही बैठ गये। इससे ब्रह्माजी बहुत कुपित हुए, तब वे वहाँसे हटकर कैलास पर्वतपर गये तथा शिवजीके समक्ष भी अविनीत-सा व्यवहार किया। शिवजीने भी उन्हें दण्ड देनेको त्रिशूल उठाया, तब वे भागकर विष्णुलोकमें जा पहुँचे और वहाँ भगवान् विष्णुके शयनागारमें जाकर उनकी छातीमें लात मारी। इतनेपर भी भगवान् विष्णु कुपित नहीं हुए, अपितु, उनके पद-चिह्नको अपने वक्षःस्थलका भूषण माना। अतः शुद्ध सत्त्वमय होनेके कारण वे ही सर्वप्रधान माने गये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। यथा निगीर्णमन्नपानादि जाठरो जातवेदा जरयति तथा या कोशमन्नमयादि पञ्चप्रकारमाशु नाशयति, अनुभवशिरस्कत्वात्; न ज्ञानमिव तत्त्वयुक्तिभिः क्रमेणैकैकमपोहति, ततश्च तरया गरीयस्त्वे कतमः सन्देह इति; मुक्तेर्गरीयसीति वा व्याख्येयम्,

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसायुज्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

'जिस प्रकार भक्षण किये हुए अन्न-पान आदिको जठरानल जीर्ण कर देता है उसी प्रकार जो अनुभव-प्रधान होनेके कारण अन्नमयादि* पाँच प्रकारके कोशोंको शीघ्र नष्ट कर देती है, ज्ञानकी भाँति तत्त्व-युक्तियोंसे क्रमशः एक-एक कोशका बाध नहीं करती; उस भक्तिकी अत्यन्त गुरुतामें कौन-सा सन्देह हो सकता है ? अथवा [उपर्युक्त कारणसे] वह मुक्तिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है'—इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि इस विषयमें—

"मेरे भक्त मेरी सेवाके अतिरिक्त सालोक्य[1], सार्ष्टि (सारूप्य[2]), सामीप्य[3], सायुज्य[4] अथवा अभेदमुक्ति दी जानेपर भी उसे ग्रहण नहीं करते ।"

---

* अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये ही पाँच कोश हैं।

१—सर्वोत्तम वैकुण्ठधाममें वास। २—चार भुजाएँ आदि भगवत्सम्बन्धी अंगोंके सदृश अंगोंसे युक्त होना। ३—गरुड आदिके समान भगवान्‌के समीप वैकुण्ठ-धाममें रहना। ४—भगवान्‌में लीन होकर एक हो जाना।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

इत्यादिदर्शनात्। "जरयत्याशु या कोशम्" इति तु स्वयमेव भक्तिरन्विष्यमाणा मुक्तिं बलादविलम्बेनापादयतीति दर्शयति। एवंलक्षणश्च मनसः परिणामः कथं नु रतेरन्यः स्यात्।

देवानां गुणलिङ्गानामित्यादेर्व्याख्यान्तरम्

अन्या व्याख्या—एकमनसः पुंसो देवानां या वृत्तिः सा भक्तिरित्यन्वयः, तत्र देवशब्दस्य नानार्थत्वादिन्द्रियग्रहणार्थमुपपदं गुणलिङ्गानामिति, शब्दादिग्रहकारणानामित्यर्थः; अनेनैव कर्मेन्द्रियाणामपि ग्रहणम्, छत्रि-

—इत्यादि प्रमाण देखे जाते हैं। "जरयत्याशु या कोशम्०" यह वचन तो यह दिखलाता है कि 'खोज की जानेपर भक्ति स्वयं ही बलपूर्वक शीघ्रतासे मुक्ति दे देती है।' इस प्रकारका जो मनका परिणाम है वह रतिसे भिन्न कैसे हो सकता है ?

['देवानां गुणलिङ्गानाम्' आदि श्लोकको] दूसरी व्याख्या इस प्रकार है—एकचित्त पुरुषके देवताओं (इन्द्रियों) की जो वृत्ति है वही भक्ति है—ऐसा अन्वय है। 'देव' शब्दके अनेकों अर्थ होते हैं इसलिये इन्द्रियरूप अर्थ ग्रहण करनेके निमित्त 'गुणलिङ्गानाम्' यह पद समीपमें रखा है, इसका अर्थ है 'शब्दादि विषयोंको ग्रहण करनेवाले'। छत्रिन्याय*के अनुसार 'गुणलिङ्गानाम्' इस पदसे ही कर्मेन्द्रियोंका भी ग्रहण

* जिस प्रकार 'छत्रिणो यान्ति (छत्तेवाले जा रहे हैं)' इस कथनसे एक समुदायके अन्दर यदि कुछ लोग बिना छत्तेके हों तो वे भी छत्तेवालोंके साथ 'छत्री' पदसे गृहीत होते हैं उसी प्रकार यद्यपि गुणलिङ्ग शब्द शब्दादि गुणोंको ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रियोंका ही विशेषण है तथापि उक्त न्यायसे ही यहाँ इन्द्रियसमुदायमें कर्मेन्द्रियोंका भी ग्रहण होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न्यायेन, कर्मशब्देनैव बुद्धेरपि, अन्यथा विशेषणविशेष्ययोरनन्वय-प्रसङ्गात्। कर्म कर्तव्यम्, तच्च द्विविधम्—दृष्टमानुश्रविकञ्च, तत्र प्रत्यक्षादिभिः कर्तव्यत्वेनावगतं दृष्टम्, यस्य तु शास्त्रादवगम्यते कर्तव्यत्वं तदानुश्रविकम्। तत्र रागादिनिबन्धनप्रवृत्तिवारणार्थं विशेषणमानुश्रविककर्मणामिति, आनुश्रविकेऽपि काम्ये रागादिनिबन्धन-त्वात्प्रवृत्तेस्तन्निवृत्तये विशेषणमनिमित्तेति, अनिमित्तापि कदाचिद-न्यदेवतालम्बिनी वृत्तिः स्यान्न च सा भागवती भक्तिरत आह—

होता है और [‘आनुश्रविककर्मणाम्’ के] कर्म शब्दसे ही बुद्धिका भी ग्रहण है; अन्यथा विशेषण और विशेष्यमें यहाँ अन्वय ही नहीं वन सकता [क्योंकि ज्ञानेन्द्रियोंमें कर्मका अभाव है]। ‘कर्म’ कहते हैं कर्तव्यको, उसके दो भेद हैं—दृष्ट और आनुश्रविक। उनमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंद्वारा कर्तव्य-रूपसे ज्ञात होनेवाला कर्म दृष्ट है तथा जिसकी कर्तव्यता शास्त्रसे ही जानी जाती है वह कर्म आनुश्रविक है। वहाँ रागादि-से होनेवाली प्रवृत्तिका वारण करनेके लिये ‘आनुश्रविककर्मणाम्’ यह विशेषण दिया गया है और आनुश्रविक होनेपर भी काम्य कर्ममें रागादिसे युक्त प्रवृत्ति होती है; अतः उसकी निवृत्ति करनेके लिये ‘अनिमित्ता’ यह विशेषण दिया गया है। निमित्त (कामना) रहित होनेपर भी कदाचित् अन्य देवताका अवलम्बन करनेवाली वृत्ति हो तो वह भगवान्‌की भक्ति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—सत्त्व एव [अर्थात् सत्त्वमूर्ति भगवान् विष्णुमें ही हो तभी वह भागवती भक्ति है]। शेष सब बातें

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्त्व एवेति। शेषं पूर्ववत्। अनेनैव क्रमेण श्रीमदच्युते चित्तावतारस्य विवक्षितत्वान्न प्रातिलोम्येन विशेषणानर्थक्यं शङ्कनीयम्।

प्रमाणवाक्यनिष्कर्षः

अयमत्र निष्कर्षः—रागादिदोषनिबन्धनाभ्यः प्रवृत्तिभ्यः परावृत्तानां श्रुतिपुराणवैष्णवागमविहितश्रवणादिकर्मप्रवणानामिन्द्रियाणां किञ्चिदपि फलमनभिसन्दधानानां सकलभुवनसौभाग्यसारसर्वस्वमूर्तौ मुरमर्दने परिचयप्रचयादनपेक्षितविधिः स्वरसत एव समुल्लसन्ती विषयान्तरैरव्यवच्छिद्यमाना वृत्तिर्भागवती वृत्तिर्भक्तिरिति।

पूर्व व्याख्याके अनुसार समझनी चाहिये। इसी क्रमसे श्रीभगवान् अच्युतमें चित्तका अवतरण (परायण होना) विवक्षित है, अतः विपरीत-भावसे [अर्थात् 'देवानाम्' इस विशेष्यके अन्तमें] 'गुणलिङ्गानाम्' इत्यादि विशेषणोंका प्रयोग करना निरर्थक है—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये।

यहाँ सारांश यह है—जो रागादिदोषके कारण होनेवाली प्रवृत्तियोंसे पराङ्मुख हो चुकी हैं, श्रुति, पुराण और वैष्णव-शास्त्रोंमें विहित श्रवणादि कर्मोंमें लगी हुई हैं और किसी भी फलकी कामना नहीं करतीं उन इन्द्रियोंकी समस्त लोकोंके सौभाग्य-सार एवं सर्वस्वरूप भगवान् मुरारि (विष्णु) में अधिक परिचयके कारण विधिकी अपेक्षा न रखनेवाली; स्वभावतः उल्लसित होती हुई तथा अन्य विषयोंसे [आकृष्ट होकर] कभी विलग न होनेवाली जो वृत्ति है वही भगवत्-सम्बन्धिनी वृत्ति एवं भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भावरूपाया मनोवृत्तेरेव मुख्यतया भक्तिशब्दार्थत्वम्

तत्र बहिरिन्द्रियाणां श्रवणादिव्यतिरेकेण वृत्त्यभावात्, श्रवणादीनां चान्योन्यं भिन्नजातीयत्वान्मनोवृत्तेस्तु भावलक्षणायाः सर्वत्रैकरूपत्वान्मनोवृत्तिरेव मुख्यो भक्तिशब्दार्थः, श्रवणादिषु तु तदनुविधानादेव भक्तिशब्द इति ।

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो हि भिद्यते ॥

इत्यनेनापि भक्तिभावयोरभेद एवावगम्यते; अन्यथा हि भक्तेर्वैविध्यं प्रतिज्ञायौत्पत्तिकसत्त्वादिगुणभेदेन भावभेदप्रतिपादनायोगात् । श्रीनरसिंहपुराणेऽपीक्ष्वाकुचरिते—

वहाँ वाह्य इन्द्रियोंकी श्रवण आदिके अतिरिक्त कोई वृत्ति नहीं है और श्रवण आदि परस्पर भिन्न-भिन्न जातिके हैं, परन्तु भावरूपा मनोवृत्ति सब इन्द्रियोंमें एक समान है, इसलिये मनोवृत्ति ही मुख्यरूपसे भक्ति शब्दका अर्थ है । श्रवण आदिकी वृत्तियोंमें तो उसीका अनुकरण होनेसे भक्ति शब्द प्रयुक्त होता है।

"हे भामिनि ! भक्तियोग अनेकों मार्गोंद्वारा अनेकों प्रकारका माना जाता है; क्योंकि स्वभाव, गुण और मार्गसे प्राणियोंके भाव भिन्न-भिन्न होते हैं ।"

इस वचनसे भी भक्ति और भावका अभेद ही ज्ञात होता है; अन्यथा 'भक्ति नाना प्रकारकी है' ऐसी प्रतिज्ञा करके उत्पत्तिकालिक सत्त्वादि गुणोंके भेदसे भावका भेद बतलाना असङ्गत होगा । श्रीनरसिंहपुराणमें भी इक्ष्वाकुके चरित्रमें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चकार मेघे तद्वर्णे बहुमानरतिं नृपः ।
पक्षपातेन तन्नाम्नि मृगे पद्मे च तादृशि ॥

इत्यादिना प्रेमातिशयस्यैव भक्तित्वं दर्शितम् । श्रीस्कन्दपुराणेऽपि–

बीभत्सिते दुर्विषये कदाचि-
द्यो वापि रागो भविता जनस्य ।
स चेद् भविष्यत्यपि नाम रुद्रे
को नाम मुक्तो न भवेद्भवाब्धेः ॥

इत्येतदेव दर्शितं भक्तिप्रक्रमात् । श्रीलिङ्गादिषु च—'स्वर-

"राजा इक्ष्वाकु [भगवान् कृष्णमें अत्यन्त भक्ति होनेके कारण] कृष्णके समान वर्णवाले मेघमें, उनके समान नामवाले कृष्णसार मृगमें और उन्हींके सदृश दीखनेवाले नील कमलमें भी पक्षपातके कारण बहुत आदर और प्रेमभाव रखने लगे।"

इत्यादि वाक्यद्वारा प्रेमकी अधिकताको ही 'भक्ति' बताया है। श्रीस्कन्दपुराणमें भी—

"प्राणियोंका इन बीभत्स घृणास्पद विषयोंमें भी कभी जो राग होता है वही यदि भगवान् शङ्करमें हो जाय तो भला कौन भवसागरसे मुक्त न होगा ?"

इस प्रकार भक्तिका प्रसंग आरम्भ करके यही बात दिखलायी है। और श्रीलिङ्गादिपुराणोंमें भी–'स्वरनेत्राङ्गविक्रिया'*

---

* स्वरविकार (गद्गदवाणी), नेत्रविकार (अश्रु) और अङ्गविकार (रोमाञ्च) है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नेत्राङ्गविक्रिया' इत्यत्रानुभावानामनुक्रान्तत्वात्तेषां च भावाङ्गभावादङ्गीभाव एव भक्तिरिति गम्यते।

भक्ते रसरूपत्वम्

स चायमाद्यो भावो वृत्त्यन्तरैरन्तरा निविशमानैरप्यनेकजन्मवासनावासिते चेतसि न व्यवच्छिद्यमानो विभावादिभी रसरूपतामापाद्यमानो निजस्वसंविदा निर्भरमालिङ्गितः स्वयमेवानन्दसंविदभिधानमुपचारासहं दधानो भक्तिरित्यभिधीयते।

इस वाक्यमें [भक्तिरसके] अनुभावोंकी गणना की गयी है तथा अनुभाव भावके ही अङ्ग होते हैं; अतः यही ज्ञात होता है कि अनुभावोंका अंगी (प्रधान अवयवी) भाव (प्रीति) ही 'भक्ति' है।

अनुभावोंकी अपेक्षा प्रधानभूत यह [अनन्य प्रीतिरूप] भाव जिस समय अनेक जन्मोंकी वासनासे वासित अन्तःकरणके भीतर प्रवेश करनेवाली अन्य (विषयोन्मुख) वृत्तियोंसे व्यवधान (अन्तर) को न प्राप्त होकर विभाव, अनुभाव और सात्त्विक एवं सञ्चारी भावोंके द्वारा रसरूपमें परिणत हो सुख-बुद्धिसे भलीभाँति अनुभूत होता है उस समय यह आप-ही-आप 'आनन्द-संवित्' इस यथार्थ नामको धारण करके 'भक्ति' कहलाने लगता है*।

---

* यहाँ रसानुभवका प्रकार बतलाया गया है—शृङ्गार, वीर आदि प्रत्येक रसका एक स्थायी भाव होता है, जैसे शृङ्गारका स्थायी भाव रति और वीरका उत्साह है। यह स्थायी भाव ही अत्यन्त अनुभवका विषय होनेपर 'रस' नाम धारण करता है। स्थायी भावकी अभिव्यक्ति विभाव, अनुभाव तथा सात्त्विक एवं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिरसस्यालम्बनविभावः

तस्य चालम्बनविभावोऽवज्ञाकृष्टकुसुमायुधसौन्दर्यसर्वस्वः कमलाकुचतटीपत्रभृङ्गो भगवाननन्तो वा मनागवलोकनखर्वीकृतमदन-

---

जिन्होंने कामदेवके सर्वस्वभूत सौन्दर्यको अवहेलनापूर्वक आकृष्ट कर लिया है [अर्थात् जिनके सौन्दर्यके सामने कामदेवकी कान्ति फीकी पड़ जाती है] वे लक्ष्मीजीके वक्षःस्थलपर बनायी हुई पत्रभङ्गीके भ्रमररूप भगवान् अनन्त (विष्णु) अथवा तनिक दृष्टि फेरते ही मदनके अभिमानको चूर्ण कर देनेवाले एवं चारु चन्द्रमा[illegible] मुकुट पहननेवाले

सञ्चारी भावोंसे होती है। विभावके दो भेद हैं, आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन नायक आदि हैं; क्योंकि उन्हींका आलम्बन करके रसका उद्गम होता है। रसको उद्दीप्त करनेवाले देश-काल और अन्य साधन उद्दीपन कहलाते हैं। मनके भावको व्यक्त करनेवाली आलम्बनकी चेष्टाओंको अनुभाव कहते हैं। इन सबका प्रभाव पड़नेसे सहृदय मनुष्यमें होनेवाले स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग और कम्प आदि विकार सात्त्विक भाव हैं और निर्वेद, चिन्ता, हर्ष, आवेग आदि सञ्चारी भाव हैं। सात्त्विक भावोंकी अनुभावोंमें भी गणना होती है। भक्तिरसका स्थायी भाव रति (परा प्रीति) है। आलम्बनविभाव भगवान् लक्ष्मीपति तथा श्रीमहादेवजी आदि हैं, उनके दिव्य धाम, आभूषण, सौन्दर्य और जन्माष्टमी-शिवरात्रि आदि पर्व उद्दीपनविभाव हैं। भगवान्के मन्द-मन्द हास्य और करुणा तथा स्नेहसे पूर्ण चितवन आदि ही अनुभाव हैं। इनका प्रभाव पड़नेसे भक्त पुरुषमें होनेवाले आँसू, रोमाञ्च, स्वर-भङ्ग आदि विकार सात्त्विक भाव हैं और अत्यन्त हर्ष तथा आवेग आदि सञ्चारी भाव हैं। इनके द्वारा व्यक्त हुआ रति (परा प्रीति) रूप स्थायी भाव ही भक्तिरस कहलाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गर्वी मुग्धमृगलाञ्छनशेखरः शङ्करो वा, तावपि श्रुतिपुराणवाक्यैः कर्णाभ्यर्णमवतीर्णौ वा, अभिनयैरभिनेयप्रतिभानमार्गमनुसरन्तौ वा; 'मज्जन्मकर्माभिनयः' इत्येतदर्थमेवाभिनयनस्य विहितत्वात् ।

उद्दीपनविभावाः

उद्दीपनविभावास्तु विलसदमलमरकतमणिमरीचिमञ्जरीपिञ्जरालिभ्रान्तिभूमयो निर्यन्मकरन्दबिन्दुजालजम्बालितगगनाङ्गनाः परिमलतर्पितपवनातिथयस्तरुणतुलसीवनवीथयः, मुरमथनरथाङ्गलाञ्छनच्छटापरिष्वङ्गसुव्यङ्ग्यसौभाग्यश्रेणिश्रीमद्गोपीचन्दनविदलानि, प्रसि-

भगवान् शङ्कर ही उस भक्तिरसके आलम्बन विभाव हैं। ये दोनों भी श्रुति और पुराणोंके वचनोंद्वारा कानोंके विषय होकर अथवा अभिनय (नाटक आदि) के द्वारा दिखायी जानेवाली ईश्वरीय लीलाओंकी स्फुरणाके विषय होकर भक्तिरसके आलम्बन होते हैं; क्योंकि 'मज्जन्मकर्माभिनयः (मेरे अवतारोंमें किये हुए चरित्रोंका अभिनय आदि मेरी भक्तिके साधन हैं)' इत्यादि वचनोंके अनुसार भक्तिके ही लिये अभिनयका विधान किया गया है।

इसी प्रकार जो परम सुहावनी निर्मल मरकतमणिके किरणजालके समान काले-काले भ्रमरोंके भ्रमणका स्थान हो रही हैं, जिन्होंने तुलसीसे निकलते हुए मकरन्दकी बूँदोंसे आकाशरूपी प्राङ्गणको चितकबरा बना दिया है और जो अपनी मनोहर गन्धसे वायुरूपी अतिथिको तृप्त कर रही हैं वे नूतन तुलसीवनकी वीथियाँ (गलियाँ), तथा भगवान् विष्णुके सुदर्शनचक्रके चिह्नोंकी शोभा धारण करनेसे जिनका सौभाग्यसमूह भलीभाँति व्यक्त हो रहा है ऐसे गोपी-चन्दनोंके खण्ड और जो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्धसकलाभरणसौन्दर्यसर्वस्ववञ्चनचणा नयनाह्लादिन्यो नलिनाक्षमालाश्च, हरनयनदहनदग्धसहचरस्मरविरहशुष्कावशिष्टकतिपयकलस्य कलावतः कलाभरचूर्णचय इव धवलिम्ना बहिरन्तस्तमसां तिरोदधानं मनोमुकुरमण्डलीमुज्ज्वलां विदधद्भासुरं भसितम्, सकलपुरुषार्थसंपत्सुरलताबीजश्रेणीश्रियो रुद्राक्षमालाश्च, हरिदिनहरयामिनीमहोत्सवादयश्च ।

सम्पूर्ण प्रसिद्ध आभूषणोंके सौन्दर्यरूपी सर्वस्वका अपहरण करनेमें निपुण एवं नेत्रोंको आनन्द देनेवाली हैं ऐसी पद्माक्षकी मालाएँ उद्दीपनविभाव हैं। इसी प्रकार भगवान् शिवकी नेत्राग्निसे दग्ध हुए अपने मित्र कामदेवके विरहसे सूख जानेके कारण जिसकी कुछ ही कलाएँ बच गयी हैं उस कलाधर (चन्द्रमा) की दग्ध कलाओंके भस्म-समूहकी भाँति जिसका रंग श्वेत है* तथा जो बाहर-भीतरके अन्धकारको नष्ट करनेवाला और हृदय-दर्पणको उज्ज्वल बनानेवाला है वह प्रकाशमान भस्म और समस्त पुरुषार्थरूप सम्पत्तियोंको [फलके रूपमें] देनेवाली दिव्य कल्पलताके बीजोंकी मालाके समान शोभा पानेवाली रुद्राक्षकी मालाएँ तथा हरिदिवस (एकादशी आदि) एवं शिवरात्रि (प्रदोष इत्यादि) के महान् उत्सव आदि भी उद्दीपनविभाव हैं।

---

* शिवके मस्तकवर्ती चन्द्रमा पहले पूर्ण कलाओंसे युक्त थे, जब उनके मित्र मदन शिवजीकी नेत्राग्निसे दग्ध हो गये तब मित्रके विरहसे उनकी कुछ कलाएँ दग्ध हो गयीं, उन्हींका जो भस्म हुआ उसीके समान शिवजीका भस्म श्वेत है—ऐसी यहाँ उत्प्रेक्षा की गयी है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुभावा व्यभिचारिभावाश्च

अनुभावा व्यभिचारिणश्च भरतादिमुनिमनीषिता एव न पुनरिहाभिनवाः । सर्वेषां चैतेषामुदाहरणानि श्रीमद्भागवते स्फुटतरमुपलभ्यन्ते; पुराणान्तरेषु च केषाञ्चित् ।

आलम्बनविभावादीनामुदाहरणानि

तत्रालम्बनविभावस्य च—

स्वयं त्वसाम्यातिशयस्त्र्यधीशः
स्वाराज्यलक्ष्म्याप्तसमस्तकामः ।

अनुभाव और सञ्चारी भाव तो यहाँ भी वे ही हैं जिन्हें भरत आदि मुनियोंने माना है, उनसे नवीन कोई नहीं हैं* । इन सभीके उदाहरण श्रीमद्भागवतपुराणमें स्पष्ट रीतिसे उपलब्ध होते हैं और किन्हीं-किन्हींके उदाहरण अन्य पुराणोंमें भी मिलते हैं ।

इनमेंसे आलम्बनविभावका—

"भगवान् श्रीकृष्ण तो स्वयं त्रिलोकीनाथ हैं, उनसे अधिक या उनकी बराबरी करनेवाला कोई है ही नहीं, वे अपनी स्वतःसिद्ध परमानन्दस्वरूप सम्पत्तिसे पूर्णकाम हैं, चिरकालीन

---

* मनके भावको प्रकाशित करनेवाली आलम्बनकी कटाक्ष-रोमाञ्च आदि चेष्टाएँ अनुभाव हैं । तथा निर्वेद, ग्लानि, शङ्का, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विषाद, उत्सुकता, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विरोध, अमर्ष, उग्रता, व्याधि, उन्माद, मरण, और वितर्क आदि सञ्चारी भाव हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः
किरीटकोट्येडितपादपीठः ॥

इत्यादि । उद्दीपनविभावस्य च—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

इत्यादि ।

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

लोकपालगण उन्हें नाना प्रकारकी भेंट अर्पण करते हुए अपने किरीटोंके अग्रभागसे उनकी चरण-पादुकाकी वन्दनारूप पूजा करते हैं ।"

इत्यादि उदाहरण है । और उद्दीपन विभावके—

"कमललोचन भगवान् विष्णुके चरणारविन्दोंपर चढ़ी हुई मञ्जरीसहित तुलसीके मकरन्दसे मिली हुई वायुने नासिकाके छिद्रसे उन अव्यक्त ब्रह्मके उपासक सनकादि मुनियोंके भीतर प्रवेशकर उनके भी तन-मनको क्षुब्ध (बेसुध) कर दिया ।"

इत्यादि उदाहरण हैं । इसी प्रकार—

"ऐसा व्रत रखनेवाला प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्का नाम-कीर्तन करते-करते अत्यन्त अनुरागके वशीभूत हो जाता है, उस समय उसका चित्त द्रवीभूत होने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥

इत्यादि । स्वरनेत्रगात्रविकाररूपाणामनुभावानां तत्रापि सात्त्विकानाम्—

क्वचिदुत्पुलकः तूष्णीं प्रेमप्रसरसम्प्लुतः ।
अस्पन्दप्रणयानन्दसलिलामीलितेक्षणः ॥

इत्यादि । निर्वेदादीनां च व्यभिचारिणाम्—

लगता है, कभी तो वह जोरोंके साथ हँस पड़ता है, कभी रोता है, कभी दहाड़े मारता है, कभी गाने लगता है और कभी अलौकिक अवस्थामें पहुँचकर उन्मत्तकी भाँति नाचने लगता है।"

इत्यादि [सामान्य अनुभावोंका उदाहरण है] तथा स्वर, नेत्र और गात्रोंके विकाररूप अनुभावों और उनमें भी सात्त्विक भावोंका—

"कभी उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आता है, प्रेमके प्रवाहमें डूब जानेके कारण उसकी वाणी रुक जाती है [वह मौन हो जाता है] और प्रेमानन्दके आँसुओंसे कुछ-कुछ मुँदी हुई उसकी आँखें एकटक देखती रहती हैं [पलकें नहीं गिरातीं]"

इत्यादि उदाहरण है। और निर्वेद आदि सञ्चारी भावोंका उदाहरण—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

क्व वाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः ।
क्व च नारायणेत्येतद् भगवन्नाम मङ्गलम् ॥

इत्यादि । एवं शैवेऽपि—

अस्ति कश्चिदपर्य्यन्तरमणीयगुणार्णवः ।
षड्विधाघमयस्यास्य सर्वस्य जगतः पतिः ॥
आत्मशक्त्यमृतास्वादप्रमोदरसिको युवा ।
अखण्डजगदण्डानां पिण्डीकरणपण्डितः ॥
अनन्तानन्दसंदोहमकरन्दमधुव्रतः ।
औदार्यधैर्य्यगाम्भीर्य्यमाधुर्य्यमकरालयः ॥

इत्यादीन्यालम्बनादीनामुदाहार्याणि ।

"कहाँ तो मुझ-जैसा धूर्त, ब्रह्महत्यारा, पापी एवं निर्लज्ज और कहाँ भगवान्‌का मङ्गलमय 'नारायण' नाम ?"—

इत्यादि है । इसी प्रकार शिवपुराणमें भी—

"काम-क्रोधादि छः प्रकारके पापोंसे भरे हुए इस सम्पूर्ण संसारका स्वामी और अनन्त रमणीय गुणोंका महासागर कोई ऐसा परमेश्वर है, जो अपने गुणरूपी अमृतका आस्वादन करके आनन्दित होनेवाले भक्तोंका रसिक (प्रेमी) है, जरा-रहित है, समस्त ब्रह्माण्डका संहार करनेकी विद्यामें प्रवीण है, अनन्त आनन्दराशिका रसास्वादन करनेमें भ्रमरके समान है और उदारता, धीरता, गम्भीरता एवं मधुरताका समुद्र है ।"

इत्यादि वाक्य आलम्बनविभावादिके उदाहरण देने योग्य हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भगवद्भक्तेरुत्साहाङ्गत्वनिरासः

एवं स्थिते यत्कैश्चिदुक्तं भक्तिरुत्साहेऽन्तर्भवतीति तल्लौकिकभक्त्यभिप्रायम्, तस्य समरार्थमेव स्वामिना स्वीकृतत्वात् । इह तु न तथा; यथोक्तं श्रीमता प्रह्लादेन—

अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं तु स्वाम्यनपाश्रयः ।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥

इति । तस्माद्रत्याख्यो भावो भक्तिरिति ।

ऐसी स्थितिमें, कुछ लोगोंने जो ऐसा कहा है कि भक्तिका उत्साहमें अन्तर्भाव होता है, वह लौकिक भक्तिके अभिप्रायसे कहा है; क्योंकि [सेवकके] उस उत्साहको स्वामीने संग्रामके ही लिये स्वीकार किया है। परन्तु यहाँ वैसी बात नहीं है; जैसा कि श्रीमान् भक्तप्रवर प्रह्लादजीने कहा है—

"मैं तो आपका निष्काम भक्त हूँ और आप भी मेरे स्वार्थरहित स्वामी हैं, इसके विपरीत यहाँ राजा और सेवककी भाँति हम दोनोंका स्वार्थयुक्त सम्बन्ध नहीं है।"

इससे यह सिद्ध हुआ कि रति (परा प्रीति) नामक भाव ही भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विहिताचरणं निषिद्धवर्जनं च भक्तिरिति
मतस्य प्रत्याख्यानम्

ननु श्रीविष्णुपुराणे विहिताचरणं प्रतिषिद्धवर्जनं च भक्तिरित्युक्तम्—

न चलति निजवर्णधर्मतो यः
समम‌तिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे ।
न हरति न च हन्ति किञ्चिदुच्चैः
सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् ॥

इत्यादौ ।

सत्यमुक्तम्, उपलक्षणं तु तच्छाखाग्रमिव चन्द्रस्य, न

शङ्का—श्रीविष्णुपुराणमें तो—

"जो अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, अपने मित्र या शत्रुपक्षमें समानभाव रखता है तथा न तो किसी वस्तुका अपहरण करता है और न किसीकी हिंसा ही करता है, उस अत्यन्त विशुद्ध चित्तवाले पुरुषको विष्णु-भक्त जानो।"

इत्यादि वचनोंमें विहित कर्मोंका आचरण और निषिद्धका त्याग ही 'भक्ति' है—ऐसा कहा गया है।

समाधान—हाँ सचमुच ही कहा गया है, परन्तु वह भक्तिका उपलक्षण है, जैसे शाखाका अग्रभाग चन्द्रमाका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वरूपं भक्तेः प्रकृष्टः प्रकाश इव; भावलक्षणाया भक्तेः पृथगुपादानात्।

मनसि कृतजनार्दनं मनुष्यं
सततमवेहि हरेरतीव भक्तम्।

इत्यत्र हि सततं मनसि कृतजनार्दनमिति सम्बन्धः, सातत्यं च न भावमन्तरेणावकल्पते। 'अतीव भक्तम्' इति च स एव मुख्यो भक्त इति दर्शयति। 'सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे' इति च सर्वात्मनि

उपलक्षक होता है* जिस प्रकार उत्तम प्रकाश चन्द्रमाका स्वरूप है उस प्रकार वह भक्तिका स्वरूप नहीं है; क्योंकि [विष्णुपुराणके निम्नाङ्कित वचनमें] भावरूपा भक्तिका पृथक् ग्रहण किया गया है।

"जिसने सदा ही मनमें भगवान् विष्णुको स्थापित कर रखा है उसे भगवान्का अत्यन्त भक्त समझो।"

यहाँ 'जिसने सदा ही मनमें भगवान् विष्णुको स्थापित कर रखा है' इस प्रकार अन्वय है और सदा मनमें रखना भाव (अनुराग) के बिना सम्भव नहीं है। 'अतीव भक्तम्' इस कथनके द्वारा यह दिखलाते हैं कि वही मुख्य भक्त है। मित्र और शत्रु-पक्षमें समानभाव रखता है—यह कथन

---

* जैसे कोई किसी पुरुषको चन्द्रमाका दर्शन करानेके लिये कहता है कि 'उस शाखाके ऊपर देखो वहीं चन्द्रमा दीखते हैं।' यद्यपि चन्द्रमा आकाशमें है, तथापि उस शाखाके सामने होनेसे ऐसा कहा जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वासुदेवे भावमन्तरेण नोपपद्यते। उपपद्यते चोपलक्षणत्वम्, विधि-प्रतिषेधातिक्रमो हि रागादिनिबन्धनः, न च पुरुषोत्तमप्रवणे चेतसि रागादयोऽवकाशं लभन्ते। अत एवाभाणि भगवता श्रीशुकेन—

विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चि-
द्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥

इति। लोकेऽपि भक्तसेवकयोर्भेदो दृश्यते, समानेऽपि राज-सेवाकर्मणि भक्तोऽयमभक्तोऽयमिति व्यपदेशदर्शनात्, तस्माद् भाव एव भक्तिः।

सर्वात्मा वासुदेवमें अनुरागके विना सिद्ध नहीं हो सकता। [हाँ, उपर्युक्त वाक्यका भक्तिमें] उपलक्षण होना तो सम्भव है, क्योंकि विधि और निषेधका अतिक्रमण रागादिके कारण होता है और भगवत्परायण हृदयमें रागादि स्थान नहीं पा सकते। अतएव भगवान् श्रीशुकदेवजीने कहा है—

"यदि भक्तसे किसी प्रकार अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी बन गया तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् उसका पूर्णतया मार्जन कर देते हैं।"

लोकमें भी भक्त और सेवकमें भेद देखा जाता है; क्योंकि एक ही समान राज-सेवा कर्ममें [प्रवृत्त हुए पुरुषोंमें] भी 'यह [राजाका] भक्त है, यह अभक्त है'—ऐसा व्यवहार दृष्टिगोचर होता है; अतः भाव (हार्दिक अनुराग) ही भक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वमधिकारिविशेषणत्वं च

सा च कीर्तनाङ्गम् "यन्नामकीर्तनं भक्त्या" इति श्रुतेः, न चासाविच्छया सम्पादयितुं शक्यते, अतोऽनुपादेयत्वादर्थादधिकारि-विशेषणं भविष्यति फलवत् । एतदेव स्पष्टीकृतम्—

केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः ।

वह भक्ति कीर्तनकी अङ्गभूत है; क्योंकि "यन्नामकीर्तनं भक्त्या (भक्तिके साथ किया हुआ जिनका नाम-कीर्तन)" इत्यादि वाक्य सुना जाता है। केवल इच्छामात्रसे भक्ति सम्पन्न नहीं की जा सकती, अतः [भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन सबके लिये सुलभ न होनेके कारण] यहाँ भक्ति शब्द अर्थतः ग्रहण करने योग्य नहीं है; अतएव वह अधिकारीका विशेषण ही होगी, और विशेषणरूपमें ही उसकी सफलता है*। इसीका,

"कोई-कोई भगवत्परायण पुरुष केवल भक्तिसे [अपने समस्त पाप नष्ट कर लेते हैं]"

---

* इस प्रसंगका भाव यों समझना चाहिये—'भक्तिपूर्वक किया हुआ जिनका नाम-कीर्तन समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है' इस कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि कोई भी कभी एक बार भक्तिपूर्वक नाम लेकर अपने पाप नष्ट कर सकता है। केवल पाप-नाशकी इच्छासे जीवनमें किसी समय एक बार नाम-कीर्तन करनेवाला पुरुष भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन कर ही नहीं सकता; क्योंकि भक्ति हार्दिक अनुरागको कहते हैं और वह बहुत दिनोंके अभ्याससे ही हो सकता है। हाँ, जिन्होंने भगवद्विषयक अनुराग प्राप्त कर लिया है, वे अवश्य भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन कर सकते हैं; अतः उन्हींका नाम-कीर्तनमें अधिकार है। इसलिये उपर्युक्त वाक्यमें भक्ति शब्द अधिकारीका ही विशेषण है और ऐसा माननेसे ही वहाँ 'भक्ति' शब्दका रखना सफल हो सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

इति । अत्र 'वासुदेवपरायणाः' इति तदेकलक्षणस्य भावस्याधिकारविशेषणभावेनोद्देशः, भक्त्येति भजनक्रिया कीर्तनादिरादीयते, केचिदिति च दुःसम्पादत्वेनाधिकारिविशेषणमेव दर्शयति—

स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥

इस कथनके द्वारा स्पष्टीकरण हुआ है । यहाँ 'वासुदेवपरायणाः' इस कथनके द्वारा, भगवत्परायण होना ही जिसका लक्षण है ऐसे भाव (प्रीति) का ही अधिकारीके विशेषणरूपसे प्रतिपादन किया गया है [अर्थात् यह कहा गया है कि पापक्षयके लिये प्रायश्चित्तरूपसे किये जानेवाले कीर्तनादिमें उसीका अधिकार है जो भगवान्में अनन्य अनुराग रखता हो] । 'भक्त्या' पदसे कीर्तनादिरूप भजन-क्रियाका ही ग्रहण होता है । 'केचित्' इस पदसे यह दिखलाते हैं कि [प्रेमलक्षणा] भक्तिका सम्पादन कठिन होनेके कारण [उसमें कोई-ही-कोई प्रवृत्त होते हैं; अतः] वह अधिकारीका विशेषण ही है । यथा—

"अन्य विषयोंसे चित्तकी अनुराग-वृत्तिको हटाकर केवल अपने (भगवान्के) चरण-कमलोंका ही भजन करनेवाले प्रिय भक्तसे यदि अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म भी हो जाता है तो उसके हृदयमें विराजमान भगवान् विष्णु उसका पूर्णरूपसे मार्जन कर देते हैं ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । तत्रापि 'त्यक्तान्यभावस्य' इति भावस्योद्देशः, 'भजतः' इति कीर्तनादेरुपादानम्, तस्माद् भक्तस्यैवाधिकारः ।

ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमुक्तव्यवस्थाया उपसंहारश्च

ज्ञानस्याप्यधिकारहेतुत्वमवगम्यते, "यतस्तद्विषया मतिः" इति 'यतो नाम्नस्तद्विषया मतिर्भवति, तस्य नाम्नो व्याहरणं पापक्षयहेतुः' इत्यतो यस्य तज्ज्ञानमस्ति स एवाधिकारीत्यर्थादुक्तं भवति । "तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम्" इति 'ज्ञान-

---

इसमें भी 'त्यक्तान्यभावस्य' इस पदमें भाव (अनुराग) का ही कथन है । 'भजतः' इस पदसे कीर्तन आदिका ग्रहण होता है । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि कीर्तन आदिमें भक्तका ही अधिकार है ।

ज्ञान भी अधिकारमें हेतु है [अर्थात् ज्ञानीका भी कीर्तनादिमें अधिकार है]—यह बात भी [शास्त्रोंद्वारा] ज्ञात होती है; क्योंकि "यतस्तद्विषया मतिः" इसका अर्थ यह है कि 'जिस नामसे भगवद्विषयिणी बुद्धि (भगवत्तत्त्वकी जानकारी) होती है उस नामका उच्चारण करना पाप-क्षयका हेतु है; अतः जिसको उसका ज्ञान है वही कीर्तनादिमें अधिकारी है—ऐसा अर्थतः प्रतिपादित होता है । "तदुत्तमश्लोकगुणोपलम्भकम् (भगवान्‌के नाम-सम्बन्धी पद भगवान् और उनके गुणोंको प्राप्त करानेवाले हैं)" इस वचनसे यह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वतो हरेर्नामपदैस्तद्वाचकैः शब्दैरुत्तमश्लोकं तद्गुणांश्चोपलभते यः स एवात्राधिकारी' इति व्यक्तमवगम्यते, ज्ञानं चात्र परोक्षपदार्थमात्रविषयं न पुनरपरोक्षमौपनिषदम्, एवं च श्रद्धाभक्तिज्ञानसम्पन्नस्याधिकारिणः पौराणं प्रायश्चित्तमितरस्य तु स्मार्तमिति व्यवस्थितम्।

पुराणवचनेष्वावृत्त्यनावृत्तिविषयकं विरोधमुद्भाव्य व्यवस्थान्तरेण तत्परिहारः

ननु भवतु स्मृतिपुराणवचनानामन्योन्यविरोधे व्यवस्थेयम्, इह पुनः पुराणवचनानामेवान्योन्यविरोधो विलोक्यते—कानि-

---

स्पष्ट ज्ञात होता है कि ज्ञानवान् भगवान्के नाम-सम्बन्धी पदों अर्थात् उसके वाचक शब्दोंसे पुण्यकीर्ति भगवान् और उनके गुणोंको जो प्राप्त कर लेता है वही [पाप-क्षयके लिये नाम-कीर्तनका] अधिकारी है। ज्ञान शब्दसे यहाँ परोक्ष पदार्थको ही विषय करनेवाला ज्ञान विवक्षित है, उपनिषद्वेद्य अपरोक्ष आत्माको विषय करनेवाला नहीं। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति और ज्ञानसे युक्त अधिकारीके लिये कीर्तन आदि पौराणिक प्रायश्चित्त विहित हैं और इतर लोगोंके लिये स्मृति-कथित द्वादशाब्द आदि प्रायश्चित्त कर्तव्य हैं—यह व्यवस्था सिद्ध हुई।

शङ्का—स्मृति और पुराणोंके वचनोंमें परस्पर विरोध होनेपर यह व्यवस्था रहे, परन्तु यहाँ तो पुराण-वचनोंमें ही परस्पर विरोध देखा जाता है—कुछ वचन तो एक वारके ही नाम-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्सकृत्कीर्तनादेव पापक्षयमभिदधति, कानिचिदावर्त्यमाना-द्विति। तथा हि श्रीलैङ्गे—

ॐ नमो नीलकण्ठाय इति पुण्याक्षराष्टकम्।
मन्त्रमाह सकृद्यस्तु पातकैः स विमुच्यते॥

इति। श्रीमद्भागवते तु—

हरेर्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः।

इति।

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्तनात्।

कीर्तनसे पापोंका नाश होना बतलाते हैं और कुछ अनेकों बार नामकी आवृत्ति करनेसे। जैसे श्रीलिङ्गपुराणमें तो—

"जो 'ॐ नमो नीलकण्ठाय' इस आठ अक्षरवाले पवित्र मन्त्रका एक बार भी उच्चारण करता है वह पापोंसे मुक्त हो जाता है।"

इस प्रकार [एक ही बारके नामोच्चारणसे पापोंका नाश होना] कहा है। परन्तु श्रीमद्भागवतमें—

"भगवान्‌के गुणोंका बार-बार उच्चारण अवश्य ही चित्त-को शुद्ध करनेवाला है।" "मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले साधकोंके लिये तीर्थपाद भगवान्‌के नामोंका बार-बार कीर्तन करनेसे बढ़कर दूसरा कोई साधन कर्म-बन्धनका उच्छेद करनेवाला नहीं है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति च । कस्तत्र विरोधपरिहार इति ?

उच्यते—तत्राप्यनुतप्तानुतप्तविषयत्वेन व्यवस्था, तथा हि श्रीवैष्णवे "कृष्णानुस्मरणं परम्" इत्यविशेषेण प्राप्तामावृत्तिमनुतप्तविषयेऽपवदति—

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।
प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम् ॥

इस प्रकार [बार-बार कीर्तनका] प्रतिपादन किया गया है। इन वचनोंमें विरोध-परिहारका क्या उपाय है ?

समाधान—बतलाते हैं, वैसे स्थलोंपर भी [एक वार और अनेक वारके कीर्तनकी क्रमशः] अनुतप्त और अननुतप्त*पुरुषके विषयमें व्यवस्था है, उसे दिखलाते हैं; श्रीविष्णुपुराणमें "कृष्णानुस्मरणं परम् (समस्त प्रायश्चित्तोंमें कृष्णका वार-वार स्मरणरूप प्रायश्चित्त ही सर्वश्रेष्ठ है)" इस प्रकार सबके लिये समानरूपसे प्राप्त हुई कीर्तनकी आवृत्तिका अनुतप्त पुरुषके विषयमें अपवाद करते हैं—

"पाप करनेपर जिस पुरुषको पश्चात्ताप होता है उसके लिये एक वार भगवान्‌का स्मरण कर लेना ही उत्तम प्रायश्चित्त है।"

---

* पाप करनेके बाद जिसको 'मेरेद्वारा बहुत बड़ा अनर्थ हुआ, इससे मेरा कैसे उद्धार होगा' ऐसी चिन्ता हो वह पुरुष अनुतप्त कहलाता है और पाप करनेपर जिसको पश्चात्ताप न हो वह अननुतप्त है। 'अनुतप्त पुरुष एक ही बारके कीर्तनसे अपने पाप दूर कर सकता है। परन्तु अननुतप्त पुरुषका पाप अनेकों बारके कीर्तनसे दूर होता है' ऐसी यहाँ व्यवस्था करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । अतोऽननुतप्तविषयैव सा व्यवतिष्ठते ।

ननु नेह निर्द्धारणमावृत्तेः, इयतो वारानितीयन्तं कालमिति वा, ततश्च कथमनिर्द्धारिता सा विधीयते ? नापि यावत्फलमावृत्तिरवघातादाविव, पापवत्तन्निवृत्तेरपि शास्त्रैकगम्यत्वात् ।

अतः जो अनुतप्त नहीं है, उसीके विषयमें आवृत्तिकी व्यवस्था की गयी है ।

शङ्का—परन्तु 'इतने वार या इतने समयतक आवृत्ति करे' इस प्रकार यहाँ आवृत्तिके परिमाण और कालका निश्चय तो किया नहीं गया है, फिर इस निश्चयके बिना ही कैसे आवृत्ति की जा सकती है ? यदि कहें, जबतक धानसे भूसी अलग होकर चावल नहीं निकल आता तबतक उसपर जैसे वार-वार मूसलकी चोट करते रहते हैं, वैसे ही जबतक पापक्षयरूपी फलकी सिद्धि न हो तबतक कीर्तनकी आवृत्ति करनी चाहिये, तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि [धानकी भूसी और उसका अलग होना—ये दोनों ही प्रत्यक्ष हैं; अतः चावल तैयार होनेतक उसपर मूसलकी चोट करते हैं; परन्तु पाप और पापकी निवृत्ति —ये दोनों प्रत्यक्ष नहीं हैं ।] जैसे पाप शास्त्रगम्य है वैसे ही उसकी निवृत्ति भी एकमात्र शास्त्रसे ही जानी जाती है *।

---

* भूसीके साथ रहनेपर धानका जो आकार रहता है, वह भूसी दूर होनेपर नहीं रहता, उस समय वह साफ चावलके रूपमें परिणत हो जाता है, परन्तु पुरुषके आकारमें पाप तो भूसीकी भाँति प्रत्यक्ष नहीं दिखायी देता तथा पापकी निवृत्ति हो जानेपर भी चावलके समान उसके आकारमें कोई स्थूल परिवर्तन नहीं होता । उसके कर्म देखकर शास्त्रोंके कथनानुसार ही उसमें पापका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—आवृत्तिश्रवणादेव पापतारतम्यादावृत्तितारतम्यं कल्प्यते, श्रूयते च तदष्टाक्षरब्रह्मविद्यायाम्—

गोमूत्रयावकाहारो ब्रह्महा मासिकैर्जपैः ।
पूयते तत एवार्वाङ् महापातकिनोऽपरे ॥

इत्यादि । तस्माद्यस्य पापं कृतवतो भाराक्रान्तस्येव 'न कदाचिदितः परं पापे प्रवर्तें' इति पश्चात्तापो जायते तस्य सकृत्कीर्तनं शोधनम्, इतरस्य पुनरावर्त्यमानमिति ।

समाधान—इसका उत्तर देते हैं; आवृत्तिके श्रवणसे ही यह कल्पना की जाती है कि न्यूनाधिक पापके अनुसार ही न्यून या अधिक मात्रामें आवृत्ति करनी चाहिये । पापकी यह न्यूनता-अधिकता अष्टाक्षर ब्रह्मविद्यामें सुनी जाती है—

"ब्रह्महत्यारा गोमूत्र और यावक (जौके आटेका हलवा) भोजन करके एक महीनेतक जप करनेसे पवित्र होता है तथा दूसरे महापातकी इससे पहले ही पवित्र हो जाते हैं।"

इत्यादि । [इससे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्महत्याकी अपेक्षा अन्य महापातक कुछ न्यून हैं] इसलिये जिस पाप करनेवाले पुरुषको भारसे दबे हुएकी भाँति इस प्रकार पश्चात्ताप होता है कि 'आजसे मैं पापमें प्रवृत्त नहीं होऊँगा', उसके लिये तो एक वारका ही कीर्तन पापनाशक हो सकता है और दूसरोंके लिये वार-वार किया हुआ कीर्तन पाप-निवारक होता है ।

निश्चय होता है तथा शास्त्रीय विधिसे प्रायश्चित्त करनेपर उसकी निवृत्ति भी शास्त्रोंद्वारा ही जानी जाती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धादिमतः कीर्तनेऽधिकार इत्यत्र विरोधोद्भावनम्, प्रसंगादभ्यासगतिसामान्ययोर्निरूपणं च ।

नन्वेवमपि—

साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥

इत्येवमादीनां का गतिः ? परिहासानादरयोर्हि न भक्ति-

शङ्का—ऐसा माननेपर भी—

"सङ्केत, परिहास, स्तोभ* या अनादरपूर्वक भी किया हुआ भगवान् विष्णुके नामोंका कीर्तन सम्पूर्ण पापोंका नाशक है—ऐसा महात्मा लोग जानते हैं।"

इस प्रकारके वचनोंकी क्या गति होगी ? परिहास और अनादरमें तो भक्ति, श्रद्धा और अनुतापोंकी सम्भावनातक

---

* पुत्र आदिका गोविन्द, केशव या नारायण आदि सङ्केत (नाम) रखकर उसका उच्चारण करना 'साङ्केत्य' है। उपहास करते हुए नाम लेना 'पारिहास्य' कहलाता है; जैसे कोई कहे, 'राम-राम'कहनेसे क्या होगा ?' इत्यादि। गीत आदिके स्वरको पूरा करनेके लिये किसी शब्दका [जिसका वहाँ कुछ अर्थ न हो] उच्चारण 'स्तोभ' है, जैसे सामवेदमें 'इडा' ' होई' इत्यादि शब्द। ऐसे ही अवसरपर भगवान्‌का नाम लेना 'स्तोभ' उच्चारण है। अथवा शीत आदिसे पीड़ित होनेपर बैठे-बैठे मुँहसे 'राम-राम' निकल गया—इस तरहका उच्चारण 'स्तोभ' है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धानुतापाः सम्भवन्ति, स्तोभसाङ्केत्ययोस्तु न ज्ञानमपि । आवृत्तिरपि नापेक्ष्यते—

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसङ्गादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्त्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥

इति सकृच्छब्दप्रयोगादाशुशब्दाच्च श्रद्धादयोऽप्युपेक्षिताः । अस्य ह्ययमर्थः—यदिति व्यस्तमव्ययम्, यस्य नाम द्व्यक्षरं सुखोच्चार्यम्, तदपि गिरेरितं न तु हृदयेन तदर्थमवधार्य; तच्च सकृन्न

नहीं है। स्तोभ और संकेतमें किये हुए उच्चारणमें तो ज्ञान भी नहीं है। आवृत्तिकी भी यहाँ अपेक्षा नहीं है; क्योंकि—

यद् द्व्यक्षरं नाम गिरेरितं नृणां
सकृत्प्रसंगादघमाशु हन्ति तत् ।
पवित्रकीर्तिं तमलङ्घ्यशासनं
भवानहो द्वेष्टि शिवं शिवेतरः ॥

इस वचनमें सकृत् शब्द और आशु शब्दका प्रयोग किया गया है, इसीलिये यहाँ श्रद्धा आदिकी भी उपेक्षा की गयी है, इसका अर्थ यों है—'यत्' शब्द पृथक् अव्ययपद है, 'जिस भगवान् शिवका दो अक्षरोंवाला अर्थात् सुखपूर्वक उच्चारण किये जाने योग्य 'शिव' नाम,—सो भी केवल वाणीद्वारा ही उच्चारण किया हुआ, न कि हृदयसे उसके अर्थका चिन्तन करते हुए; वह भी केवल एक ही बार, अनेकों बार नहीं; सो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहुवारम्; तदपि प्रसङ्गान्न तु श्रद्धादेः; अघम् अवधीरितमहदल्पभेदम् आशु शीघ्रमेव न तु कालान्तरव्यवधानेन हन्ति हिनस्ति, तत्रापि न नामिनश्चित्तमावर्ज्य किन्तु तत्स्वयमेव, तच्च सर्वेषां नृणां न द्विजानामेव, किं च कियदेतद् यदुत पापक्षयहेतुरस्य नामेति, अयं हि पवित्रकीर्तिः—पराग्भावेन प्रतिपन्नः परमेश्वर एव पविर्वज्रम्, "महद् भयं वज्रमुद्यतम्" इति श्रुतेः,

भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम्।

भी प्रसंगवश ही कहा हुआ श्रद्धा आदिके साथ नहीं,—पापमात्रको उसके छोटे-बड़े भेदके विचारकी अवहेलना करके तुरन्त ही नष्ट कर देता है, कुछ दिनोंके बाद कालान्तरमें नहीं। उसमें भी वह नाम नामी (भगवान्) का चित्त (ध्यान) आकृष्ट करके उसके द्वारा नहीं, अपितु, स्वयं ही [पाप दूर करता है]। तथा वह नाम द्विजातियोंका ही नहीं, सभी मनुष्योंका [पापनाशक है]। इसके अतिरिक्त इन भगवान् शिवका नाम पापक्षयका कारण है—यह ऐसी क्या बड़ी बात है? क्योंकि ये पवित्रकीर्ति हैं—बाह्यरूपसे प्रकट हुए परमेश्वर ही पवि—वज्र हैं, श्रुति भी कहती है "[परमेश्वर] प्रहार करनेके लिये उठे हुए महान् भयङ्कर वज्रके समान हैं।" स्मृति भी कहती है—

"महत्तत्त्व आदि सभी भिन्नदर्शी भूतोंको जिस (भगवान्) से भय होता है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति स्मृतेश्च; तस्मात् त्रायते भक्तं भेदभ्रान्तिमुन्मूल्य निरातङ्के निजमहिमन्यवस्थापयन्ती कीर्त्तिर्यस्य स पवित्रकीर्त्तिस्तं पवित्रकीर्त्तिं ब्रह्मादीनामप्यनतिक्रमणीयशासनं शिवं परममङ्गलं भवान् द्वेष्टीति । 'अहो शिवेतरः' इति वाक्यान्तरम् । शिवेतरः पर्य्युदस्तमङ्गलः, अमङ्गल इति यावत् । अन्येऽप्यमङ्गलाः सन्ति, अयं पुनरपूर्वोऽमङ्गल इति दक्षं देवी निन्दति ।

न चैषामतत्परत्वम्, अभ्यासाद्गतिसामान्याच्च ।

उस पविरूप भयसे जो भक्तोंको उनके भेद-भ्रमका उन्मूलन करके अपनी भयरहित महिमामें स्थापित करती हुई उनकी रक्षा करती है—ऐसी जिनकी कीर्ति है वे भगवान् पवित्रकीर्ति हैं, उन पवित्रकीर्ति भगवान्से अर्थात् जिनके शासनको ब्रह्मा आदि देवता भी नहीं लाँघ सकते, उन परम मङ्गलमय भगवान् शिवसे आप द्वेष करते हैं, इसलिये आश्चर्य और खेदके साथ कहना पड़ता है कि आप शिवसे भिन्न—मङ्गलरहित अर्थात् अमङ्गलरूप हैं। यहाँ 'अहो शिवेतरः' यह दूसरा वाक्य है, ['भवान् द्वेष्टि' तक पहला वाक्य समाप्त हो जाता है]। अमङ्गलरूप तो अन्य लोग भी होते हैं, पर यह (शिवका द्वेषी) अपूर्व (अद्भुत) अमङ्गल है—इस प्रकार [अपने पिता] दक्षकी सती देवी निन्दा करती हैं।

यदि कहें, इन 'साङ्केत्यम्…' आदि वचनोंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है [अर्थात् इनसे श्रद्धा आदिकी अपेक्षाका अभाव नहीं सूचित होता], तो यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसे वचनोंका [एक ही ग्रन्थमें] अभ्यास (बार-बार उल्लेख) देखा गया है और [अन्य ग्रन्थोंमें भी] इनका गति-सामान्य है [अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभ्यासस्तावदजामिलोपाख्याने—

> अयं हि कृतनिर्वेशो जन्मकोट्यंहसामपि ।
> यद्व्याजहार विवशो नाम स्वस्त्ययनं हरेः ॥

इति निर्वेशो भोगः, "निर्वेशो भृतिभोगयोः" इति नैघण्टुकाः, स च प्रायश्चित्त उपचर्य्यते, भोगप्रायश्चित्तयोः कर्मनाशहेतुत्वाविशेषात् । अत्र विवश इति विवक्षितम्, अविवशस्य तु न श्रद्धादयः सम्भवन्ति ।

उनमें इन्हींके समान वचनोंकी उपलब्धि होती है] । अभ्यासकी उपलब्धि अजामिलकी कथामें होती है—

"इस (अजामिल) ने जो विवश होकर भगवान्‌के मङ्गलमय नामका उच्चारण किया है उसीसे अपने करोड़ों जन्मोंके भी पापोंका उपभोग (प्रायश्चित्त) समाप्त कर लिया है ।"

'निर्वेश' भोगको कहते हैं, निघण्टु (कोष)-वेत्ताओंका मत है कि "निर्वेश शब्द भरण और भोग अर्थमें है" उसका प्रायश्चित्त अर्थमें उपचारतः प्रयोग होता है; क्योंकि भोग और प्रायश्चित्त समानरूपसे ही पापादि कर्मोंके नाशका कारण होते हैं । यहाँ [विशेष अभिप्रायको व्यक्त करनेके लिये] 'विवश' शब्दका प्रयोग अभीष्ट है; क्योंकि विवश पुरुषमें श्रद्धा आदि होनेकी सम्भावना नहीं रहती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम् ।
यदा नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम् ॥

इति; अघोनः—अघवतः, एतेनैवेति श्रद्धाविरहः, यदा जगाद तदैवेत्यनावृत्तिः, चतुरक्षरमिति च श्रद्धानपेक्षा, अक्षरसमाहारस्यैव विवक्षितत्वात्, संख्याकथनस्य चाधिकमिदमित्यभिप्रायः। एवमस्मिन् प्रकरणे भूयानभ्यासः ।

नन्वेकस्माद्वाक्याद्यावानर्थोऽवगम्यते किं तावानेवान्यस्मादपि;

"जिस समय इस (अजामिल) ने 'नारायण' इन चार अक्षरोंका उच्चारण किया है उसी समय इतने ही मात्रसे इस पापीके पापका प्रायश्चित्त हो गया ।"

'अघोनः' का अर्थ है अघवान् (पापी)का; 'एतेनैव (इतनेहीसे)' इस पदके द्वारा श्रद्धाका अभाव व्यक्त किया गया है । 'यदा जगाद तदा (जिस समय उच्चारण किया उसी समय)' इस कथनसे नामकीर्तनकी आवृत्तिका अभाव सूचित होता है । 'चतुरक्षरम् (चार अक्षर)' कहनेसे श्रद्धाकी अपेक्षा न होना सिद्ध होता है; क्योंकि उससे अक्षर-समुदायका कथन ही इष्ट है । संख्या कहनेका यह भी अभिप्राय है कि यह चार अक्षर तो बहुत अधिक है, एक या दो अक्षरोंसे भी पापका नाश हो सकता है । इस प्रकार इस प्रकरणमें बहुत अधिक अभ्यास (समानार्थक वचनोंकी आवृत्ति) है ।

आक्षेप—[तुम जिन-जिन वचनोंको समानार्थक मानते हो उनमेंसे] एक वचनसे जितना अर्थ जाना जाता है क्या दूसरे

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उताधिकः ? यदि तावदधिकस्तर्हि नाभ्यासस्तस्यैव तत्र विधेयत्वात्, उक्तस्यैव पुनरुक्तिरभ्यासः। अथ तावानेव, तथापि नतरामभ्यासः, भिद्यते हि तदा वाक्यार्थः; "एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्" इति न्यायेन, "आनन्दमयोऽभ्यासात्"

वचनसे भी उतना ही अर्थ ज्ञात होता है ? या उससे अधिक भी ? यदि अधिक अर्थ ज्ञात होता है तो उसे अभ्यास नहीं कह सकते; क्योंकि अधिक प्रतीत होनेवाला अर्थ ही उस वाक्यका विधेय (प्रतिपाद्य) है, अभ्यास तो कहे हुएका ही पुनः कथन करना कहलाता है। तथा यदि उतना ही अर्थ है तो भी अभ्यास नहीं हो सकता; क्योंकि उस समय "किसी विशेष अर्थका प्रतिपादन न होनेके कारण एकका ही पुनः श्रवण वाक्यार्थमें भेद करनेवाला होता है; यदि ऐसा न हो तो वह व्यर्थ हो जायगा" इस न्यायके अनुसार वाक्यार्थमें भेद हो जाता है। 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* इत्यादि स्थलोंमें

---

* तैत्तिरीयोपनिषद्में एक मन्त्र है—'तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः'। इसका अर्थ है—'इस पूर्वोक्त विज्ञानमयसे भिन्न उसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है।' यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त मन्त्रमें 'आनन्दमय' शब्द शुद्ध परब्रह्मका वाचक है ? या मनोमय, विज्ञानमय आदिकी भाँति परब्रह्मसे भिन्न [संसारी आत्मा] का वाचक है ? वहाँ 'तस्य प्रियमेव शिरः' (उसका 'प्रिय' ही शिर है) इत्यादि रूपसे शिर आदिकी कल्पना देखकर तो 'संसारी आत्मा' का ही वर्णन होनेका सन्देह होता है। इसी सन्देहका निवारण करनेके लिये व्यासजी सूत्ररूपमें कहते हैं—'आनन्दमयोऽभ्यासात्।' अर्थात् 'आनन्द शब्दका 'परब्रह्म' अर्थमें अनेकों बार उल्लेख होनेके कारण यहाँ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्र तु ब्रह्मणो दुर्भेदत्वाद् दुर्बोधत्वाच्च व्यतिरेकेणान्वयेन च पुनः पुनरुपादानं न विरुध्यते ।

तो ब्रह्मका भेद असंभव और बोध कठिन है इसलिये व्यतिरेक और अन्वयसे ब्रह्मका ही पुनः-पुनः ग्रहण करनेमें भी कोई विरोध नहीं है। [जैसा कि निम्नलिखित श्रुतिमें व्यतिरेक और अन्वयसे ब्रह्मका ही बार-बार ग्रहण हुआ है—]*

आनन्दमय शब्द 'परमात्मा' का ही वाचक है।' अब यह प्रश्न उठता है कि यदि 'एकस्यैवं पुनः श्रुतिः' इस न्यायके अनुसार पुनरुक्त शब्दके अर्थमें भेद हो जाया करता है तो उक्त सूत्रद्वारा यह क्यों कहा गया कि 'आनन्द शब्दका परब्रह्म-अर्थमें अनेकों बार प्रयोग हुआ है।' यहाँ भी दूसरा अर्थ क्यों नहीं हुआ ? इसीका उत्तर देते हुए मूलमें कहते हैं कि ब्रह्ममें भेद नहीं है तथा ब्रह्मका स्वरूप भी बुद्धिका विषय नहीं है, इसलिये परब्रह्म-वाचक 'आनन्द' शब्द किसी भिन्न ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता। अतएव वहाँ एक ही अर्थमें 'आनन्द' शब्दका अभ्यास (पुनरुक्ति) होनेपर भी कोई विरोध नहीं है।

* 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः' (कारण या अधिष्ठानकी सत्ता होनेपर ही कार्य या आधेयकी सत्ता रहती है)—यह अन्वय-व्याप्ति है। तथा 'तदभावे तदभावः' (कारण या अधिष्ठानके न होनेपर कार्य या आधेयकी सत्ता नहीं रहती)—यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। 'असन्नेव स भवति...' इस मन्त्रमें जो यह कहा गया है कि 'जो ब्रह्मकी सत्ता नहीं स्वीकार करता वह स्वयं भी नहीं है' यह व्यतिरेक-व्याप्ति है। ब्रह्म ही सबका अधिष्ठान है, अतः कोई भी सत्ताधारी अपने अधिष्ठान ब्रह्मकी सत्ता कैसे अस्वीकार कर सकता है, यदि करता है तो वह अपनी भी असत्ता प्रमाणित करता है। इसी प्रकार 'जो ब्रह्मको सत् मानता है वह सत् है'—यह अन्वय-व्याप्ति है; क्योंकि अधिष्ठानकी सत्ता होनेसे ही उसकी सत्ता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् ।
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः ॥

इति । इह तु न तथेति ।

तदयुक्तम्, इहापि विधेयस्यैकत्वेऽपि सुकरत्वेनाश्रद्धातिरस्कृतत्वात्, "नीहारमिव भास्करः" "दहत्येधो यथानलः" "यथा गदं वीर्यतमम्" इत्यादिभिरुदाहरणैरुपपत्तिभिश्च पुनः पुनः प्रति-

---

"जो ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म 'असत्' अर्थात् नहीं है' वह स्वयं ही असत् (असद्ग्राही होनेके कारण असाधु अथवा नष्ट) है। और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म सत् है [यानी ब्रह्म है]' तो उसे ब्रह्मवेत्ता पुरुष सत् (श्रेष्ठ या सत्तायुक्त) समझते हैं।"

परन्तु यहाँ तो ऐसी बात नहीं है।

उत्तर—यह कथन युक्तियुक्त नहीं है; क्योंकि यहाँ (कीर्तनके प्रकरणमें) भी विधेय (प्रतिपाद्य) एक होनेपर भी सुकर होनेके कारण अश्रद्धासे तिरस्कृत (छिपा हुआ) है [अर्थात् अत्यन्त सरल साधन होनेके कारण उसके इतने बड़े महत्त्वपर सबका विश्वास नहीं होता]; इसलिये "सूर्य जैसे तुषारको नष्ट करता है" "आग जिस प्रकार ईंधनको जला देती है" "प्रबल रोगको जिस प्रकार [ओषधि नष्ट करती है]" इत्यादि उदाहरणों और युक्तियोंके द्वारा [उसपर श्रद्धा कराने-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पादनं न विरुध्यते, एवमभ्यासो निरवद्यः ।

गतिसामान्यं च स्कान्दोक्तेः—

अवशेनापि संकीर्त्य सकृद्यन्नाम मुच्यते ।
भयेभ्यः सर्वपापेभ्यस्तं नमाम्यहमच्युतम् ॥
अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

इति । श्रीनारदीये च—

के लिये] पुनः-पुनः प्रतिपादन भी विरुद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार यहाँ अभ्यास (पुनरुक्ति) निर्दोष है ।

स्कन्दपुराणके वचनसे गति-सामान्य (ग्रन्थान्तरके वचनोंसे समानता) का ज्ञान होता है—

"जिनके नामका विवश होकर एक बार भी कीर्तन करनेसे मनुष्य भय और समस्त पापोंसे मुक्त हो जाता है, उस अच्युत भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ।"

[इसी प्रकार विष्णुपुराणमें भी कहा है—]

"मनुष्य भगवान्के नामका यदि विवश होकर भी उच्चारण कर ले तो जैसे सिंहसे डरे हुए भेड़िये आदि हिंसक जीव अपने शिकारको छोड़कर भाग जाते हैं, उसी प्रकार [नामोच्चारणसे भयभीत हुए] सम्पूर्ण पाप उसे तत्काल त्याग देते हैं ।"

श्रीनारदीयपुराणमें भी [ऐसा ही कहा है—]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिरिति सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः ।
जननीमार्गं मुक्त्वा मम पदवीं निविशते मर्त्यः ॥

एवं सर्वत्र । अत एतेषु कोऽधिकारी तत्रेति ?

उक्तविरोधपरिहारः

अत्रोच्यते—आसन्नमरणोऽधिकारी,

विक्रुश्य पुत्रमघवान्यदजामिलोऽपि
नारायणेति म्रियमाण उपैति मुक्तिम् ॥

"जिन मनुष्योंने किसीको धोखा देनेके लिये कपटसे भी एक बार हरिनामका उच्चारण किया है वे माताके गर्भमें आनेका मार्ग त्यागकर मेरे पद (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं ।"

इस प्रकार सर्वत्र [समझना चाहिये] । अतः [संकेत और परिहास आदिमें नामोच्चारण करते समय श्रद्धा आदिकी अपेक्षा असम्भव है, ऐसी दशामें] संकेत और परिहासपूर्वक किये जानेवाले श्रद्धाशून्य नामोच्चारणोंमें किसका अधिकार है ?

समाधान—इस विषयमें कहते हैं—जिसकी मृत्यु निकट है, उसीका इनमें अधिकार है; क्योंकि—

"पापी अजामिल भी मरते समय नारायण नामसे अपने पुत्रको पुकारकर मुक्ति पा रहा है ।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति दर्शनात्;

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि
नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति ।
तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा
संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥

इति च । श्रीनारदीये—

ब्राह्मणः श्वपचीं भुञ्जन् विशेषेण रजस्वलाम् ।
अश्नाति सुरया पक्वं मरणे हरिमुच्चरन् ॥
मुच्यते पातकात्तस्मान्नात्र कार्य्या विचारणा ॥

यह प्रमाण देखा जाता है। इसके अतिरिक्त—

"जो लोग प्राण-प्रयाणके समय विवश होकर भी जिन श्रीहरिके अवतार, गुण और कर्म-बोधक नामोंका उच्चारण करके सैकड़ों जन्मोंके भी पापोंको सहसा त्यागकर आवरणरहित ऋत (सत्य) धामको प्राप्त हो जाते हैं, उन्हीं अजन्मा ईश्वरकी मैं शरण हूँ।"

यह वचन भी प्रमाण है । श्रीनारदीयपुराणमें—

"यदि ब्राह्मण होकर चाण्डालकन्याका—विशेषतः रजस्वलाका भी संसर्ग करनेवाला हो और मदिराके साथ पका हुआ भोजन करता हो तो भी वह मरण-कालमें हरिनाम-का उच्चारणकर उस पापसे मुक्त हो जाता है, इसमें विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति निर्धारणाच्च। युक्तं च तस्मिन्नवसरे श्रद्धादिनैरपेक्ष्यं नाम्न एव सुदुर्लभत्वात्। तस्मान्न केनचित् किञ्चिद्विरुध्यत इति सर्वं सुस्थम्।

सिद्धान्तपक्षः—प्रागुक्तपूर्वपक्षखण्डनम्

एवं मध्यमश्रद्धानामधिकारिणां मनांसि समाधातुमुत्प्रेक्षते पन्थानमविरोधस्य। अन्य एव पुनः पन्थाः पारमार्थिकः। तथा हि—स्मृतिपुराणविरोधे व्यवस्थादयो नैव निविशन्ते, विषमं हि प्रामाण्यमनयोः। वेदादवगतेऽर्थे पदान्तरैरुपनिबद्धानि

इत्यादिरूपसे निश्चय करनेके कारण भी [मरणासन्न पुरुष ही श्रद्धारहित कीर्तनका अधिकारी प्रतीत होता है]। उस समय श्रद्धा आदिकी अपेक्षा न होना उचित भी है; क्योंकि ऐसे अवसरपर तो नाम ही दुर्लभ रहता है। इसलिये हमारे मतमें किसी भी वचनसे कुछ भी विरोध नहीं है। सब ठीक ही है।

सिद्धान्तपक्ष——पूर्वपक्ष नं० १ का खण्डन

इस प्रकार मध्यम श्रद्धावाले अधिकारियोंके मनका समाधान करनेके लिये अविरोध (समन्वय) के मार्गकी उत्प्रेक्षा (कल्पना) करते हैं; किन्तु यथार्थ मार्ग दूसरा ही है। वह इस प्रकार है—स्मृति और पुराणोंके विरोधमें व्यवस्था आदिका समावेश नहीं है; क्योंकि इन दोनोंकी प्रामाणिकता एक-सी नहीं है। वेदसे ज्ञात हुए अर्थको ही व्यक्त करनेके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महर्षिवाक्यानि खलु स्मृतयः; पुराणानि पुनर्वेदा एव; श्रीमहाभारते मानवीये च—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।

इति वचनात्, पूरणात्पुराणमिति व्युत्पत्तेश्च । न चात्रावेदेन वेदस्य बृंहणं संभवति, न ह्यपरिपूर्णस्य कनककवलयस्य त्रपुणा पूरणं संभवति ।

ननु यदि वेदशब्दः पुराणमितिहासं चोपादत्ते तर्हि पुराण-

लिये अन्य पदोंद्वारा लिखित महर्षि-वाक्य 'स्मृति' कहलाते हैं; किन्तु पुराण तो साक्षात् वेद ही हैं । महाभारत और मनुस्मृतिमें भी—

"इतिहास और पुराणोंके द्वारा वेदकी वृद्धि करे ।"

इत्यादि वचनसे यही बात सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त '[वेदको] पूर्ण (विस्तृत) करनेके कारण पुराण कहलाते हैं' इस 'पुराण' शब्दकी व्युत्पत्तिसे भी इसी बातका समर्थन होता है । जो वेद नहीं है, उससे वेदकी वृद्धि नहीं हो सकती; सोनेके अपरिपूर्ण कड़ेकी पूर्ति शीशेके टुकड़ेसे नहीं की जा सकती ।

पूर्वपक्षी—यदि 'वेद' शब्द पुराण और इतिहासको भी ग्रहण करता है, तो इन प्रसिद्ध पुराणोंसे भिन्न किन्हीं और ही पुराणोंका अन्वेषण करना चाहिये । यदि कोई अन्य पुराण नहीं मिलते तो इन इतिहास-पुराणोंकी तो वेदसे अभिन्नता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मन्यदेवान्वेषणीयम्; यदि तु न, न तर्हीतिहासपुराणयोरभेदो वेदेन।

उच्यते—विशिष्टैकार्थप्रतिपादकस्य पदकदम्बकस्यापौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रमभेदाद् भेदनिर्देशोऽप्युपपद्यते। अपि च साक्षादेव वेदशब्दः प्रयुक्तः पुराणेषु—

नहीं सिद्ध होती [क्योंकि 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इस वचनमें भेदका-सा निर्देश होनेसे सिद्ध होता है कि वेद इतिहास-पुराणोंसे भिन्न हैं] *

सिद्धान्ती–इसका उत्तर देते हैं—वेद और पुराण—दोनों एक ही विशिष्ट अर्थका प्रतिपादन करनेवाले पदोंके समूह हैं तथा दोनों ही अपौरुषेय हैं [अर्थात् दोनों ही किसी पुरुषके रचे हुए नहीं हैं] इस प्रकार इनमें परस्पर अभेद होनेपर भी स्वरभेद और क्रमभेद † होनेके कारण भेदनिर्देश भी ठीक ही है। इसके सिवा पुराण-अर्थमें साक्षात् वेद शब्दका भी प्रयोग हुआ है। यथा—

---

* पूर्वपक्षीका अभिप्राय यह है कि जैसे 'पानीसे दूध बढ़ाओ' इस कथनसे यह सिद्ध है कि पानी और दूध दोनों विभिन्न पदार्थ हैं, एक ही नहीं हैं; उसी प्रकार इतिहास-पुराणोंसे वेदकी वृद्धिका उल्लेख होनेके कारण यह जान पड़ता है कि दोनों दो वस्तु हैं। उक्त वचनसे यह सिद्ध नहीं होता कि वेद शब्द पुराणोंका भी वाचक है।

† वैदिक मन्त्रोंमें उदात्तादि स्वरका नियम होता है, पुराणोंमें ऐसा नहीं है—यही स्वरभेद है। तथा वैदिक मन्त्रोंकी जैसी आनुपूर्वी है, वैसी पौराणिक वचनोंकी नहीं है—यही क्रमभेद है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणं पञ्चमो वेदः.......................।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते।
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।

इत्यादौ; अन्यथा पञ्चमत्वं च नावकल्पेत, समानजातीयनिवेशित्वात् संख्यायाः। ब्रह्मयज्ञाध्ययने च विनियोगो दृश्यतेऽमीषां यद् "ब्राह्मणानीतिहासान्पुराणानीति, सोऽपि नावेदत्वे संभवति, अत एवाह भगवान्—

"पुराण पञ्चम वेद है" "इतिहास और पुराण पाँचवाँ वेद कहलाते हैं" "जिनमें महाभारत पाँचवाँ है उन वेदोंको पढ़ाया।"

इत्यादि। यदि यह बात न होती तो इतिहास-पुराणोंके पञ्चम वेद होनेकी कल्पना न की जाती; क्योंकि एक जाति (श्रेणी) के पदार्थोंमें ही संख्या-क्रमका समावेश होता है *। ब्रह्मयज्ञरूप स्वाध्यायमें भी जो इन पुराणादिकोंका विशेषरूपसे नियोग देखा जाता है; यथा—ब्राह्मणों (वेदके ब्राह्मण-भागों), इतिहासों और पुराणोंका स्वाध्याय करे इत्यादि, वह भी इतिहास-पुराणोंको वेद न माननेपर सम्भव नहीं है [क्योंकि ब्रह्मयज्ञमें केवल वेदका ही स्वाध्याय होता है]। इसीसे भगवान्ने स्वयं कहा है—

---

* यदि इतिहास-पुराण वेद न होते तो चार वेदोंके साथ इतिहास-पुराणको गिनकर 'पाँच वेद' नहीं कहा जा सकता था। जैसे पाँच अनारमें एक नारंगी डाल देनेसे 'छः अनार' नहीं कहा जा सकता। पानीसे दूध बढ़ानेका दृष्टान्त असंगत है; क्योंकि पानीसे दूध क्षीण होता है, बढ़ता तो पानी ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः ।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ॥

इति । पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय संकलयामीति हि तस्यार्थः । मात्स्यं कौर्ममित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिबन्धनाः, न तन्निर्माणनिबन्धनाः, काठकादिवत् । आनुपूर्वीनिर्माणनिबन्धना वा । अत एव श्रुतिपुराणविरोधे पुराणदौर्बल्यमानुपूर्वीभेदात्कदा-

---

"हे द्विजवरो ! मैं यह जानकर कि 'कालवशात् पुराणोंका ग्रहण नहीं हो रहा है [वे लुप्त-से हो गये हैं]' व्यासरूप धारण करके प्रत्येक युगमें उनका संग्रह करता हूँ ।"

इसका तात्पर्य यह है कि 'पूर्वसिद्ध पुराणोंका ही, उन्हें सुखपूर्वक जान लेनेके लिये, मैं सङ्कलन करता हूँ ।' मात्स्य और कौर्म आदि नाम तो [भगवान्के अवतार-भूत मत्स्य और कूर्म आदिके द्वारा उनका] प्रवचन होनेके कारण पड़े हैं, मत्स्य-कूर्म आदिकी रचना होनेके कारण नहीं । जैसे कठ-शाखाकी श्रुतियाँ कठके द्वारा संगृहीत होनेसे काठक कहलाती हैं । अथवा [मत्स्य आदिके द्वारा उन-उन पुराणोंकी] आनुपूर्वीका निर्माण होनेके कारण ही उनके मत्स्य आदि नाम हुए हैं । अतएव श्रुति और पुराणोंमें विरोध होनेपर पुराणोंको दुर्बल माना जाता है; क्योंकि आनुपूर्वीमें भेद होनेसे कदाचित् अर्थमें भी भेद हो सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चिदर्थोऽप्यन्यथा स्यादिति, स्मृतिपुराणविरोधे पुनः पुराणान्येव बलीयांसि।

एवं समुल्लङ्घितसकलशृङ्खलेषु यथास्वमेव स्वं स्वमर्थमभिदधानेषु पुराणवचनेषु मनागपि क्वचिदेकमवकाशमलभमानानां स्मृतीनां यदि नाम विषयसर्वस्वापहारः प्रसज्ज्येत, प्रसज्ज्यतां नाम; कथन्नु पुराणानामाञ्जस्यमुपमृद्य व्यवस्थापनप्रस्तावः। उक्तं हि नारदीये—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदः प्रतिष्ठितो देवि पुराणे नात्र संशयः॥

है। परन्तु स्मृति और पुराणोंमें भेद होनेपर तो पुराण ही प्रबल हैं।

यदि कहें ऐसा माननेपर तो, जिन्होंने प्रेम-भक्तिके प्रतिबन्धक समस्त दोषोंको दूर कर दिया है और जो यथार्थरूपसे ही अपने-अपने अर्थका प्रतिपादन करते हैं उन पौराणिक वचनोंके रहते हुए एक बार भी कहीं अवकाश न पानेवाली स्मृतियोंके समस्त विषयोंके बाधका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, तो इसके उत्तरमें निवेदन है कि भले ही उनके बाधका प्रसङ्ग उपस्थित हो, किन्तु पुराणोंका स्वारस्य-भङ्ग करके व्यवस्थाका प्रस्ताव कैसे किया जा सकता है? नारदीय पुराणमें कहा है—

“हे सुमुखि! मैं पुराणार्थको वेदार्थसे भी अधिक मानता हूँ, हे देवि! इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि पुराणोंमें ही वेद प्रतिष्ठित है। पुराणको अन्यथा करनेवाला पशु-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुराणमन्यथा कृत्वा तिर्य्यग्योनिमवाप्नुयात् ।
सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं प्राप्नुयात्कचित् ॥

इति । स्कान्दे च—

श्रुतिस्मृती हि नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना ॥
पुराणहीनाद्धृच्छून्यात्काणान्धावपि तौ वरौ ।

पुराणेषु व्यवस्थापकवचनानां मुमुक्षुविषयत्वम्

ननु न वयं व्यवस्थापयामः; अपि तु पुराणवचनान्येव व्यवस्थापयन्ति 'तावत्कर्म्माणि कुर्वीत' इत्येवमादीनि ।

पक्षी आदि योनियोंमें जाता है, [पुराणोंको मिथ्या माननेवाला मनुष्य] यदि अत्यन्त दमनशील और शान्त भी हो तो भी उसे कहीं भी गति नहीं मिलती।"

इसी प्रकार स्कान्द पुराणमें भी कहा है—

"श्रुति और स्मृति दो नेत्र हैं और पुराण हृदय है। जो श्रुति और स्मृति दोनोंसे ही हीन है वह अन्धा है; तथा जो इनमेंसे एकसे रहित है वह काना है; परन्तु जो पुराणसे हीन होकर हृदयशून्य है उससे तो वे अन्धे और काने ही अच्छे हैं।"

न्यायवेत्ताओंद्वारा की हुई व्यवस्थाकी समीक्षा ।

पूर्वपक्षी—हम स्वयं व्यवस्था नहीं करते, अपि तु "तबतक कर्म करे" इत्यादि पुराणोंके वचन ही व्यवस्था करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवम्, तेषां मुमुक्षुविषयत्वात्, मुमुक्षौ च दशाभेदेन क्रिया-भक्तिज्ञानानां समावेशो न विरुध्यत एव। यत्पुनर्नारदीयं वचनम्—"यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती" इति, तस्यापि न विश्वासपरिमाणप्रभाव इत्यभिप्रायः; "एतावानिति नैतस्य प्रभावः परिमीयते" इत्युत्तरार्धविरोधात्।

अथ परिमाणान्तरनिराकरणार्थं तत्, एवमप्यनर्थकं प्रसज्ज्येत;

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि ये वचन मुमुक्षुविषयक हैं। और मुमुक्षुमें तो दशाभेदसे क्रिया, भक्ति तथा ज्ञानका समावेश होना विरुद्ध नहीं ही है। तथा जो "यस्य यावांश्च विश्वासस्तस्य सिद्धिश्च तावती"* यह नारद-पुराणका वचन है उसका भी यह अभिप्राय नहीं है कि 'कीर्तनके प्रभावकी मात्रा कीर्तनमें होनेवाले विश्वासकी मात्राके अनुसार ही है;' क्योंकि ऐसा माननेपर "एतावानिति नैतस्य प्रभावः परिमीयते"† इस उत्तरार्धसे विरोध होता है।

यदि कहें वह उत्तरार्ध [श्रद्धा और विश्वासकी मात्राके अनुसार ही कीर्तनके प्रभावकी भी मात्राका निश्चय करने तथा इस निश्चित मात्रासे भिन्न] और किसी परिमाण (मात्रा) का निराकरण करनेके लिये है, तो भी उसको व्यर्थ माननेका

---

* जिसको जितना विश्वास है उसको उतनी सिद्धि प्राप्त होती है।

† 'उसका इतना ही प्रभाव है', ऐसा कहकर उसके प्रभावको मापा नहीं जा सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतरपदार्थमहिम्नामपि स्वस्वपरिमाणातिरेकेण परिमाणान्तराभावात् । तस्मादयमर्थः—निरङ्कुश एव मन्त्रस्य प्रभावः, तथापि यस्य यावान् विश्वासः स तावत्येव मन्त्रं विनियुङ्क्त इति तस्य तावदेव फलमिति ।

ही प्रसंग उपस्थित होता है; क्योंकि [यहाँ प्रभावके निश्चित परिमाणसे भिन्न किसी अन्य परिमाणकी आपत्ति ही नहीं होती है] कीर्तनके अतिरिक्त भी जितने महत्त्वशाली पदार्थ हैं उनके महत्त्वकी भी जो निश्चित मात्रा है उसके सिवा दूसरी मात्राकी आपत्ति उनमें नहीं होती। [अतः प्रभावके निश्चित परिमाणसे इतर परिमाण (मात्रा) का निराकरण करनेके लिये कोई 'वचन' होना आवश्यक नहीं है]। इसलिये उक्त नारदीय पुराणके वचनका भाव यह है—मन्त्रका प्रभाव तो निरंकुश (निर्बाध) ही है, तथापि जिसको जितना विश्वास है वह उतनेहीमें मन्त्रका उपयोग करता है, अतः उसको उतना ही फल मिलता है।*

---

* तात्पर्य यह है कि 'यस्य यावांश्च विश्वासः' इत्यादि वचनका अभिप्राय यह नहीं है कि 'श्रद्धा और विश्वासकी मात्राके अनुसार ही कीर्तनके प्रभावकी भी मात्रा है, इसलिये जिस पुरुषमें श्रद्धा नहीं है उसके किये हुए कीर्तनका कुछ फल ही नहीं है।' उसका तात्पर्य तो यह है कि 'कीर्तन स्वतः अपरिमित फल देनेवाला है, तथापि जिसको जितनी श्रद्धा या जितना विश्वास है, अर्थात् जो यह समझता है कि कीर्तन या मन्त्र इतना-सा ही फल दे सकता है, वह उतनेके ही लिये मन्त्र या कीर्तनका उपयोग करता है; अतः उसके संकल्पानुसार उसे उतना ही फल मिलता है।' जो उसके प्रभावको सीमित न करके श्रद्धा या अश्रद्धासे कीर्तन कर लेता है, उसे उसका पूरा फल अवश्य ही मिलता है; श्रद्धा न होनेसे फलमें बाधा नहीं आती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धानिबन्धनव्यवस्थाया निराकरणम्

अपि च किं कीर्तनादौ प्रवृत्तिमात्रहेतुः श्रद्धा; किं वा कीर्त्तनादेः फलसाधनेऽन्तर्भवति ? तत्र यदि तावत्प्रवृत्तिमात्रहेतुस्तदान्तरेणापि श्रद्धां कीर्त्तनादौ प्रवृत्तस्य पापक्षयो भवेदेव, तस्यैव निरपेक्षसाधनत्वात्, अथ फलसाधनेऽन्तर्भवति, तर्हि तस्याः शास्त्रेण वा साधनत्वं प्रमीयते प्रमाणान्तरेण वा ? तत्र यदा शास्त्रेण तदा श्रद्धासहकृतं कीर्त्तनं पावनमित्युच्यते, तत्र पृच्छामः, सा सहकारिणी

इसके अतिरिक्त इस बातपर विचार करना चाहिये कि श्रद्धा कीर्तन आदिमें मनुष्यकी प्रवृत्तिमात्र करानेमें हेतु है अथवा उसका कीर्तन आदिके फलसाधनमें अन्तर्भाव है ?* यदि वह प्रवृत्तिमें ही कारण हो तव तो विना श्रद्धाके भी जो कीर्तन आदिमें प्रवृत्त हो चुका है उसका पापक्षय हो ही सकता है; क्योंकि [पापनाशमें] कीर्तन आदि ही निरपेक्ष (स्वतन्त्र) साधन है। और यदि उसका फलसाधनमें अन्तर्भाव है [यानी श्रद्धा होनेपर ही फल हो सकता है] तो यह प्रश्न उठता है कि उसका फलमें साधन होना शास्त्रसे प्रमाणित होता है या किसी अन्य प्रमाणसे ? यदि उसे शास्त्रसे प्रमाणित मानें तो यह कहा जायगा कि श्रद्धासहित किया हुआ कीर्तन ही पवित्र करनेवाला है। ऐसी दशामें हम

---

* फल-साधनमें अन्तर्भाव होनेका अर्थ यह है कि श्रद्धाके विना पापक्षय-रूप फल हो ही नहीं सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धा कीर्त्तनमात्रमवलम्बते श्रद्धासहकृतं वेति ? न तावत् कीर्त्तनमात्रम्, तस्यासाधनत्वात् साधनविषयत्वाच्च श्रद्धायाः; साधनत्वे वा श्रद्धासहकारव्याघातः, अथ श्रद्धासहकृतं वेति, तत् किमात्मना सहकृतं श्रद्धान्तरेण वा ? न तावदात्मना तस्यैव विषयत्वं विषयित्वं वेति व्याघातात्, नापि श्रद्धान्तरेण तत्रापि विकल्पापातात्,

---

पूछते हैं कि वह सहकारिणी (साधनमें सहायता देनेवाली) श्रद्धा केवल कीर्तनका आश्रय लेती है या श्रद्धा-विशिष्ट कीर्तनका ? केवल कीर्तनका आश्रय लेती है—यह नहीं कह सकते; क्योंकि केवल कीर्तन साधन नहीं है और श्रद्धा साधनको ही विषय करनेवाली है, यदि केवल कीर्तनको साधन कहें तो [जो विना श्रद्धाके भी कीर्तनमें प्रवृत्त हो चुका है उसके भी पापोंका क्षय होगा ही, इसलिये] श्रद्धाका सहकार (साथ-साथ होना) स्वीकार करना व्याहत (असंगत) हो जायगा। यदि कहें कि श्रद्धा श्रद्धाविशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है; तो यह सन्देह होता है कि क्या वह स्वयं अपनेसे ही विशिष्ट कीर्तनका अवलम्बन करती है या किसी अन्य श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनका ? अपनेसे ही विशिष्ट कीर्तनको अपना विषय बनाती है—यह नहीं कहा जा सकता; क्योंकि 'वही विषय है और वही विषय करनेवाली भी है' ऐसा कथन [आत्माश्रय दोषसे युक्त होनेके कारण] विरुद्ध है। और यह भी नहीं कहा जा सकता कि किसी अन्य श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनको विषय करती है, क्योंकि वहाँ भी इस प्रकारके विकल्पकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तदपि किं केवलमवलम्बते स्वसहकृतं श्रद्धान्तरसहकृतं वेति, तत्राद्ययोरुक्तो दोषः, तृतीयेऽपि श्रद्धान्तरं नाम किं प्रथमा श्रद्धा तृतीया वा ? न तावत्प्रथमा; अन्योन्याश्रयापातात्, द्वितीयश्रद्धा-निरूपणे हि तत्सहकृतालम्बना प्रथमा निरूप्यते प्रथमश्रद्धा-निरूपणे च तत्सहकृतालम्बना द्वितीयेति, अथ तृतीया सापि यदि द्वितीयासहकृतमालम्बते; आयातमन्योन्याश्रयत्वम्, प्रथमासहकृतं चेच्चक्रकमापद्यते, प्रथमासहकृतं तृतीयालम्बते; तृतीयासहकृतं

आपत्ति है कि वह अन्य श्रद्धा भी केवल कीर्तनका आश्रय लेती है या स्वविशिष्ट कीर्तनका अथवा श्रद्धान्तरविशिष्ट कीर्तनका ? उनमें प्रथम दो पक्षोंमें दोष बतला चुके हैं। तृतीय पक्षमें भी यह प्रश्न होता है कि श्रद्धान्तर क्या वस्तु है ?—पहली श्रद्धा था तीसरी ? पहली तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि उससे अन्योन्याश्रय दोषकी प्राप्ति होती है [जो इस प्रकार है–] द्वितीय श्रद्धाका निरूपण होनेपर ही उससे विशिष्ट आश्रयवाली पहली श्रद्धाका निरूपण होता है और पहली श्रद्धाके निरूपण होनेपर ही उससे विशिष्टका आश्रय लेनेवाली द्वितीयाका निरूपण हो सकता है। यदि तृतीया श्रद्धा ही [श्रद्धान्तर है]—ऐसा मानें तो वह भी यदि द्वितीया श्रद्धासे विशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है तब तो अन्योन्याश्रय दोषकी आपत्ति होती है, यदि प्रथमा-विशिष्ट कीर्तनका आश्रय लेती है तो चक्रक दोषकी आपत्ति होती है; यथा—प्रथमासहकृत कीर्तनका आश्रय तृतीया लेती है, तृतीयासहकृत कीर्तनका अवलम्बन द्वितीया करती है और द्वितीयासहकृत कीर्तनका अवलम्ब प्रथमा लेती है। चौथी-पाँचवीं आदि श्रद्धाका सहकार मानें तो अनवस्था दोष-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

द्वितीया; द्वितीयासहकृतं प्रथमेति, चतुर्थादिसहकृतत्वेऽनवस्थापातः, तस्मान्न शास्त्रेण श्रद्धायाः सहकारित्वावगतिः संभवति ।

ननु कीर्त्तनस्य कारणत्वविषयिणी श्रद्धा; न पुष्कलकारणत्वविषयिणी, अतः कीर्त्तनमात्रविषयत्वेऽपि तस्या न सहकारित्वव्याघातः।

तदयुक्तम्, श्रद्धा हि 'साधनमिदं साध्यं न कदाचिद् व्यभिचरति' इति प्रत्ययः, स च पुष्कलकारण एवावकल्पते न कारणमात्रे, तस्माद्दुर्वार एवायं दोषः ।

की प्राप्ति होती है, इसलिये शास्त्रसे श्रद्धाके सहकारका ज्ञान सम्भव नहीं है।*

पूर्वपक्षी—श्रद्धा तो कीर्तनकी कारणताको ही अपना विषय बनाती है, पुष्कल-कारणताको नहीं, 'अतः श्रद्धा केवल कीर्तनको विषय करनेवाली है' ऐसा माननेपर भी 'वह कीर्तनके फल-साधनमें सहायक होती है' यह स्वीकार कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि 'यह साधन कभी साध्यसे पृथक् नहीं होता' ऐसा विश्वास ही श्रद्धा है; और ऐसा विश्वास पुष्कल कारणमें ही किया जा सकता है, कारणमात्रमें नहीं, अतः उक्त [चक्रकापत्ति और अनवस्था आदि] दोषका वारण करना कठिन ही है ।

---

* उपर्युक्त कथनका निचोड़ इतना ही है कि कीर्तन स्वतन्त्ररूपसे पापक्षयका साधक है, श्रद्धा हो तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु न हो तो कीर्तनके फलमें कमी नहीं आ सकती । इसलिये पूर्वपक्षीका यह मत, कि श्रद्धासहित किया हुआ कीर्तन ही पापक्षयका कारण है, ठीक नहीं । शास्त्र और युक्तिसे श्रद्धाकी अनिवार्यता सिद्ध नहीं होती ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु शास्त्रतः कीर्त्तनादेरेव पावनत्वं विश्वासस्य तु प्रमाणान्तरावसेयं सहकारित्वम्, सोऽपि शास्त्रावगतं कीर्त्तनमात्रादेरेव पावनत्वमवलम्बते, तत्र च नोक्तो दोषः।

एवं तर्हि यस्मिन्नारोग्यादावन्वयव्यतिरेकौ दृश्येते विश्वासस्य तत्र सहकारित्वमस्तु; पापक्षयः पुनरतीन्द्रियत्वान्न श्रद्धाकिञ्चित्कारमपेक्षते।

ननु यद्यवगम्यते सहकारित्वमेकत्र श्रद्धायाः तर्हि शक्यत

पूर्वपक्षी—परन्तु शास्त्रसे तो कीर्तन आदिकी ही पावनता सिद्ध होती है, विश्वासकी तो प्रमाणान्तरसे निश्चित की हुई सहकारिता है, और वह (विश्वास) भी शास्त्रसे ज्ञात हुई कीर्तनमात्रादिकी पावनताका ही आश्रय लेता है, अतः वहाँ पूर्वोक्त दोष नहीं है।

सिद्धान्ती—यदि ऐसा कहते हो तो जिस आरोग्य आदिमें विश्वासके अन्वय-व्यतिरेक [अर्थात् विश्वास होनेपर आरोग्य-लाभ होना और विश्वास न होनेपर आरोग्य-लाभ न होना आदि] देखे जाते हैं वहाँ उसकी सहकारिता रहे, परन्तु पापक्षय तो इन्द्रियोंसे गम्य नहीं है, अतः वह श्रद्धाकी कुछ भी सहायता नहीं चाहता।

पूर्वपक्षी—यदि एक जगह श्रद्धाकी सहकारिता ज्ञात होती है तो अन्यत्र भी उसका अनुमान किया ही जा सकता

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवानुमातुमन्यत्रापि, तथा हि—पापक्षयः श्रद्धादिसहित-साधनवान्; कर्मफलत्वात्, आरोग्यादिवत्।

तदयुक्तम्, कालात्ययापदिष्टत्वाद्धेतोः, अवशेनेत्यादिशास्त्रविरोधात्, सोपाधिकत्वाच्च; मानान्तरयोग्यत्वं हि तत्रोपाधिः, तस्य च

है। वह अनुमान इस प्रकार होता है—पापक्षय श्रद्धा आदि-सहित साधनवाला है; क्योंकि वह कर्मका फल है, जैसे आरोग्य होना आदि।

सिद्धान्ती—यह अनुमान असंगत है; क्योंकि 'अवशेनापि०' इत्यादि शास्त्रसे विरुद्ध होनेके कारण यहाँ [कर्मफलरूप] हेतु कालात्ययापदिष्ट* अर्थात् बाधरूप हेत्वाभाससे युक्त

---

* अनुमान-वाक्यमें सामान्यतः पक्ष, साध्य, हेतु और दृष्टान्त—ये चार बातें होती हैं, उक्त अनुमान-वचनमें 'पापक्षय' यह पक्ष है, 'श्रद्धादि साधनसे युक्त होना' यह साध्य है, 'कर्मफल' हेतु है और 'आरोग्यादि' दृष्टान्त है। हेतुके बाधित होनेपर पक्षमें साध्यकी सिद्धि नहीं होती है, हेतुके बाधक पाँच दोष हैं, जो हेत्वाभास कहलाते हैं, उनके नाम ये हैं—अनैकान्तिक, विरुद्ध, असिद्ध, सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट। यहाँ कालात्ययापदिष्ट नामक हेत्वाभास है, इसीको बाध भी कहते हैं; इसका लक्षण इस प्रकार है—'साध्यशून्यो यत्र पक्षस्त्वसौ बाध उदाहृतः। (जहाँ पक्ष साध्यसे रहित हो वह हेतु बाध या कालात्ययापदिष्ट कहा गया है)।' यहाँ कर्मफल होनेके कारण पापक्षयको श्रद्धादि साधनोंसे युक्त सिद्ध करना है, परन्तु 'अवशेनापि' इस वचनके अनुसार यदि मनुष्य विवश होकर भी श्रद्धादिके बिना ही भगवान्का नाम उच्चारण कर ले तो वह पापसे मुक्त हो जाता है। नामोच्चारणसे होनेवाला जो पापक्षय है उसमें श्रद्धादि साधनका अभाव है; अतः यहाँ पापक्षयरूप पक्ष श्रद्धादिरूप साध्यसे रहित है इसलिये कर्मफलरूप हेतु कालात्ययापदिष्ट है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक उपाधिः' इत्यस्मिन्नुदयननये

है, इसके अतिरिक्त यह हेतु सोपाधिक* भी है [इसलिये साध्यका साधक नहीं हो सकता]; मानान्तरकी योग्यता ही यहाँ उपाधि है। 'साधनमें व्यापक न होकर जो साध्यमें व्याप्त

---

* पूर्वोक्त हेत्वाभासोंमेंसे जो असिद्ध नामक हेत्वाभास है, वह तीन तरहका होता है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध। जहाँ हेतु सोपाधिक (उपाधिविशिष्ट) हो वहाँ व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभास होता है। यहाँ पूर्वोक्त अनुमान-वाक्यमें जो कर्मफलरूप हेतु है वह उपाधिविशिष्ट है। मूलमें उपाधिका यह लक्षण बतलाया है कि 'जो साधनमें व्यापक न होकर साध्यमें व्यापक हो वह उपाधि है।' इस विषयको अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक अन्य उदाहरण दिया जाता है—जैसे कोई कहे कि 'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' (पर्वत धूमसे युक्त है; क्योंकि वहाँ अग्नि है) तो वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग (गीली लकड़ी और आगका संयोग) उपाधि है; क्योंकि यहाँ धूम साध्य है, और धूम जहाँ-जहाँ रहता है वहाँ-वहाँ अवश्य ही गीली लकड़ी और आगका संयोग होता है, इस प्रकार साध्यभूत धूममें तो आर्द्रेन्धनसंयोगरूप उपाधि व्यापक है; परन्तु साधनभूत अग्निमें यह उपाधि व्यापक नहीं है। जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही यदि आर्द्रेन्धनसंयोग होता तो यह साधनमें भी व्यापक होता, परन्तु देखा यह जाता है कि तपाये हुए लोहेमें अग्नि तो है, पर वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग नहीं है। इस तरह यह आर्द्रेन्धनसंयोग साध्यभूत धूममें व्यापक होकर साधनभूत अग्निमें व्यापक न होनेके कारण उपाधि है तथा इससे युक्त हेतु सोपाधिक है; अतः यह अनुमान प्रामाणिक नहीं रहा। इसी प्रकार पापक्षयरूप कार्य श्रद्धादिसे युक्त साधनोंद्वारा होनेवाला है; क्योंकि वह कर्मफल है। जैसे आरोग्यादि। [औषधसेवनरूप कर्म करनेसे मनुष्य नीरोग होता है; अतः आरोग्य आदि कार्य कर्मफल है तथा श्रद्धा और विश्वासपूर्वक ही औषध सेवन करनेसे आरोग्य-लाभ होता है; अतः श्रद्धादिसे युक्त औषध ही आरोग्यका साधन कहा जा सकता है] उपर्युक्त अनुमानके अनुसार श्रद्धायुक्त नाम-कीर्तन करनेसे ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

युज्यत एवोपाधित्वम्, 'साध्यसमव्याप्तिः' इति तु मतान्तरे, व्यापकानु-

रहता है वह उपाधि है' इस उदयनाचार्यके न्यायानुसार उसका उपाधि होना उचित ही है। साध्यसम व्याप्ति (साध्यके समान जिसकी व्याप्ति हो वह) उपाधि है—इस

पापक्षय हो सकता है विना श्रद्धाके नहीं। यदि उक्त अनुमान प्रामाणिक होता तो सचमुच ऐसा ही माना जाता, पर यहाँ तो कर्मफलरूप हेतु ही सोपाधिक होनेके कारण व्याप्यत्वासिद्ध नामक हेत्वाभाससे बाधित हो जाता है। मूलके कथनानुसार मानान्तरकी योग्यता ही यहाँ उपाधि है। जो शब्दादि किसी एक प्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी ज्ञात हो उसे मानान्तरयोग्य कहते हैं। जिस प्रकार वैद्यकशास्त्रीय शब्दप्रमाणसे जाना जाता है कि औषध-सेवनसे आरोग्य-लाभ होता है, परन्तु यह आरोग्यलाभ प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी सिद्ध है, औषध-सेवनसे दूसरोंका लाभ होते देखा गया है, अतः अपने लिये अनुमानतः आरोग्य-लाभ होनेका विश्वास होता है, अतएव औषधसेवनमें श्रद्धा होती है। इसलिये औषध-सेवनमें होनेवाली श्रद्धा शब्दप्रमाणके अतिरिक्त प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाणकी भी योग्यता रखती है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ भी श्रद्धा होती है, वहाँ-वहाँ प्रमाणान्तरकी योग्यता होती है। उपर्युक्त अनुमान-वाक्यमें श्रद्धा ही साध्य है, उसमें मानान्तर-योग्यतारूप उपाधि व्यापक है—यह बात स्पष्ट हो गयी। अब देखना चाहिये हेतुमें भी मानान्तरयोग्यता व्यापक है या नहीं? यहाँ हेतु है कर्मफल। यद्यपि आरोग्यादि कर्मफलोंमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोंकी पहुँच होनेसे कर्मफलमें भी मानान्तर-योग्यता देखी जाती है, तथापि वह उसमें पूर्णतया व्यापक नहीं है, क्योंकि पापक्षयरूप जो कर्मफल है वह प्रत्यक्ष या अनुमानसे नहीं जाना जा सकता। वह तो शब्दप्रमाणसे ही जाना जाता है। अतः मूलोक्त लक्षणके अनुसार साध्यमें व्यापक होकर साधनमें अव्यापक होनेके कारण यहाँ हेतु मानान्तर-योग्यतारूप उपाधिसे युक्त होकर बाधित हो जाता है, इसलिये उक्त अनुमान अप्रामाणिक रहा, अतएव नाम-कीर्तनमें श्रद्धाकी अनिवार्यता नहीं सिद्ध हुई।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पलब्धिलिङ्गकानुमानबाध एवेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

का तर्हि गतिः "श्रद्धावित्तो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्येत्" इत्यादीनाम् ?

अन्य मतमें तो व्यापककी उपलब्धि न होनेके कारण अनुमानका बाध ही हो जायगा* । अब इस विषयमें अधिक विस्तारकी आवश्यकता नहीं है।

पूर्वपक्षी—[यदि ऐसी वात है] तो "श्रद्धारूपी धनसे सम्पन्न होकर आत्मामें ही आत्माको देखे" इत्यादि वाक्योंकी क्या दशा होगी ?

---

* अन्य मतमें जो उपाधिका लक्षण दिया गया है उसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जहाँ-जहाँ साध्य हो वहाँ-वहाँ जो साध्यके साथ ही व्याप्त हो वह उपाधि है । यहाँ श्रद्धा आदि साध्य हैं, और जहाँ-जहाँ श्रद्धादि हैं वहाँ-वहाँ यदि मानान्तरयोग्यत्व भी हो तो वह साध्यके साथ पूर्णतया व्यापक हो सकता है। यद्यपि अन्य आरोग्यादि कर्मफलोंमें श्रद्धादि साधनके साथ प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरोंसे ज्ञात होनेकी योग्यता भी प्राप्त होती है परन्तु 'पापक्षय' में यह बात देखनेमें नहीं आती । 'पापक्षय' रूप कर्मफलमें श्रद्धादि साधन तो है परन्तु वहाँ शब्दातिरिक्त अन्य प्रमाणकी पहुँच नहीं है [अर्थात् शास्त्रीय वचनसे ही पापक्षय होना जाना जाता है, प्रत्यक्ष नहीं देखा जाता।] इसलिये वहाँ मानान्तरयोग्यत्वरूप व्यापककी उपलब्धि न होनेके कारण पूर्वोक्त अनुमानका बाध हो जायगा। बाधक अनुमानका वाक्य इस प्रकार होगा—'पापक्षयो न श्रद्धादिसहितसाधनवान् तथार्थे मानान्तरायोग्यत्वात् ।' अर्थात् पापक्षय श्रद्धा आदिसे युक्त साधनवाला नहीं है; क्योंकि उसके वैसा होनेमें किसी अन्य प्रमाणकी योग्यता नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्यते—न तत्र श्रवणादिविधिवाक्यार्थविषयिणी श्रद्धा श्रवणादेः सहकारित्वेन विधीयते, किन्तर्हि ? तत्त्वमस्यादि-वाक्यार्थविषयिणी, सा च न प्रतीचः परत्वे वाक्यार्थेऽन्त-

सिद्धान्ती—बतलाते हैं—[श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्य-श्चेच्छताभयम् (अभयपदके इच्छुकोंको भगवान्‌के नामोंका श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये)] इत्यादि श्रवण तथा कीर्तनादिसे सम्बन्ध रखनेवाले जो विधिवाक्य हैं, उनके अर्थको विषय करनेवाली श्रद्धाका यहाँ श्रवणादिकी सहकारिणीरूपसे [अर्थात् श्रवण, कीर्तन आदिमें साथ-साथ श्रद्धाका रहना आवश्यक है—इत्यादिरूपसे] विधान नहीं किया जाता तो किसका विधान किया जाता है ? 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू ही है) इत्यादि वाक्योंके अर्थको विषय करने-वाली श्रद्धाका ही यहाँ विधान किया जाता है* वह (तत्त्वमसि आदि वचनोंके अर्थको विषय करनेवाली) श्रद्धा भी 'जीवात्मा ही परब्रह्म है' इस अभिप्रायवाले [तत्त्वमसि आदिके] वाक्यार्थमें अन्तर्भूत (अन्वित) नहीं होती अपि तु ब्रह्म और आत्माके एकत्वका निश्चयात्मक ज्ञान करानेके लिये

* अर्थात् 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' आदि वाक्यका यह अभिप्राय है कि 'जीव और ब्रह्मकी एकताका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंपर विश्वास करके अपनेमें ही ब्रह्मभावकी अनुभूतिका प्रयत्न करना चाहिये।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भवति; अपि तु प्रमाणेतिकर्तव्यतात्वेन बहिरेवावतिष्ठते, न च तत्रोक्तदोषप्रसङ्गः, "श्रद्धयाग्निः समिध्यते" इत्यादि तु प्रवृत्तिहेतोः श्रद्धायाः स्तावकप्रवृत्तिं विना पुरुषार्थस्यैवासिद्धेः।

ननु यदि प्रवृत्तिहेतुः श्रद्धा, आयातमधिकारिविशेषणत्वं श्रद्धायाः ?

एक सहकारी साधनके रूपमें वाक्यार्थसे बाहर ही रहती है* इसलिये वहाँ [कीर्तनादिमें श्रद्धाका होना स्वीकार किये विना 'श्रद्धावित्तो भूत्वा' आदि वाक्य व्यर्थ होते हैं इत्यादि] पूर्वोक्त दोषकी आपत्ति नहीं है। "श्रद्धासे अग्नि प्रज्वलित होती है" इत्यादि वचन तो इसलिये कहे गये हैं कि श्रद्धा उस (यागादि) में प्रवृत्ति करानेका हेतु है; अतः उसके प्रशंसक वाक्योंका उपयोग किये विना पुरुषार्थमें किसीकी स्वतः प्रवृत्ति न होनेके कारण पुरुषार्थ ही असिद्ध हो जायगा।

पूर्वपक्षी—यदि श्रद्धा प्रवृत्ति करानेमें हेतु है, तब तो 'वह (श्रद्धा) अधिकारीका विशेषण है [अर्थात् किसी भी कर्ममें श्रद्धावान्‌का ही अधिकार है]' यह बात स्वतः सिद्ध हो गयी।

---

* 'श्रोतव्यः कीर्तितव्यः' इत्यादि वाक्यमें तो श्रद्धाका वाक्यार्थमें अन्तर्भाव (अन्वय) हो सकता है, जैसे श्रद्धया श्रोतव्यः (श्रद्धापूर्वक श्रवण करे) आदि। परन्तु 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यके 'वह ब्रह्म तू ही है' आदि अर्थमें श्रद्धाका अन्वय नहीं हो सकता; क्योंकि 'श्रद्धापूर्वक या श्रद्धासे वह ब्रह्म तू है' इत्यादि कथन नहीं बनता। इसलिये यहाँ श्रद्धाके विधानका इतना ही तात्पर्य है कि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यपर श्रद्धा करनेसे धीरे-धीरे ब्रह्मात्मैक्यका निश्चय होता है, इस प्रकार श्रद्धा उक्त निश्चयमें सहायक होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मैवम्, अशाब्दत्वात् ।

नन्वशाब्दमपि सामर्थ्यवद् विद्वत्तावच्चाधिकारिविशेषणं भवत्येव शब्दापेक्षितत्वात्, श्रद्धा च शब्दापेक्षिता भवति, असमर्थस्याविदुषोऽश्रद्दधानस्यानुष्ठानायोगात् । अतोऽधिकारिविशेषणमेव श्रद्धेति ।

सिद्धान्ती—ऐसा न कहो, क्योंकि यह बात [स्मृति या पुराणोंके] शब्दसे नहीं निकलती ।

पूर्वपक्षी—शब्दतः प्रतिपादित न होनेपर भी सामर्थ्य और विद्वत्ताकी भाँति शब्दसे अपेक्षित होनेके कारण श्रद्धा भी अधिकारीका विशेषण हो ही सकती है । शब्दसे श्रद्धाकी भी अपेक्षा प्रतीत होती है; क्योंकि असमर्थ, अविद्वान् और अश्रद्धालु पुरुष विधिके अनुष्ठानमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा अधिकारीका विशेषण ही है ।*

---

* पूर्वपक्षीका अभिप्राय यह है कि यद्यपि किसी वचनमें प्रायः यह स्पष्टरूपसे नहीं कहा गया रहता है कि, वही पुरुष कर्म करे जो उसे करनेमें समर्थ हो और उसे जानता हो, तथापि असमर्थ और अनजान पुरुष उस कर्मको कर ही नहीं सकता, इसलिये उस वचनसे अपेक्षित होनेके कारण यह नियम स्वीकार किया जाता है कि समर्थ और जानकार पुरुष ही कर्म करे । इसी प्रकार 'कीर्तनादिमें श्रद्धालुका ही अधिकार है' ऐसा स्पष्ट वचन न होनेपर भी श्रद्धाहीन पुरुष उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, इसलिये उक्त नियम स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि सामर्थ्य और जानकारीकी भाँति श्रद्धाकी भी अपेक्षा शब्दसे प्रतीत होती है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

असार्वत्रिकमेतत्; यद्धि बहुलाङ्गं—बहुधनसाध्यं वा बहुकालव्यापि वा स्वरूपेण वा दुष्करं कर्म तत्र न कश्चिदपि श्रद्धां विना प्रवर्तत इति भवत्यधिकारहेतुः श्रद्धा, यत्र पुनः सुकरे कीर्तनादौ प्रकारान्तरेणापि प्रवृत्तिः संभवति तत्रानुपपत्तेरभावादश्रुतत्वाच्च नियमपरिकल्पनायोगान्नैवाधिकारहेतुः श्रद्धेति।

भक्तिनिमित्तकव्यवस्थायाः प्रत्याख्यानम्

भक्तेरप्यधिकारिविशेषणत्वं न संभवति, सा हि श्रवणादिनव-

सिद्धान्ती—यह नियम सर्वत्रके लिये नहीं है, जो कर्म बहुत-से अङ्गोंवाला, अधिक धनसे सिद्ध होनेयोग्य, अधिक समयतक चालू रहनेवाला अथवा स्वरूपसे ही दुष्कर है, उसमें श्रद्धाके विना कोई प्रवृत्त नहीं होता, इसलिये वहाँ श्रद्धा अधिकारमें हेतु होती है। परन्तु जिस कीर्तन आदि सुकर कार्यमें श्रद्धाके विना ही दूसरे प्रकारसे भी प्रवृत्ति होनी सम्भव है वहाँ श्रद्धाके अनिवार्य होनेका नियम करना उचित नहीं है; क्योंकि वैसा नियम न करनेपर भी कोई अनुपपत्ति नहीं दीख पड़ती और किसी वचनद्वारा उस नियमका श्रवण भी नहीं होता है। इसलिये श्रद्धा [कीर्तनादिमें] अधिकारका कारण नहीं हो सकती।

इसी प्रकार भक्तिको भी अधिकारीका विशेषण मानना सम्भव नहीं है, क्योंकि [विशेषण माननेके पहले यह विचार लेना आवश्यक है कि यहाँ भक्तिका स्वरूप क्या है?] क्या श्रवण, कीर्तन आदि नव प्रकारोंसे भगवान्‌का भजन करना ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विधभजनलक्षणा भावलक्षणा वा ? न तावद् भजनलक्षणा तस्यामेवाधिकारहेतोर्जिज्ञासितत्वात्, नापि भावलक्षणा; सा हि फलं निमित्तं वा ? तत्र यदि फलम्, काम्यमानतयैव तस्या अधिकारिविशेषणत्वं न स्वरूपेण, तथा च सति भक्तिकामस्याधिकारः स्यान्न भक्तस्य। न च तस्याप्यधिकारः, ब्रह्महादेर्हननादिजनितदोषनिरासार्थिनोऽधि-

---

भक्तिका स्वरूप है ? या वह भावरूपा है ? नवविध भजन तो उसका स्वरूप हो नहीं सकता; क्योंकि उसीमें अधिकार होनेके हेतुकी जिज्ञासा हुई है [अर्थात् 'श्रवण-कीर्तनादिमें भक्तिमान्‌का ही अधिकार है' इस कथनसे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि, भक्ति कीर्तनादिसे भिन्न कोई वस्तु है जिससे युक्त होनेपर ही मनुष्यका कीर्तनादिमें अधिकार हो सकता है, यदि कीर्तनादि नवविध भजनको ही भक्तिका स्वरूप मानें तो वह कीर्तनादिरूपा भक्ति स्वयं अपनेमें ही अधिकारका हेतु कैसे हो सकती है ?]। वह भक्ति भावरूपा भी नहीं है; क्योंकि वैसा माननेपर यह प्रश्न उठता है कि भावरूपा भक्ति श्रवण-कीर्तनादिका फल है या निमित्त ? यदि फल है तो कामनाका विषय होनेके कारण ही वह अधिकारीका विशेषण हो सकती है, स्वरूपसे नहीं। ऐसी दशामें भक्तिकी कामना करनेवालेका ही उसमें अधिकार हो सकता है भक्तका नहीं। भक्तिकी कामनावालेका भी उसमें अधिकार

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कृतत्वात् । न च भक्तिकामाधिकारे दोषनिरासोऽप्यन्तर्भवति, अक्षीणदोषस्य भक्तेरनुदयात्—

नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते ।

इति वचनादिति वक्तव्यम्, तस्य द्वारमात्रत्वेनानुद्देश्यत्वात् ।

ननु तर्हि निमित्तं भक्तिः श्रवणादिविधेः; तत्र च तस्याः

नहीं कहा जा सकता; क्योंकि हत्या आदि दोष दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले ब्रह्महत्यारे आदिका वहाँ अधिकार बताया गया है। यदि कहो—

"जिनके पाप क्षीण हो गये हैं उन मनुष्योंकी ही श्रीकृष्णचन्द्रमें भक्ति होती है।"

इस वचनके अनुसार जिसके पाप क्षीण नहीं हुए हैं उसमें भक्तिका उदय ही नहीं हो सकता; अतः भक्तिकी कामनावालेके अधिकारमें दोष-निराकरणका भी अन्तर्भाव हो जाता है। [अर्थात् जब पाप क्षीण हुए बिना भक्ति हो ही नहीं सकती तो जिसे भक्तिकी कामना है उसे पापक्षयकी कामना भी है ही; अतः पापक्षयकी कामनावालेका अधिकार भी भक्तिकामोंके अधिकारके अन्तर्गत ही है] तो यह कथन उचित नहीं है, क्योंकि पापक्षय भक्तिका द्वार (विधेय) मात्र ही है, उद्देश्य नहीं। ['पापक्षय होनेपर ही भक्ति होती है' इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि पापक्षय उद्देश्य है और भक्ति विधेय, पर यह मत मान्य नहीं है]।

पूर्वपक्षी—तब तो भक्ति श्रवणादि विधिकी निमित्त सिद्ध होती है और भक्ति तथा पापक्षयकी कामना—ये दोनों साथ-ही-साथ उस (श्रवणादि) में अधिकारके हेतु निश्चित होते

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयकामनायाश्च संवलितयोरधिकारहेतुता जातेष्टाविव पुत्र-जन्मनः तत्पूतत्वादिकामनायाश्च ।

इदमप्यसाधीयः, भक्तेरेव श्रवणाद्यनुष्ठानात्प्रागसिद्धेः, यथोक्तं श्रीभागवते—

> शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः ।
> हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥

हैं। जैसे जातेष्टि [यानी पुत्र उत्पन्न होनेपर उसकी शुद्धि आदिके लिये किये जानेवाले जातकर्म-संस्कार] में पुत्र-जन्म और उसकी शुद्धि आदिकी कामना—ये दोनों साथ-ही-साथ उसमें अधिकारके हेतु माने गये हैं।

सिद्धान्ती—यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि ['जातेष्टि' शब्दके 'पुत्रे जाते या इष्टिः' इस विग्रहमें सप्तमी विभक्तिसे यह बात ज्ञात होती है कि पुत्रके जन्म लेनेपर ही उसकी शुद्धिके लिये जातकर्म-संस्कार होता है; अतः पुत्रका जन्म और उसकी शुद्धि आदिकी कामना—ये दोनों साथ ही अधिकारके हेतु निश्चित होते हैं, परन्तु यहाँ ऐसी बात नहीं है। यदि भक्ति होनेपर ही श्रवणादिका अनुष्ठान होता है—ऐसा कहें तो ठीक नहीं, क्योंकि] श्रवणादि विधिके अनुष्ठानसे पहले भक्ति ही सिद्ध नहीं होती; जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

"जिनका श्रवण और कीर्तन पावन है, जो संतोंके सुहृद् हैं, वे भगवान् कृष्ण अपनी कथा सुननेवालोंके हृदयमें रहते हुए उनके अशुभोंका नाश करते हैं।" "इस प्रकार सदा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitisaqtion by eGangotri

नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥

अत एवेदमपि प्रत्युक्तं यद् भावोदयादुपरितनानां पापानां भगवद्भजनं प्रायश्चित्तम्, प्राचीनानां तु स्मार्तमिति, श्रवणादिधौतपापस्यैव भावोदयप्रतिपादनात् । नष्टप्रायेति च नष्टानामप्यभद्राणां सत्सु कामादिषु पुनः पुनरुद्भवात् तन्निवृत्तेश्च भावैकसाध्यत्वात् ।

भगवद्भक्तोंकी सेवा करनेसे जब मनुष्यके अशुभ कर्म प्रायः नष्ट हो जाते हैं तब पुण्यश्लोक भगवान्में नैष्ठिकी भक्ति होती है ।"

इसीसे, जो ऐसा मानते हैं कि 'भगवद्भजन भावोदयके बाद होनेवाले पापोंका ही प्रायश्चित्त है, उसके पहलेके पापोंके लिये तो स्मृति-कथित प्रायश्चित्त ही कर्तव्य है ।' उनके मतका भी खण्डन हो जाता है; क्योंकि श्रवणादिसे जिसके पाप धुल गये हैं उसी पुरुषमें भावोदय होना कहा गया है । [अतः यदि उपर्युक्त मत मान लिया जाय तो 'भावका उदय होनेपर ही श्रवणादिरूप भजनमें प्रवृत्ति होगी और श्रवणादिरूप भजनसे ही भावका उदय होगा' इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोषकी आपत्तिका वारण नहीं हो सकता] 'नष्टप्रायेषु' इसके द्वारा यह कहा गया है कि 'कामादिके रहनेपर नष्ट हुए अशुभोंकी भी पुनः प्रवृत्ति हो जाती है, इसलिये कामादिकी भी निवृत्ति एकमात्र भावसे ही साध्य है ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

इति वचनात् ।

प्रीतेरधिकारहेतुत्वखण्डनम्

ननु तर्हि नैष्ठिकी भक्तिरास्ताम्, तस्याः श्रवणाद्यभ्यासपटिमसाध्यत्वात्; प्रीतिमात्रं पुनः प्रागपि जन्मान्तरसंस्कारवशात्संभवतीति तस्यैवाधिकारहेतुतेति ।

तदसत्, प्रमाणाभावात् । "सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्"

"उस समय (भावोदय हो जानेपर) रजोगुण और तमोगुणके कार्य जो काम और लोभ आदि हैं उनसे चित्त प्रभावित न होकर शुद्ध सत्त्वगुणमें स्थित हो प्रसन्न (निर्मल) हो जाता है ।"

—इस वचनसे यही बात सिद्ध होती है ।

पूर्वपक्षी—[यदि ऐसी बात है] तो नैष्ठिकी भक्ति अलग रहे; क्योंकि वह श्रवणादिका प्रौढ अभ्यास करनेसे ही साध्य हो सकती है । परन्तु प्रेममात्रका होना तो जन्मान्तरके संस्कारवश श्रवणादिके पहले भी सम्भव है, अतः वही श्रवणादिमें अधिकार होनेका हेतु रहे ।

सिद्धान्ती—यह कथन असङ्गत है; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है । इस विषयमें "जो सब प्रकार भगवान्में भावयोग (भावभक्ति) करते हैं", "जो अन्य भावनाएँ त्याग-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः" इत्यादि तत्र प्रमाणम्, तच्च नैष्ठिकीमेवावलम्बते ।

भावरूपाया भक्तेः कीर्तनाङ्गत्वस्य निराकरणम् प्रसङ्गान्महद्दर्शनमाहात्म्यवर्णनं च

यत्तु यन्नामकीर्त्तनं भक्त्येति; तस्यापि न कीर्त्तनाङ्गं भक्तिरित्यर्थः, गुणफलाधिकारो हि सः, स्वत एव पापक्षयसाधनं कीर्त्तन-

---

कर भगवान्‌के चरणोंको भजता है उस प्रिय भक्तके हृदयमें स्थित होकर भगवान् परमेश्वर उसके दुष्कर्म-जन्य दोषोंको दूर करते हैं" इत्यादि वचन ही प्रमाणरूपमें उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे नैष्ठिकी भक्तिका ही आश्रय लेते हैं [केवल प्रीतिको विषय नहीं करते]।

और ऐसा जो कहा है कि "यन्नामकीर्तनं भक्त्या विलापनमनुत्तमम् (जिनका भक्तिपूर्वक किया हुआ नामकीर्तन [सम्पूर्ण पापोंका] सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है)" इसका भी यह अर्थ नहीं है कि 'भक्ति कीर्तनका अङ्ग है [इसलिये भक्तिपूर्वक किया हुआ नामकीर्तन ही पापक्षयादि फलका साधक हो सकता है]।' वह तो गुणयुक्त फलका अधिकार बताया गया है [अर्थात् यह कहा गया है कि भक्तिपूर्वक नाम-कीर्तन करनेसे उसके फलमें विशेष्यता होती है]। तात्पर्य यह कि जो स्वतः ही पापक्षयका साधन है उस कीर्तनरूप कर्मका आश्रय लेकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्माश्रित्य फलगतातिशयमुद्दिश्य भक्तेर्विधानादनुत्तमं विलापनमिति; "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इतिवत् । फलगतातिशयश्चात्र पापकारणानां रागादीनां निवृत्तिः, रागादिनिवृत्तेर्भक्तिसाध्यत्वस्याभिधानात् । "केचित्केवलया भक्त्या" इत्यत्रापि भजनक्रियैव भक्तिः; न भावः, तस्या एवाप्र-

फलमें विशेष्यता लानेके उद्देश्यसे भक्तिका विधान किया गया है, अतः जिस प्रकार [छान्दोग्योपनिषद्में] कहा है कि [यद्यपि ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही कर्म करते हैं तथापि मनुष्य] "जिसी कर्मको उसकी जानकारी प्राप्त करके श्रद्धा और मनोयोगपूर्वक करता है वही अत्यन्त प्रबल होता है" उसी प्रकार यहाँ भी [यद्यपि कीर्तन स्वतः ही समस्त पापोंका विलापन (नाशक) है तथापि भक्तिका योग होनेसे फलमें विशेष्यता होती है; अतएव] "अनुत्तमं विलापनम्—पापनाशका परम उत्तम साधन है"—ऐसा कहा गया है। पापके कारणभूत रागादि दोषोंका दूर हो जाना ही यहाँ फलमें विशेष्यता है; क्योंकि रागादि-निवृत्ति भक्तिसे ही साध्य बतलायी गयी है। "केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः" इस वाक्यमें भी कीर्तनादिरूप भजन-क्रिया ही भक्ति कही गयी है भाव नहीं; कारण यह कि प्रकरण समाप्त होनेतक भजन-क्रियारूप भक्तिका ही विस्तार दिखलाया गया है।

१. कुछ वासुदेवपरायण पुरुष केवल भक्तिसे ही [अपने पाप नष्ट कर देते हैं]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

करणसमासेः प्रपञ्चनात्। 'वासुदेवपरायणाः' इत्यत्रापि न भावः, कैवल्यविरोधात्।

ननु समानवाक्योपात्तस्य भावस्य व्यवच्छेदायोगात् तदतिरिक्तसाधनव्यवच्छेद एव कैवल्यम्।

'वासुदेवपरायणाः' इसमें भी भावका कथन नहीं है; क्योंकि ['केचित् केवलया भक्त्या' के] केवल पदसे उसका विरोध है [यदि भावका ग्रहण मान लें तो भाव और भजन-क्रिया दोनोंसे पापक्षय होनेके कारण 'केवल भक्तिसे' यह कथन विरुद्ध पड़ेगा]।

पूर्वपक्षी—[यदि 'भक्त्या' और 'परायणाः' शब्द दो वाक्योंमें होते तो दोनोंका अर्थ 'भजन-क्रिया' कर लेनेमें कोई आपत्ति नहीं थी, परन्तु यहाँ तो दोनोंका एक ही वाक्यमें प्रयोग है, अतः एक ही अर्थमें दो शब्दोंका प्रयोग व्यर्थ होनेके कारण दोनोंका दो अर्थ लेना आवश्यक है, ऐसी दशामें 'भक्ति' शब्दसे 'भजन-क्रिया' और 'वासुदेवपरायणाः' शब्दसे 'वासुदेवमें भाव (परा प्रीति) रखनेवाले भावुक भक्त' अर्थ लिया जा सकता है, इस प्रकार] एक वाक्यमें अर्थतः प्राप्त हुए 'भाव' को अलग करना असम्भव है, इसलिये ऐसा क्यों न मान लें कि भावयुक्त भजनके अतिरिक्त जो स्मृतिकथित प्रायश्चित्त आदि साधन हैं उन को पृथक् करना ही केवल शब्दका तात्पर्य है। [अभिप्राय यह कि भावुक भक्त केवल भजनसे ही पापक्षय कर लेते हैं, उन्हें स्मार्तप्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं पड़ती]।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैवम्, श्रुतिविरोधिनो वाक्यस्य दुर्बलत्वात् । श्रुतिरिह केवलया भक्त्येति तृतीया । वासुदेवपरायणा धुन्वन्त्यघमिति तु वाक्यम् । अतो गर्भितोऽयं हेतुः—यस्माद्वासुदेवपरायणास्तस्मात्सकलमघं धुन्वन्तीति सर्वानुस्यूतः सर्वाधारश्च देवः परमयनमाश्रयो येषां तेषां सर्वेश्वरसनाथानामुचितमेव सर्वाघविजयित्वमिति भावः । अपि च स्वरूपेण तदाश्रयत्वे मुख्योऽयं शब्दः, भावस्य तु तदा-

---

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि श्रुतिविरोधी वाक्य दुर्बल होते हैं । यहाँ केवलया भक्त्या (केवल भक्तिसे) इस वाक्यमें जो तृतीया विभक्ति (करण कारक) है वही श्रुति है [अर्थात् पापक्षयके साधनरूपसे तृतीयाविभक्त्यन्त 'केवल भक्ति' शब्दका ही मुख्यतया श्रवण होता है] 'वासुदेवपरायणा अघं धुन्वन्ति (वासुदेवपरायण जन अपना पाप नष्ट करते हैं)' यह अंश तो वाक्य है [इसमें साधनका निर्देश नहीं है] इसलिये 'वासुदेवपरायणाः' यह हेतुगर्भ विशेषण है; यथा—'वे वासुदेवपरायण हैं, इसलिये अपने सारे पापोंको नष्ट कर देते हैं ।' ['वासुदेवपरायणाः' का अर्थ यों है—] सबमें ओत-प्रोत और सबके आधारभूत देव (भगवान् वासुदेव) ही जिनके परम (उत्तम) अयन—आश्रय (सहारा) हैं, वे वासुदेवपरायण हैं । भाव यह कि जो सबके ईश्वर वासुदेवसे सनाथ हो चुके हैं उनका समस्त पापोंपर विजय पाना उचित ही है । इसके अतिरिक्त स्वरूपतः भगवान् वासुदेवका आश्रय लेनेके अर्थमें तो 'वासुदेवपरायणाः' शब्द मुख्य है, किन्तु भावके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लम्बनत्वे गौणः, तस्मान्न भावस्य कीर्त्तनाङ्गत्वे प्रमाणमिदम्।

सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयो-
र्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह।

इत्यत्रापि विषयसौन्दर्यादेव प्राप्तस्य रागस्मरणस्य सुकरत्व-प्रतिपादनार्थमनुवादः।

एवं विमृश्य सुधियो भगवत्यनन्ते
सर्वात्मना विदधते खलु भावयोगम्।
ते मे न दण्डमर्हन्त्यथ यद्यमीषां
स्यात्पातकं तदपि हन्त्युरुगायवादः॥

भगवदाश्रित होनेके अर्थमें गौण है; [अतः मुख्यतः प्रतिपादित अर्थका ही ग्रहण करना उचित है] इसलिये भावको कीर्तनका अङ्ग बतलानेमें यह वाक्य प्रमाण नहीं हो सकता।

"जिन्होंने एक वार भी यहाँ भगवान् कृष्णके चरणारविन्दोंमें उनके गुणोंमें अनुराग रखनेवाला अपना मन लगा दिया है..."

—इस वाक्यमें भी विषयभूत परमात्माके सौन्दर्यसे ही [अनुरक्त हुए पुरुषके लिये] प्राप्त रागपूर्वक स्मरणकी सरलता वतलानेके लिये 'भाव' का अनुवाद किया गया है।

"विद्वान् पुरुष इस प्रकार विचारकर निश्चय ही भगवान् अनन्तमें सब प्रकारसे अपना भाव (प्रेम) स्थापित करते हैं। वे मेरा दण्ड पाने योग्य नहीं हैं, क्योंकि यदि उनमें पातक हो भी तो उसे उरुगाय (अनन्तकीर्ति) परमेश्वर-का नाम-कीर्तन नष्ट कर देता है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्रापि पातकाभावादेव दण्डानर्हत्वम् ; तदभावश्च तत्कारणाभावात्। अत एवोक्तमथ यद्यमीषां स्यात्पातकमिति । रागाद्यभावेऽपि यदि कथञ्चित्प्रमादात्पातकं स्यादित्यर्थः; तदपि हन्त्युरुगायवाद इत्यपि न भावसहकृतं कीर्तनम्, अपिशब्दान्न केवलं भावोदयाप्राचीनमेव; अपि तूपरितनमपि पातकं हन्त्युरुगायस्य बहुभिधानस्यानन्तानन्दसुधासिन्धोर्बहुभिर्गीयमानस्य वा सकलजगत्प्रशस्य-

---

यहाँ भी पातक न होनेके कारण ही उनमें दण्ड पानेकी योग्यताका अभाव है और पापका अभाव उसके हेतु (रागादि) का अभाव होनेके कारण है। इसीसे 'यदि उनमें पातक हो' ऐसा कहा है। तात्पर्य यह कि रागादि न होनेपर भी यदि किसी प्रकार प्रमादवश पातक हो जाय तो। 'उसे भी उरुगाय (महायशस्वी भगवान्) का कीर्तन नष्ट कर देता है' यह कथन भी यही सिद्ध करता है कि भावके साथ कीर्तन नहीं [अपि तु केवल कीर्तन ही पाप नष्ट कर देता है]। 'अपि' शब्दसे यह व्यक्त होता है कि केवल भावोदयसे पूर्वके पापको ही नहीं, अपि तु बादके पापको भी नष्ट करता है । उरुगायका अर्थ है बहुभिधान—अनन्त आनन्दामृतके समुद्र अथवा जो बहुतोंके द्वारा गाये जाते हैं, समस्त संसार जिनके पावन यशकी स्तुति करता है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुण्यकीर्त्तेर्वादः कीर्त्तनम् । भावस्तु विद्यमानोऽप्युदास्ते, अतितुच्छत्वात्पापनिवृत्तेरिति हि तस्यार्थः ।

ये देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्ता-
न्नैषां वयं त्वधिकृताः प्रभवाम दण्डे ॥

इत्यस्याप्ययमेवार्थः । कथम् ? ये समदृशः सर्वात्मभावेन भगवन्तं पश्यन्ति, अतएव साधवो रागादिदोषरहितास्तान्नोपसीदत—तेषां समीपमपि मा यात, न ह्येषां वयं स्वामिनः, पापिनां हि निग्रहे

उन भगवान्‌का वाद—कीर्तन [पापको नष्ट कर देता है]। भाव तो विद्यमान होकर भी उदासीन रहता है; क्योंकि उसके लिये पापनिवृत्तिरूप फल बहुत तुच्छ है—यह उक्त वचनका भावार्थ है ।

ये देवसिद्धपरिगीतपवित्रगाथा
ये साधवः समदृशो भगवत्प्रपन्नाः ।
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्ता-
न्नैषां वयं त्वधिकृताः प्रभवाम दण्डे ॥

—इसका भी यही अर्थ है। किस प्रकार ? [सो दिखलाते हैं—] जो समदर्शी हैं; सर्वात्मभावसे (सब जीवोंके आत्मारूपसे) भगवान्‌को देखते हैं अतएव जो साधु—रागादि दोषोंसे रहित हैं उनके यहाँ गमन मत करना—उनके निकट भी मत जाना, हम उनके स्वामी नहीं हैं, क्योंकि पापियोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वयमधिकृताः, न तेषां पापगन्धोऽपि । अथ कथञ्चित्स्यात् पातकं तथापि वयं दण्डे न प्रभवामः, भगवत्प्रपन्ना हि ते, भगवत्प्रपदनेन कीर्त्तनादीनामन्यतमेन दास्यलक्षणेन वा भजनेनैव निरस्तपापाः, अतएव सकलजगत्प्रसिद्धां पापोत्पत्तिं प्रतिपद्यमानाः । श्रुतिपुराण-सिद्धान्तरहस्यगहनगर्भितां तु तन्निःसरणसरणिमविदुषां भवादृशां भ्रान्त्यापि कथञ्चिदुपगमनं स्यादिति हरेर्गदया सर्वतो गुप्तांस्तान्नो-पसीदतेति । अपि च देवानां मध्ये ये सिद्धा माहात्म्यविशेषसम्पन्नाः

निग्रह करनेके लिये ही हम अधिकारी बनाये गये हैं, उन महात्माओंमें तो पापका लेश भी नहीं रहता। यदि किसी प्रकार उनमें पाप हो तो भी उन्हें दण्ड देनेमें हम समर्थ नहीं हैं; क्योंकि वे भगवान्‌की शरणमें हैं, वे तो कीर्तन आदिमेंसे किसी एकका आश्रय लेकर अथवा दास्यरूप भजनके द्वारा ही भगवान्‌की शरण जानेसे पापरहित हो गये हैं, इसीलिये समस्त विश्वमें प्रसिद्ध पापोत्पत्तिको वे जानते हैं। जो श्रुति और पुराणोंके सिद्धान्तभूत गहन रहस्यमें छिपी हुई है, उस पापोद्धार-पद्धतिको न जाननेवाले तुझ-जैसे यमदूतोंका भूलसे भी किसी प्रकार वहाँ जाना सम्भव है, इसलिये [हम जता रहे हैं कि] भगवान् विष्णुकी गदासे सब ओरसे सुरक्षित हुए उन लोगोंके पास न जाना। इसके अतिरिक्त देवताओंमें जो विशेष महत्त्वसे युक्त इन्द्र आदि सिद्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुरन्दरादयः तैः स्वतःपूतैरप्यतिशयेन पूतत्वाय परिगीता पवित्रभूता गाथा येषां लक्षणापेतमपि यन्नामाङ्कितं पद्यं वा प्राकृतभाषारचितं वा तेषां पूतत्वे कतमः सन्देह इति ।

"स्वपादमूलं भजतः" इत्यत्र तु विविदिषावाक्यविनियुक्तात्कर्मणोऽन्यत्सर्वमेव मुक्तिविरुद्धं कर्म विकर्मशब्देनोच्यते, न निषिद्ध-

---

पुरुष हैं वे भी यद्यपि स्वतः पवित्र हैं तथापि और भी अधिक पवित्र होनेके लिये जिनकी पवित्र गाथाका अर्थात् जिनके लक्षणरहित नामाङ्कित पद्यका अथवा प्राकृतभाषारचित यशोग्रन्थका गान करते हैं उनके पवित्र होनेमें क्या सन्देह है ?

'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य…'* इस वाक्यमें तो विविदिषा[1] (जिज्ञासा) सम्बन्धी वाक्यमें नियुक्त [स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तप आदि] कर्मोंको छोड़कर अन्य सभी मुक्तिविरोधी [सकाम आदि] कर्म 'विकर्म' शब्दसे कहे जाते हैं, केवल

---

* स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः ।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥

—इस श्लोकका अर्थ पहले मूलमें ही दिया जा चुका है ।

१. 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन'

यह विविदिषा (जिज्ञासा) वाक्य है, इसका अर्थ यों है— इस उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्मको ब्राह्मण लोग वेदोंके स्वाध्याय, यज्ञ, दान और निष्काम तपस्यासे जाननेकी इच्छा करते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर्ममात्रम्, तस्य कीर्त्तनादिमात्रान्निवृत्तेर्दर्शितत्वात् । श्रीपराशरसंहितायामपि "न चलति····" इत्यादिभिरुपलक्षितानां सततं मनसि जनार्दनं दधानानां पापहेतूनां रागादीनामुच्छेदो विवक्षितः, पापक्षयः पुनः कीर्त्तनमात्रात् ।

कमलनयन वासुदेव विष्णो
धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे ।
भव शरणमितीरयन्ति ये वै
त्यज भट दूरतरेण तानपापान् ॥

निषिद्ध कर्म ही नहीं; क्योंकि उसकी निवृत्ति तो कीर्तनमात्रसे ही दिखलायी जा चुकी है। श्रीपराशरसंहिता (विष्णुपुराण) में भी "न चलति निजवर्णधर्मतो यः···(जो अपने वर्णधर्मसे विचलित नहीं होता·····)" इत्यादि वचनोंद्वारा उपलक्षित (वर्णित) तथा मनमें सदा भगवान् जनार्दनको धारण करनेवाले भक्त पुरुषोंके पापके कारणभूत रागादिमात्रका ही [भावरूपा भक्तिसे] नाश बतलाना इष्ट है। पापका नाश होना तो यहाँ भी कीर्तनमात्रसे ही कहा गया है; जैसा कि इस [निम्नाङ्कित] वचनसे सिद्ध होता है—

[यमराज दूतको समझाते हुए कहते हैं—] "हे दूत ! [सुनो—] जो लोग 'हे कमलनयन ! हे वासुदेव ! हे विष्णो ! हे धरणीधर ! हे अच्युत ! हाथमें शङ्ख, चक्र धारण करनेवाले हे परमेश्वर ! आप मेरे शरणदाता हों'—इस प्रकार भगवान्को टेरते रहते हैं, उन पापरहित पुरुषोंको तू बहुत दूरसे ही त्याग देना।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इति वचनात् । भक्तानां नरकपातस्यानाशङ्कनीयत्वादेव न तदर्थमयमारम्भः, अपि तु तत्रत्यासन्नजनवर्जनार्थम्; यदाह—"व्रज तान् विहाय दूरात्" "त्यज भट दूरतरेण तानपापान्" "व्रज भट दूरतरेण मानवानाम्" इति च, अतएवोपक्रमेऽपि "परिहर मधुसूदनप्रपन्नान्" दूरत इति व्याख्येयम्। न च स्तुतिमात्रत्वमेषाम्, उपपत्तिमत्त्वात्। तथा हि—

सकलमिदमहञ्च वासुदेवः
परमपुमान्परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते
हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥

भक्तोंके नरकमें गिरनेकी तो आशङ्का उचित ही नहीं है, अतः उन भक्तोंका त्याग बतानेके लिये इस वचनका आरम्भ नहीं हुआ है, अपितु जहाँ भक्त हों वहाँके आस-पासमें रहनेवाले लोगोंका त्याग बतलानेके लिये हुआ है; जैसा कि कहते हैं—"ऐ दूत ! उन्हें दूरसे ही त्याग कर चले जाना" "हे दूत ! उन पापरहित पुरुषोंको बहुत दूरसे ही त्याग देना" "उन मनुष्योंके बहुत दूरसे होकर जाना" इत्यादि। इसीलिये इस प्रसंगके आरम्भमें भी कहा है—"मधुसूदनकी शरणमें गये हुओंको छोड़ देना," यहाँ भी 'दूरसे ही छोड़ देना' ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। ये उद्धृत किये हुए वचन स्तुतिमात्र नहीं हैं, क्योंकि इनकी उपपत्ति देखी जाती है, जो इस प्रकार है—

सकलमिदमहं च वासुदेवः परमपुमान् परमेश्वरः स एकः।
इति मतिरचला भवत्यनन्ते हृदयगते व्रज तान् विहाय दूरात्॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति । अस्य अनन्ते श्रवणादिभिरावर्जिते हृदयगते सति तत्प्रसादादेवाहमिदमिति भोक्तृभोग्यरूपं सकलं जगद्वासुदेवो माययाच्छन्नचित्प्रकाश एव न तस्मादतिरिच्यते, स हि परमपुमान् पुरुषस्य निरुपाधिकं स्वरूपं परमेश्वरश्च सर्वाधिष्ठानं स एकः स्वरूपेण, एवं सजातीयविजातीयस्वगतभेदविरहान्नितान्तनिर्भेदं भगवत्तत्त्वमिति मतिरचला भवति येषां तान् दूराद्विहाय व्रज भट । तदवलोकनपरिपवित्रिता हि प्राणिनो नैवास्मद्गोचरे वर्त्तन्त

[इसका अर्थ यों है—] श्रवण आदि साधनोंसे आवर्जित (अधीन किये गये) भगवान् अनन्तके हृदयस्थित हो जानेपर उनके अनुग्रहसे ही "मैं' 'यह' इत्यादि भोक्ता-भोग्यरूप समस्त संसार वासुदेव ही है, इसकी ज्ञान-ज्योति मायारूप आवरणसे छिप गयी है, यह वासुदेवसे भिन्न नहीं है, वे वासुदेव परम-पुरुष हैं—पुरुषका निरुपाधिक स्वरूप एवं सबके अधिष्ठानभूत परमेश्वर—वे ही हैं, वे स्वरूपसे एक ही हैं [दो नहीं], इस प्रकार भगवत्तत्त्वमें सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद न होनेसे वह नितान्त भेदरहित है।'—ऐसी जिनकी स्थिर बुद्धि हो गयी है, हे दूत ! उन्हें दूरसे ही त्यागकर चले जाना; क्योंकि उनके दर्शनमात्रसे [अथवा दृष्टिपातसे] ही परम पवित्र हुए जो प्राणी हैं, वे हमलोगोंके अधिकारमें नहीं रहते—ऐसा इसका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यर्थः। एतदेव स्पष्टीकृतम्—पुरुषवरस्य चैतस्य दृष्टिपाते न तव गतिरथ वा ममास्तीति, महद्दर्शनस्य च पावनत्वं प्रसिद्धमेव—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

इत्यादौ।

दर्शनं चात्र तत्कर्तृकं तत्कर्मकं वा, उभयस्यापि पावन-

तात्पर्य है। इस कथनके द्वारा इसी बातको स्पष्ट किया गया है कि इस श्रेष्ठ पुरुषकी दृष्टि जितनी दूरतक पड़ती है वहाँ तुम्हारी अथवा मेरी गति नहीं हो सकती।

"केवल जलमय तीर्थ ही तीर्थ नहीं हैं [साधु पुरुष भी तीर्थ हैं] मिट्टी और पत्थरकी मूर्तियोंमें स्थापित देवता ही नहीं देवता हैं [साधु पुरुष भी देवता हैं], वे (जलमय तीर्थ और मूर्तिमय देवता) तो बहुत दिनोंमें पवित्र करते हैं, परन्तु साधु पुरुष तो दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं [अतः वे उन तीर्थ और देवताओंसे बढ़कर हैं।]"

इत्यादि वचनोंमें महात्माओंके दर्शनकी पावनता प्रसिद्ध ही है।

[साधु पुरुष दर्शनमात्रसे ही पवित्र कर देते हैं] इसमें 'दर्शन' शब्दसे तत्कर्तृक[1] या तत्कर्मक[2] इन दोनों प्रकारके दर्शनोंका ग्रहण है; क्योंकि दोनों ही समानरूपसे पवित्र

---

१. जहाँ साधु पुरुष ही किसीको देखें, वहाँ दर्शन-क्रियाके कर्ता साधु ही हैं, अतः वह तत्कर्तृक दर्शन है। २. जहाँ साधु पुरुष दूसरोंके द्वारा देखे जायँ वहाँ दर्शन-क्रियाके कर्म साधु पुरुष हैं, अतः वह तत्कर्मक दर्शन है। साधुओंका दर्शन करनेवाले और साधुओंकी दृष्टिमें पड़नेवाले—दोनों ही तरहके पुरुष पवित्र हो जाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्वाविशेषाद्, "व्रज भट दूरतरेण तानपापान्" इत्यपि न स्तुतिपरम्, कमलनयनकीर्त्तनध्वनिर्हि सर्वतोविसारी कुड्यादिव्यवधानेऽपि वेधकश्च, अतस्तदन्तराले वर्तमानानामन्धबधिराणामपि सर्वेषामनङ्गुलिप्रेक्षणीयत्वात् तान् दूरतरेण व्रजेत्युपपन्न एव तरबर्थः। अपापानिति च न स्वगतपापाभावो विवक्षितः किन्तु परगतपापनिषेधकत्वं प्रयोजनवशात्।

यमनियमविधूतकल्मषाणा-
मनुदिनमच्युतसक्तमानसानाम् ।

करनेवाले हैं। "व्रज भट दूरतरेण तानपापान्" यह भी स्तुतिपरक नहीं है, कारण कि कमललोचन भगवान् विष्णुकी कीर्तन-ध्वनि सब ओर फैलनेवाली और दीवारका अन्तर होनेपर भी उसे बेधकर पहुँचनेवाली है, इसलिये उसके अन्दर वर्तमान समस्त प्राणियों यहाँतक कि अन्धे और बहिरों-की भी ओर अंगुलीके इशारेसे भी देखना उचित नहीं है; इसलिये "उनसे दूरतर (बहुत दूर) होकर जाना" इस कथनमें ['दूरतर' शब्दके] तरप् प्रत्ययका [बहुत दूर] अर्थ युक्तियुक्त ही है। 'अपापान्' इस पदसे भी स्वगत पापका अभाव नहीं विवक्षित है, अपि तु स्वसमीपवर्ती दूसरोंके पापका निवारण करना ही विवक्षित है; क्योंकि दूसरोंके लिये ही उसका प्रयोजन है।

"हे दूत! यम और नियमसे जिनके पाप धुल गये हैं, जिनका चित्त नित्यप्रति भगवान् विष्णुमें लगा रहता है,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपगतमदमानमत्सराणां
व्रज भट दूरतरेण मानवानाम् ॥

इत्यत्रापि नियमे स्वाध्यायस्यान्तर्भावात् तस्य च परदेवता-प्रकाशकमन्त्रोच्चारणात्मकत्वाद् भक्त्यावेशवशादुच्चैरुच्चारणस्यापि सम्भवाद् विवक्षित एव तरबर्थः। उत्तमभागवतास्तु दुर्लभदर्शनास्तेषां हि बहिर्विरलः प्रचारः, प्रचरन्तोऽप्यनुपासितशरीरतया न सर्वरूप-

---

जिनके मद, मान और मात्सर्य दूर हो गये हैं उन मानवोंके बहुत दूरसे होकर जाना।"

—इस वचनमें भी तरप् प्रत्ययका ['बहुत दूरसे' यह] अर्थ विवक्षित ही है; क्योंकि नियमके अन्दर स्वाध्यायकी गणना है और स्वाध्यायका स्वरूप अपने इष्टदेवको प्रकाशित करनेवाले मन्त्रका उच्चारण करना है; ऐसी स्थितिमें भक्तिके आवेशसे इष्टदेवके मन्त्रका जोर-जोरसे उच्चारण होना भी सम्भव है [अतः थोड़ी दूरके लोगोंके लिये तो उस उच्चारण-से ही पवित्र हो जानेकी सम्भावना है; इसलिये बहुत दूरसे होकर जाना आवश्यक ही है]। किन्तु जो उत्तम भगवद्भक्त हैं उनका तो दर्शन ही दुर्लभ है, क्योंकि उनका बाह्य जगत्में बहुत कम आना-जाना रहता है, यदि वे घूमते-फिरते भी हों तो भी सर्वसाधारणके द्वारा उनके शरीरकी उपासना की हुई न होनेके कारण वे सबको दिखायी नहीं देते। उनकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लभ्यन्ते, तेषामपि युगमात्रावलोकिनां कथंचित्कश्चिल्लोचनगोचर-मवतरतीति दूरादित्युक्तम् ।

> यस्य देवे च मन्त्रे च गुरौ च त्रिषु निश्चला।
> न व्यवच्छिद्यते भक्तिस्तस्य सिद्धिर्न दूरतः ॥

इत्यादौ तु सिद्धिरपवर्गादिलक्षणा; न पापक्षयलक्षणा, वचनान्तरानुरोधात् । तस्मात्केवलं कीर्त्तनादि पापक्षयहेतुः, न तत्र भक्तिरङ्गम्, अधिकारिविशेषणं वा ।

दृष्टि भी केवल दो ही हाथ आगेतक रहती है, अतः उनकी दृष्टिका विषय भी कोई कथंचित् ही हो पाता है, इसीलिये 'सकलमिदमहं च' इस श्लोकमें 'दूरतरेण' न कहकर 'दूरात्' यह कहा है ।

"देवता, मन्त्र और गुरु इन तीनोंमें जिसकी अटल भक्ति कभी उच्छिन्न नहीं होती उसको सिद्धि मिलना दूर नहीं है ।"

इत्यादिमें तो अपवर्ग (मोक्ष) आदि सिद्धिका ही कथन है, पापक्षयरूप सिद्धिका नहीं; क्योंकि अन्य वचनोंकी सम्मति-से यही बात सिद्ध होती है । इसलिये केवल कीर्तन आदि ही पापक्षयके कारण हैं, भक्ति न तो कीर्तन आदिका अङ्ग है और न कीर्तनादिके अधिकारीका ही विशेषण है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिधेयज्ञानस्य कीर्तनाङ्गतायाः प्रत्याख्यानम्

अभिधेयज्ञानमपि नाङ्गं प्रमाणाभावादेव ।

ननु दर्शितं प्रमाणम् ।

सत्यं दर्शितम्, न तु तदङ्गत्वे प्रमाणम्, "यद् व्याजहार विवशो" "हरिरित्यवशेनाह" "साङ्केत्यं पारिहास्यं वा" "हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः" "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते" "हरिरिति

इसी प्रकार कोई प्रमाण न मिलनेके कारण ही अभिधेय (कीर्तनीय परमेश्वर) का ज्ञान भी [कीर्तनादिका] अङ्ग नहीं है ।

पूर्वपक्षी—प्रमाण तो [इस विषयमें] अनेकों दिखलाये गये हैं ।

सिद्धान्ती—यह सत्य है, [कीर्तनके विषयमें] प्रमाण दिखलाये गये हैं, परन्तु वे [अभिधेय-ज्ञानके] कीर्तनका अङ्ग होनेमें प्रमाण नहीं हैं; क्योंकि "यद्व्याजहार विवशो......" "हरिरित्यवशेनाह..." "साङ्केत्यं पारिहास्यं वा..." "हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः" "अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते" "हरिरिति सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः" इत्यादि*

---

* ये सभी वचन, जो यहाँ प्रतीकरूपमें कहे गये हैं, पहले पूर्णरूपमें आ चुके हैं, और उन-उन स्थलोंपर इनका अर्थ भी लिखा जा चुका है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृदुच्चरितं दस्युच्छलेनापि यैर्मनुजैः" इत्यादिबहुतरप्रमाणविरोधात्, न चैतेषामतत्परत्वम्, अभ्यासगतिसामान्याभ्यामित्यवादिष्म।

नन्वपिशब्दयोगादेषामतत्परत्वम्।

मैवम्, भागासिद्धत्वाद्धेतोः, "यद् व्याजहार विवशो" इत्यादावदर्शनात्।

बहुत अधिक प्रमाणोंसे विरोध है। इन वचनोंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है—ऐसा भी नहीं कह सकते; क्योंकि अभ्यास[1] और गतिसामान्यसे[2] इनका स्वार्थमें तात्पर्य सिद्ध होता है—यह हम बतला चुके हैं।

पूर्वपक्षी—परन्तु 'अपि' शब्दका योग होनेसे यह सिद्ध होता है कि इन वाक्योंका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; कारण यह है कि [अपि शब्दका योग होनेसे—यह] हेतु भागासिद्धि[3] दोषसे दूषित है, क्योंकि "यद्व्याजहार विवशो···" इत्यादिमें अपि शब्दका योग नहीं देखा जाता।

---

१. एक ही ग्रन्थमें किसी विषयकी बार-बार आवृत्तिको अभ्यास कहते हैं।

२. अनेकों ग्रन्थोंमें किसी विषयकी सामान्यरूपसे उपलब्धि होनेको 'गतिसामान्य' कहते हैं।

३. जहाँ साध्यकी सिद्धि करनी हो उसे पक्ष कहते हैं, साध्यमें जो हेतु होता है उसका पक्षतावच्छेदकमात्र [अर्थात् सम्पूर्ण पक्ष] में व्यापक होना आवश्यक है; यदि किसी पक्षमें वह व्यापक न हो तो भागासिद्धि दोषसे दूषित हो जाता है, ऐसी दशामें वह साधक नहीं होता। यहाँ ऊपर उद्धृत सभी वाक्योंको पक्षतावच्छेदक मानकर उनमें अविवक्षितस्वार्थत्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

ननु तत्राप्यध्याहार्योऽपिशब्दस्तदर्थस्य विवक्षितत्वात्, अन्यथा ज्ञानपूर्वककीर्त्तनस्यापावनत्वप्रसङ्गात् ।

तदयुक्तम्, न हि श्रुतबाधयाध्याहरन्ति, अपि तु श्रुतोपपत्तये।

पूर्वपक्षी–वहाँ भी 'अपि' शब्दका अध्याहार कर लेना उचित है; क्योंकि 'अपि' शब्दका अर्थ वहाँ विवक्षित है; अन्यथा ज्ञानपूर्वक किये हुए कीर्तनके अपावन (पवित्र न करनेवाला) होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा।*

सिद्धान्ती–यह कथन युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुत अर्थका बाध करनेके लिये अध्याहार नहीं किया करते, अपि तु श्रुतकी उपपत्ति (सिद्धि) के ही लिये करते हैं [तुम तो अपिके अध्याहारसे श्रुत अर्थको स्वार्थमें तात्पर्य न रखनेवाला

(स्वार्थमें तात्पर्यका अभाव) सिद्ध करना इष्ट है और इसके लिये 'अपि शब्दका योग' ही हेतुरूपसे निर्दिष्ट हुआ है। यह हेतु 'यद्यथाजहार विवशः' इत्यादिमें व्यापक नहीं है, क्योंकि वहाँ अपि शब्दका प्रयोग नहीं है। अतः इसमें भागासिद्धि दोष है, इसलिये यह हेतु साधक नहीं हो सकता।

* 'अपि' शब्दका अध्याहार होनेपर यह भाव व्यक्त होता है कि बिना ज्ञानके विवश होकर भी किया हुआ कीर्तन यदि इतना पवित्र करनेवाला है तो ज्ञानपूर्वक और श्रद्धाके साथ किया हुआ कितना पावन होगा? इस तरह जान-बूझकर किये हुए कीर्तनका महत्त्व अधिक सिद्ध होता है, यदि [भीका वाचक] 'अपि' शब्द न रहे तो उक्तरूपसे व्यञ्जना नहीं हो सकती, अतः जान-बूझकर किये हुए कीर्तनका कोई महत्त्व नहीं रह जाता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एवं च सिद्धमेवावशात् कीर्त्तनस्य पावनत्वम्। अपि च, अपिशब्द-योगे तदपि स्यात्, न तु तदेवेत्येतावत्, न पुनस्तन्न भवत्येव।

नन्वपिशब्दयोगे तात्पर्यमन्यत्र स्यात्; अतात्पर्यविषये बाधकाभावसव्यपेक्षमेव प्रामाण्यम्, एषां च बाधकस्य विद्यमानत्वान्न प्रामाण्यमिति।

इदमसाधु, ज्ञानाख्यगुणविधायकं हि तस्य बाधकम्; न च

बताकर उसका बाध करते हो!]; इस प्रकार विवश होकर नामकीर्तनकी पावनता सिद्ध ही है। इसके अतिरिक्त 'अपि' शब्दका योग रहनेसे यही प्रकट होता है कि [जिसका 'अपि' शब्दसे आक्षेप होता है] वह भी हो सकता है, परन्तु यह व्यक्त नहीं होता कि केवल वही हो और जो श्रुत अर्थ है वह हो ही नहीं। [अतः विवश होकर और जान-बूझकर—दोनों ही प्रकारसे किया हुआ कीर्तन पवित्र करनेवाला है—यह सारांश हुआ]

पूर्वपक्षी—किन्तु 'अपि' शब्दका योग रहनेपर तात्पर्य अन्यत्र ही होगा और जिस विषयका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं है उसमें बाधकके अभावकी अपेक्षा रखती हुई प्रमाणता रहती है, इन वाक्योंके बाधक विद्यमान हैं, अतः ये प्रमाणभूत नहीं हैं।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान नामक गुणका विधायक वचन ही उसका (पापक्षयरूप फल-वचनका)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

"यतस्तद्विषया मतिः" इत्यादेर्विधायकत्वम्, उपपत्त्यर्थवादो ह्यसौ, सर्वानर्थनिर्बर्हणीं ब्रह्मविद्यामुत्पादयतः पापनिर्हरणे कियान् प्रयास इति। "नाम स्वस्त्ययनं हरेः"[1] इति स्वस्तिशब्देन मोक्षोऽभिधीयते, स्वस्तीत्यविनाशिनामेति नैरुक्ताः। मोक्षसाधनत्वं च न विधीयते पदार्थशक्तेरविधेयत्वात्, किन्तु सिद्धमेव सङ्कीर्त्यते श्रुतसाध्यत्वोपपत्त्यर्थम्, तद्वदत्रापि।

नन्वर्थवादाद्विधिः श्रेयान्।

बाधक हो सकता है। "जिससे भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है" इत्यादि वचन विधायक नहीं हैं अपि तु ये उपपत्तिमूलक अर्थवाद हैं। [किस प्रकार अर्थवाद हैं यह दिखलाते हैं—] जो भगवन्नाम समस्त अनर्थोंको निवृत्त करनेवाली ब्रह्मविद्याकी उत्पत्ति करनेवाला है, उसको पापनाश करनेमें कितना प्रयास करना पड़ेगा? "नाम स्वस्त्ययनं हरेः (भगवान्का नाम मोक्षका आश्रय है)" इस वाक्यमें 'स्वस्ति' शब्दसे 'मोक्ष' कहा गया है; निरुक्तवेत्ताओंका कथन है कि 'अविनाशी' (नित्य मोक्ष) का नाम 'स्वस्ति' है। नाम मोक्षका साधन है—ऐसा भी विधान नहीं किया जाता, क्योंकि जो पदार्थकी शक्ति होती है वह विधेय नहीं होती; अपि तु श्रुत विषयकी साध्यताकी उपपत्तिके लिये उसका सिद्धरूपसे ही वर्णन किया जाता है; इसी प्रकार यहाँ ('यतस्तद्विषया मतिः') इस वचनमें भी विधि नहीं है।

पूर्वपक्षी–किन्तु 'अर्थवादसे तो विधि ही श्रेष्ठ है' [इस न्यायसे विधि ही मानना अच्छा है।]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र श्रेयान् यत्र गुणवादः प्रसज्येत, इह पुनरर्थवादत्वेऽपि यथार्थवाद एवेति नायं न्यायः। अपि च बहुतराणां स्वरसत एव प्रतीयमानं प्रमाणान्तरैरविरुद्धमनधिगतमुपयुक्तमर्थमनु-

सिद्धान्ती—[हाँ, विधि श्रेष्ठ है, परन्तु] वहाँ श्रेष्ठ है जहाँ गुणवादका प्रसंग उपस्थित होता हो। यहाँ तो अर्थवाद होनेपर भी [गुणवाद नहीं] यथार्थवाद ही है। अतः यहाँ इस न्यायकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त बहुत-से वचनोंके जो स्वरसतः (विना किसी क्लिष्ट कल्पनाके) प्रतीत होनेवाले उपयोगी अर्थ हैं, जिनमें न तो दूसरे-दूसरे प्रमाणोंसे विरोध पड़ता है और न वे पहलेसे ज्ञात ही हैं [तात्पर्य यह कि जो सर्वथा मौलिक और प्रामाणिक अर्थ हैं] उनका अनुवाद (चर्चा) करके उन वचनोंमेंसे ['यतस्तद्विषया मतिः' इत्यादि] दो-

१. अर्थवाद तीन तरहके होते हैं—गुणवाद, अनुवाद और भूतार्थवाद। जहाँ अन्य प्रमाणोंसे विरोध हो वह गुणवाद कहलाता है, जैसे 'आदित्यो यूपः' 'यजमानः प्रस्तरः' इत्यादि वाक्योंमें यूप (यज्ञस्तम्भ) को सूर्य तथा यजमानको प्रस्तर कहा गया है; यहाँ प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरोध है। अन्य प्रमाणोंद्वारा ज्ञात अर्थके बोधक वचनको अनुवाद कहते हैं, जैसे 'अग्निर्हिमस्य भेषजम् (अग्नि शीतकी दवा है)' इत्यादि। 'अग्निसे शीतका कष्ट दूर होना' प्रत्यक्ष है। जो अन्य प्रमाणोंसे न तो ज्ञात हो और न विरुद्ध ही हो उस अर्थका बोधक वाक्य भूतार्थवाद है, जैसे 'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत् (इन्द्रने वृत्रासुर [को मारने] के लिये वज्र उठाया था)' इत्यादि। इनमेंसे गुणवादका स्वार्थमें तात्पर्य नहीं होता। शेष अर्थवाद यथार्थवाद ही हैं, उनका अर्थ प्रामाणिक होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

वाद्य द्वित्राणां वा विधित्वं कल्प्यताम्; सर्वेषां च स्वं स्वमर्थमजहतामर्थवादत्वमिति मीमांसायामपङ्क्तिभेद एव श्रेयान्। अपि च कैमुत्यविवक्षायां दृष्टान्ता नोपपद्यन्ते—

अज्ञानादथ वा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्।
संकीर्त्तितमघं पुंसां दहत्येधो यथानलः॥
यथागदं वीर्यतममुपयुक्तं यदृच्छया।

तीनको ही विधि [और शेषको अर्थवाद] मान लिया जाय अथवा अपने-अपने मुख्य अर्थका त्याग न करते हुए सभी वचनोंको उपपत्तिमूलक अर्थवाद माना जाय? इस प्रकारका सन्देहमूलक विचार उपस्थित होनेपर पङ्क्तिभेद (किसीको विधि और किसीको अर्थवाद माननेकी विषमता) न करना ही अच्छा प्रतीत होता है। इसके सिवा [यदि कहो, अनजानमें किये हुए नामकीर्तनका महत्त्व बतलानेवाले सभी वचन कैमुत्य-विवक्षामें हैं,तो ठीक नहीं; क्योंकि] कैमुत्य[1]-विवक्षामें—

"पुण्यकीर्ति भगवान्‌का जो नाम है उसका यदि जान-बूझकर या बिना जाने भी कीर्तन किया जाय तो वह मनुष्योंके पापोंको उसी प्रकार जला देता है जैसे आग ईंधनको।" "जिस प्रकार प्रबल औषध स्वेच्छासे उपयोगमें लाये जानेपर अपने गुणोंको न जाननेवाले मनुष्यके लिये भी लाभकारी होता ही है, उसी प्रकार

---

१. अनजानमें नाम-कीर्तन करनेसे यदि पापोंका नाश हो जाता है, तो जान बूझकर कीर्तन करनेपर तो कहना ही क्या है?—यही कैमुत्य-विवक्षा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अजानतोऽप्यात्मगुणान् कुर्यान्मन्त्रोऽप्युदाहृतः ॥
हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः ।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः ॥

इत्यादयः, साध्यवैकल्यात्। न हि तेषु कैमुत्यमस्ति; अपि तु ज्ञानाज्ञानयोः साधारण एव साधनभावः, अपि च "नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम्" "हरिरित्यक्षरद्वयम्" इति वदन् शब्द एव विवक्षितो नार्थानुसंधानमित्यभिसंधत्ते । अन्यच्च "यतस्तद्विषया

उच्चारण किया हुआ मन्त्र अपना प्रभाव न जाननेवालेके प्रति भी लाभदायक होता ही है।" "दूषित चित्तवाले पुरुषोंके भी स्मरण करनेपर भगवान् विष्णु उनके पापोंको हर लेते हैं, जैसे अनिच्छासे भी स्पर्श करनेपर आग जला ही देती है।"

इत्यादि दृष्टान्तोंकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं होती; क्योंकि यहाँ साध्य (कैमुत्य) की विकलता है। इन वचनोंमें कैमुत्य-विवक्षा नहीं है, अपि तु जानकर या विना जाने—दोनों ही दशाओंमें नाम-कीर्तनको समानरूपसे पापक्षयका साधन बतलाया गया है। अपि च, "[जिस समय अजामिलने] 'नारायण' इस चार अक्षरका उच्चारण किया" " 'हरि' यह दो अक्षर···" इत्यादि वचनोंका आरम्भ करते हुए यही बतलाते हैं कि ['नारायण' और 'हरि' आदि] शब्दमात्रका ही उच्चारण करना इष्ट है, उनके अर्थका अनुसन्धान करना नहीं। [इससे भी यह नहीं सिद्ध होता कि ज्ञान कीर्तनका अङ्ग है] । इसके सिवा, 'यतस्तद्विषया मतिः (जिस

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

मतिः" इत्यादौ न विधिः कल्पयितुं शक्यते, साधिकारं हीदं वाक्यम्, न च साधिकारे वाक्ये गुणविधिमनुमन्यन्ते न्यायविदः। वैरूप्यं हि तदा प्रसज्येत, प्रवृत्तिरपि स्वविषयज्ञानापेक्षिणी न पुनर्नामिज्ञानापेक्षिणी। तस्मान्न ज्ञानमङ्गं कीर्तनस्य, नाप्यधिकारहेतुः।

नामोच्चारणसे भगवत्तत्त्वका ज्ञान होता है)' इत्यादि वचनमें 'ज्ञान नामक गुणका विधान है' ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती; क्योंकि यह वचन साधिकार है*। साधिकार वचनमें न्यायवेत्तागण गुण-विधिका अनुमान नहीं किया करते; क्योंकि ऐसा करनेपर विरूपताका प्रसंग† उपस्थित होगा। [यदि कहो उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञान कीर्तनका अङ्ग भले ही न रहे, कीर्तनमें प्रवृत्तिका हेतु तो हो ही सकता है तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि] प्रवृत्ति भी अपने विषयके [अर्थात् जिसमें प्रवृत्ति होनेवाली है उस नामोच्चारणके] ज्ञानकी ही अपेक्षा रखनेवाली है, नामी (परमेश्वर) के ज्ञानकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है; इसलिये ज्ञान न तो कीर्तनका अङ्ग है और न कीर्तनमें अधिकार होनेका हेतु ही है।

---

* 'सर्वेषामप्यघवताम्......यतस्तद्विषया मतिः' इस वाक्यमें नामोच्चारणका पापक्षयफलसे सम्बन्धरूप अधिकारका प्रतिपादन किया गया है।

† उक्त वाक्यमें पहले तो पाप-क्षयके उद्देश्यसे नाम-कीर्तनका विधान किया जाता है फिर नाम-कीर्तनके उद्देश्यसे अभिधेय (कीर्तनीय परमात्मा) के ज्ञानरूप गुणका विधान होता है, अतः एक ही नामोच्चारण उद्देश्य भी ठहरता है और विधेय भी, इसी प्रकार प्रधानता-गौणता आदि परस्पर विरुद्ध भावोंकी आपत्ति होती है। इसलिये उक्त वचनमें 'ज्ञान नामक गुणका विधान है' ऐसा अनुमान करना असंगत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुतप्तानुतप्तभेदमूलकव्यवस्थायाः खण्डनम्

यदप्युक्तम्—अनुतप्तानुतप्तभेदेन सकृत् कृतमावर्त्तितं च कीर्तनं व्यवस्थितमिति; तदपि नातीवाभिप्रेतम्। तथा हि—विधाद्वयमप्येतत् किं विधिसामर्थ्यान्निवर्तकं पातकस्य; किं वा स्वसामर्थ्यात् ? तत्र यदि विधिसामर्थ्यात् तर्हि भवितव्यमुभयत्राप्यनुतापेन, अनुतप्ता एव हि प्रायश्चित्तविधावधिक्रियन्ते। यदि स्वसामर्थ्यात् तर्हि न कुत्रचिदनुतापोपयोगः, न खलु पदार्थस्वभावः पुरुषगतां योग्यता-

---

तुमने जो कहा था कि 'अनुतप्त (चिन्तित) और अननुतप्त (चिन्तारहित) के भेदसे एक वार तथा वार-वार किया हुआ कीर्तन पवित्र करनेवाला है [अर्थात् अनुतप्त पुरुष एक ही वारके कीर्तनसे अपने पापोंका क्षय कर सकता है और अननुतप्त पुरुष वार-वारके कीर्तनसे]—ऐसी व्यवस्था है, वह भी अधिक मान्य नहीं है, इसका कारण वतलाते हैं—क्या नाम-कीर्तनके—ये दोनों ही प्रकार विधिकी सामर्थ्यसे पाप-निवर्तक हैं या अपनी सामर्थ्यसे ? यदि विधिकी सामर्थ्यसे (अनुतप्तविषयक शास्त्रीय वचनके वलसे) ये पापके निवर्तक हैं तव तो दोनों ही जगह अनुताप होना चाहिये, क्योंकि अनुतप्त पुरुष ही प्रायश्चित्त-विधानके अधिकारी होते हैं [जिसको पापोंकी चिन्ता ही नहीं, वह उससे छूटनेके लिये प्रायश्चित्त क्यों करेगा ?] और यदि अपनी सामर्थ्यसे ही वे पाप दूर करते हैं, तो कहीं भी अनुतापका उपयोग नहीं है, क्योंकि यह एक निश्चित वात है कि पदार्थका स्वभाव किसी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मपेक्षते, न हि तपनस्तपस्विनयनाङ्गनगतामेव तमस्तमालमण्डली-मुन्मूलयति न तु चाण्डालचक्षुश्चत्वरवर्त्तमानामित्यस्ति नियमः।

अपि चेह स्वमहिम्नैव पावनत्वमुचितं न तु विधिसामर्थ्यात्। विधेर्हि विधाद्वयम्, लिङादियुक्तं वाक्यम्, लिङाद्यर्थश्च; तत्र प्रथमो विधिः प्रमाणमेव, प्रमाणं च प्रमेये न कथंचिदविद्यमानं महिमानमुत्पाद-

---

पुरुषकी योग्यताकी अपेक्षा नहीं करता। सूर्यदेव तपस्वियोंके ही लोचनाङ्गनमें फैले हुए तिमिर-समूहका नाश करते हैं, चाण्डालके नेत्राङ्गणमें वर्तमान अन्धकार-राशिको दूर नहीं करते—ऐसा नियम नहीं है।

इसके अतिरिक्त यहाँ नाम-कीर्तनका अपनी ही महिमासे पवित्रकारक होना उचित है, विधिकी सामर्थ्यसे नहीं। विधिके दो प्रकार हैं—लिङ् आदि[1]से युक्त वाक्य और लिङ् आदिका वाच्य अर्थ। उनमेंसे पहली विधि (लिङ् आदिसे युक्त वाक्य) केवल प्रमाणरूप है और प्रमाण केवल अपनी सामर्थ्यसे किसी ऐसी महिमाको नहीं उत्पन्न कर सकता जो

---

१. यहाँ आदि शब्दसे तव्य, तव्यत् और अनीयर आदि प्रत्ययोंका ग्रहण होता है। 'कीर्तयेत्, कीर्तितव्यः, कीर्तनीयः' इत्यादि क्रियाओंसे युक्त वाक्य लिङादियुक्त वाक्य हैं और इनका वाच्य कीर्तन आदि कार्य ही लिङादिका अर्थ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यति, अपि तु यथावस्थितमेव वस्तुतत्त्वमनवगतमवगमयत्येव। उक्तं हि मीमांसाभाष्यकृद्भिः "उपायं तु न वेद तस्योपायः कथनीयः" इति। नैष्कर्म्यसिद्धिकारैरपि—

उपायान् प्राप्तिहानार्थान् शास्त्रं भासयतेऽर्कवत्।

इति, द्वितीयः पुनः फलसाधनत्वमेव न तस्य पुनः साधनाधीनसाधनत्वम्, तस्मात्स्वमहिम्नैव पावनत्वं स्वमहिम्नैव चेदमंहसां निवर्त्तकं कीर्त्तनम्। आवृत्तेरुच्चाटनमन्त्रो जप्त एव श्रद्धादीनामपि,

---

प्रमेय (नाम-कीर्तनादि) में विद्यमान न हो; अपि तु, वह वस्तुगत यथार्थ तत्त्वका ही, जो पहलेसे ज्ञात नहीं है, ज्ञान कराता है। मीमांसाके भाष्यकारने कहा भी है कि "मनुष्य उपाय नहीं जानता, अतः उसके लिये उपाय ही बतलानेकी आवश्यकता है।" नैष्कर्म्यसिद्धिकार (श्रीसुरेश्वराचार्यजी) ने भी कहा है—

"प्राप्ति (इष्टका ग्रहण) और हान (अनिष्टका त्याग) ही जिनके प्रयोजन हैं, ऐसे उपायोंको शास्त्र सूर्यकी भाँति प्रकाशित कर देता है।"

दूसरी विधि (लिङादिका बोध्य अर्थ नाम-कीर्तनादि) तो [प्रमेय होनेके कारण] फलका साधन ही है, वह साधनके अधीन रहकर साधन नहीं है। इसलिये यह नाम-कीर्तन अपनी ही महिमासे पवित्रकारक और अपनी ही महिमासे पाप-निवर्तक भी है। [इसमें आवृत्ति और श्रद्धा आदिकी भी आवश्यकता नहीं है, इस बातको स्पष्ट करनेके लिये] आवृत्ति और श्रद्धा आदिके उच्चाटन(अभाव)का मन्त्र जपा ही जा चुका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न हि मिहिरस्तिमिरं विहन्तुमुदयमावर्त्तयति श्रद्धादिकं वापेक्षते। न च मन्तव्यमावृत्तस्यैव तादृशः प्रभावः, न तु सकृत्कृतस्येति; सकृत्कृतस्यापि पावनत्वप्रतिपादकानां वचनानामनेकेषां दर्शितत्वात्। न च तेषामवयवानुवादानां द्वादशकपालप्रशंसार्थतावदावृत्तिगुण-

---

है। सूर्य अन्धकारको नष्ट करनेके लिये [एक ही दिन] वार-वार उदय नहीं लेते और न श्रद्धा आदिकी ही अपेक्षा रखते हैं। वार-वार किये हुए कीर्तनका ही वैसा महान् और व्यापक प्रभाव होता है, एक वारके कीर्तनका नहीं—ऐसा भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि एक वार किये हुए कीर्तनकी भी पावनताके प्रतिपादक अनेकों वचन दिखलाये जा चुके हैं। यदि कहो, जिस प्रकार [द्वादश कपालयागके] अवयवोंके अनुवादक [यदष्टाकपालः इत्यादि] वचन द्वादशकपाल विधिके प्रशंसार्थक माने गये हैं* उसी प्रकार [एक वार किये हुए कीर्तनके महत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले] उन वचनोंका आवृत्तिगुणयुक्त कीर्तनकी प्रशंसामें ही तात्पर्य है [क्योंकि वे अनेक वार की आवृत्तिके अवयवभूत एकत्व-संख्याका अनुवाद

---

* "यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन पुनाति (जिस पुरुषका अष्टाकपाल-याग पूर्ण हो जाता है उसे गायत्री ही ब्रह्मतेजसे पवित्र कर देती है)" यह वचन "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् (विश्वानर (अग्नि) देवता-सम्बन्धी द्वादशकपाल चरु अर्पण करे)" इस विधिविहित यागके अवयव अष्ट संख्याका अनुवादक होनेसे अर्थवाद माना गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

युक्तकीर्त्तनप्रशंसार्थतेति वाच्यम्, स्वार्थे प्रामाण्यस्य प्रबन्धेन प्रतिपादितत्वात् । तस्माद् व्यवस्थैव परं परिशिष्यते, सा च न सम्भवतीत्यभिहितमेव ।

अनुतापविषयकवचनव्याख्या

ननु तर्हि कथमनुतापमावृत्तिं चाभिदधद्वाक्यजातं व्याख्येयम् ?

व्याख्यायते—कृते पापेऽनुताप इत्यस्य तावत्पापक्षयसाधनं कीर्त्तनमित्येतावानेवार्थः, तथा हि—प्रायश्चित्तशब्दस्तावत्कीर्त्तने न मुख्यः ।

करनेवाले हैं—] तो ऐसा भी कथन उचित नहीं है; क्योंकि उनकी स्वार्थमें प्रमाणता विस्तारके साथ बतलायी जा चुकी है। इसलिये तुमने जो कहा था कि 'अन्ततो गत्वा [अनुतप्तके लिये एक बार और अन्यके लिये बार-बार कीर्तनकी] व्यवस्था ही शेष रहती है' उसके विरुद्ध हमने भलीभाँति बता दिया कि व्यवस्था सम्भव नहीं है।

पूर्वपक्षी—तो अनुताप और आवृत्ति—दोनोंका प्रतिपादन करनेवाले वचनोंकी व्याख्या कैसे करनी चाहिये ?

सिद्धान्ती—उनकी व्याख्या करते हैं, [सुनो]—"कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते। प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं हरिसंस्मरणं परम्" इसका इतना ही तात्पर्य है कि 'कीर्तन पापक्षयका साधन है।' इसीको स्पष्ट करते हैं—'प्रायश्चित्त' शब्द कीर्तन अर्थमें प्रधान (मुख्य) नहीं है; क्योंकि—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते ।

इति व्याख्यानात् । न च कीर्त्तनं तयोरन्यतरदुभयं वा, अतो गौणोऽयं यथा प्रायश्चित्तं हितसाधनं तथेदमपि, हितं च द्विविधम्, सुखप्राप्तिरनर्थपरिहारश्च; तत्राप्यनर्थपरिहारलक्षणं हितं विध्यपेक्षितत्वं समर्पयति ।

कृते पापेऽनुतापो वै यस्य पुंसः प्रजायते ।

इति । यो हि यस्मादनुतप्तस्तस्य तन्निवृत्तिरेव हितं ततश्च पापादनुतप्तस्य कीर्त्तनं हितसाधनमित्युक्ते पापक्षयसाधनमित्युक्तं भवति ।

" 'प्रायः' तपको कहते हैं और 'चित्त' शब्द निश्चयका वाचक है ।"

इस प्रकार प्रायश्चित्त शब्दकी व्याख्या की गयी है । तप और निश्चय—इन दोनोंमेंसे कोई एक या दोनों ही—कीर्तन नहीं हैं, अतः कीर्तन अर्थमें प्रायश्चित्त शब्द मुख्य वृत्तिसे वाचक नहीं, गौण है । जिस प्रकार प्रायश्चित्त हितसाधक है उसी प्रकार कीर्तन भी है । हित भी दो प्रकारका है—सुखकी प्राप्ति और अनर्थका निवारण । उनमें भी अनर्थनिवारणरूप हित विधिकी अपेक्षाका ही बोध कराता है । यथा—

"पाप करनेपर जिस पुरुषको पश्चात्ताप होता है"

इत्यादि । जो जिससे अनुतप्त होता है उसके लिये उसीकी निवृत्ति हित है, अतः 'पापसे अनुतप्त हुए पुरुषका कीर्तन हितसाधक है' ऐसा कहनेपर यही प्रतिपादित होता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

परशब्दश्च केवलशब्दपर्यायः, कीर्तनमेव पुष्कलं साधनमित्यर्थः। एकमिति सकृदिति च हरिकीर्तनस्य सर्वस्यैव स्मारकत्वात् संस्मरणमित्यनुवादः, स च प्ररोचनफलः; समीचीनं ह्येतदिति, स्वर्गकामादिपदमपि समीहितलक्षणस्य विधेः प्रथमापेक्षितसमीहितविशेषण-

---

कीर्तन पापक्षयका साधक है। 'पर' शब्द 'केवल' शब्दका पर्याय है, तात्पर्य यह कि केवल कीर्तन ही पुष्कल (मुख्य) साधन है। 'एकम्' और 'सकृत्' शब्द सबको ही हरिकीर्तनका स्मरण दिलाते हैं, इसलिये 'संस्मरण' शब्द उसीका अनुवाद है और 'यही अच्छा साधन है' ऐसा कहकर प्ररोचन (कीर्तनमें रुचि बढ़ाना) ही उसका फल है। [इसलिये उपर्युक्त व्याख्याके अनुसार यही सिद्ध होता है कि 'कृते पापेऽनुतापो वै' इत्यादि वचन एक वारके कीर्तनमें अनुतप्त पुरुषके अधिकारका बोध करानेवाले नहीं हैं, अपि तु, 'पापसे चिन्तित पुरुषोंके लिये एक नाम-कीर्तन ही सबसे बढ़कर पापनाशका साधन है' ऐसा कहकर उन्हें पापक्षयरूप फलकी इच्छासे कीर्तनकी ओर आकृष्ट करनेवाले हैं] इसी प्रकार 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वचनोंमें आये हुए 'स्वर्गकाम' आदि पद भी अभिलषित वस्तुको लक्षित करानेवाली यज्ञ-विधिके पहले ही अपेक्षित कामनाके विशेषणभूत स्वर्गादिकी प्राप्तिका ही बोध करानेवाले हैं [अर्थात् यज्ञसे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है यह बताकर स्वर्गकामियोंको उसकी ओर आकृष्ट करना ही उनका उद्देश्य है]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

समर्पणपरमेव न पुरुषपरम्, अर्थतस्तु 'स्वर्गकामोऽधिकारी' इति मीमांसाहृदयवेदिनां निर्णयः ।

नन्विहापि तर्ह्यनुतप्तस्याधिकारः प्राप्त एव ।

मैवम्, अत्यन्तसुकरत्वेनान्यथापि प्रवृत्तिसम्भवात् । अशाब्दत्वादेव च फलकामनायाः प्रकारान्तरेणापि प्रवृत्तस्य पापक्षयो भवेदेव ।

वे पुरुषपरक नहीं हैं [अर्थात् यज्ञमें 'स्वर्गकामी पुरुषके अधिकारका बोध करानेमें उनका तात्पर्य नहीं है] 'स्वर्गकामी पुरुष ही यज्ञका अधिकारी है' यह बात तो अर्थतः प्राप्त होती है, [यह उक्त वाक्यका वाच्यार्थ नहीं है]—इस प्रकार मीमांसाशास्त्रके मर्मज्ञोंका निर्णय है ।

पूर्वपक्षी—तब तो यहाँ (एक बारके कीर्तनमें) भी [अर्थतः] अनुतप्तका अधिकार प्राप्त ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अत्यन्त सुकर होनेके कारण अन्य प्रकारसे भी इसमें प्रवृत्ति होनी सम्भव है; तथा [जिस प्रकार यज्ञमें 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि रूपसे स्वर्गादि फलकी कामनाका शब्दतः उल्लेख हुआ है उस प्रकार] कीर्तनमें फलकी कामनाका शब्दतः उल्लेख नहीं हुआ है इसलिये प्रकारान्तरसे भी प्रवृत्त हुए पुरुषका पापक्षय होगा ही ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्वेवं तर्ह्यस्वर्गकामस्यापि यागादौ प्रवृत्तस्य स्वर्गः किं न स्यात् ?

को वा ब्रूते प्रवृत्तस्य न स्यादिति ? किन्तु प्रवृत्तिरेव तस्मिन्फलकामनामन्तरेण न सम्भाव्यते; दुर्भरगरिमत्वात्, कौतूहलादिकमपि न सकलाङ्गकलापव्यापिनीं प्रवृत्तिमुत्पादयितुमलम्, अतस्तत्कामस्यैव तत्राधिकारः । इह पुनः फलाभिसंधिमन्तरेणापि स्वभावसुभगतया सुकरतया च सुलभा प्रवृत्तिरिति सर्वस्यैवाविकलवागिन्द्रियस्याधिकारः, अत एव सुकरेषु कर्मसु फलकामनां

पूर्वपक्षी—यदि ऐसी बात है तो जिसे स्वर्गकी कामना नहीं है वह भी यदि यागादिमें प्रवृत्त हो तो उसे स्वर्ग क्यों नहीं प्राप्त होगा ?

सिद्धान्ती—कौन कहता है कि [उनमें] प्रवृत्त हुए पुरुषको स्वर्ग नहीं प्राप्त होगा ? परन्तु यागादिमें फल-कामनाके बिना प्रवृत्ति ही सम्भव नहीं है; क्योंकि यह कार्य इतना भारी है कि इसका भार सँभालना कठिन है। कौतूहल आदि भी सम्पूर्ण अङ्गोंमें व्याप्त होनेवाली प्रवृत्तिको उत्पन्न नहीं कर सकता [अर्थात् इतने दुष्कर कार्यमें कोई कौतूहलवश भी नहीं प्रवृत्त हो सकता] अतः उस स्वर्गादिकी कामनावालेका ही वहाँ (यज्ञमें) अधिकार है। किन्तु इस कीर्तनमें फलकामनाके बिना भी प्रवृत्ति सुलभ है; क्योंकि यह स्वभावसुन्दर एवं सुकर है तथा जिनकी वाक्-इन्द्रिय विकृत नहीं हुई हो उन सभीका इसमें अधिकार है। इसीलिये सुकर कार्योंमें फल-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विनापि प्रवृत्तिः सम्भवति, प्रवृत्तस्य च फलसिद्धेरनिवार्यत्वात्। तस्याश्च संसारहेतुभावान्मुमुक्षोः काम्यकर्मत्यागं समादिशद्भगवान्—

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।

इति। तस्मादनुतापो नाधिकारे हेतुः, नाप्यङ्गं कीर्त्तनस्य; अवशेनेत्यादिप्रमाणविरोधात्। कृष्णानुस्मरणं परमित्यत्रापि परमुत्कृष्टं प्रायश्चित्तमत्यन्तशुद्धिसाधनमावृत्तिगुणकं कृष्णकीर्त्तनमिति विवक्षितम्। अत्यन्तशुद्धिश्च सह वासनाभिः पापानां परिक्षय इति

कामनाके बिना भी प्रवृत्ति सम्भव है; क्योंकि जो प्रवृत्त हो चुका है उसके लिये फलकी सिद्धि अनिवार्य हो जाती है। इसके अतिरिक्त फलकी कामना जन्म-मरणरूप संसारका कारण होती है, इसलिये भगवान् श्रीकृष्णने [गीतामें] मुमुक्षुको काम्यकर्मके त्यागका आदेश दिया है—

"विद्वानोंने काम्य कर्मोंके त्यागको संन्यास माना है"

इसलिये अनुताप [सकृत् कीर्तनमें] अधिकार होनेका कारण नहीं है और न कीर्तनका ही अङ्ग है; क्योंकि [ऐसा माननेपर] 'अवशेनापि' इत्यादि प्रमाणसे विरोध पड़ता है। "कृष्णानुस्मरणं परम्" यहाँ भी यही कहना इष्ट है कि श्रीकृष्णका आवृत्तिगुणयुक्त (बार-बार किया हुआ) कीर्तन परम उत्कृष्ट प्रायश्चित्त है अर्थात् अत्यन्त शुद्धिका साधनभूत है। वासनाओंके साथ पापोंका क्षय हो जाना ही अत्यन्त शुद्धि है—यह विस्तारके साथ बतला ही चुके हैं; इसलिये उपर्युक्त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रपञ्चितमेव। ततश्च भविष्यद्भिः पापैरनुपश्लेषः फलमावृत्तेः, कीर्त्तनमात्रस्य पुनः प्राचीनपापक्षय इत्युक्तं भवति। अत एवोक्तमुत्तरश्लोकेन "कृते पापेऽनुतापो वै यस्य" इति। अन्यथा हि सामान्येन पापादनुतापो यस्येत्यवदिष्यत्।

आवृत्तानावृत्तकीर्त्तनविषयकवचनव्याख्यानम्

एवं सर्वत्रावृत्तानावृत्तकीर्त्तनविषयाणि वचनानि व्याख्येयानि। अत्रावृत्तिविषयाणि तावत्—

विवेचनसे यही प्रतिपादित होता है कि होनेवाले पापोंसे सम्पर्क न होना आवृत्तियुक्त कीर्तनका फल है और प्राचीन पापोंका क्षय हो जाना यह एक वारके कीर्तनका फल है। अतएव (ऐसी व्यवस्था होनेके कारण ही) अगले श्लोकके द्वारा कहा है—"पाप करनेके बाद जिसको पश्चात्ताप होता है" इत्यादि। यदि उक्त व्यवस्था न होती तो सामान्यरूपसे यही कहते कि 'जिसको पापसे अनुताप होता है' ['पाप करनेके बाद' ऐसा न कहते]

इसी प्रकार सर्वत्र आवृत्तियुक्त और आवृत्तिरहित कीर्तनसे सम्बन्ध रखनेवाले वचनोंकी व्याख्या करनी चाहिये* । यहाँ पहले आवृत्तिविषयक वचनोंका उल्लेख करते हैं—

---

* अर्थात् ऐसा समझना चाहिये कि एक बारका कीर्तन सम्पूर्ण प्राचीन पापोंके क्षयका साधन है, और कीर्तनकी आवृत्ति अत्यन्त शुद्धिका साधन है। वासनासहित प्राचीन पापोंका क्षय हो जाना और भविष्यमें भी पापोंसे सम्पर्क न होना ही अत्यन्त शुद्धि है। ध्यान देनेपर कीर्तनसम्बन्धी वचनोंसे उक्त अभिप्रायकी स्पष्ट अभिव्यञ्जना होती है। यही बात आगे दिखाते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते
मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे ।
तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतो हरे-
र्गुणानुवादः खलु सत्त्वभावनः ॥

इत्यत्रावृत्तस्य भगवत्कीर्तनस्यात्यन्तशुद्धिहेतुत्वं स्पष्टमेव ।

नातः परं कर्मनिबन्धकृन्तनं
मुमुक्षतां तीर्थपदानुकीर्त्तनात् ।

इत्यत्रापि मुमुक्षूणामधिकृतत्वादत्यन्तशुद्धिरेव विवक्षिता ।

"यदि प्रायश्चित्त करनेपर भी मन फिर कुमार्गकी ओर दौड़ता है, तो यह निश्चित है कि प्रायश्चित्त पापका अत्यन्त शोधक नहीं होता, इसलिये कर्मका आत्यन्तिक विनाश चाहनेवाले पुरुषोंके लिये भगवान्‌के गुणोंका बार-बार कीर्तन ही निश्चितरूपसे चित्तकी शुद्धि करनेवाला है।"

इस वचनमें 'आवृत्तियुक्त भगवत्कीर्तन अत्यन्त शुद्धिका साधन है' यह बात स्पष्टरूपसे बतलायी गयी है।

"मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंके लिये तीर्थपाद भगवान् [के नामों] का बार-बार कीर्तन करनेसे बढ़कर कर्म-बन्धका उच्छेद करनेवाला दूसरा कोई साधन नहीं है।"

यहाँ भी आवृत्तियुक्त कीर्तनमें मुमुक्षुओंका अधिकार बताया गया है, इसलिये कीर्तनकी आवृत्तिसे अत्यन्त शुद्धि ही विवक्षित है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किङ्करा दण्डपाशौ वा नियमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केवलालम्बनः सदा ॥

इत्यत्रापि यस्यात्मा केवलालम्बनस्तस्य सदा न समर्था इत्यन्वयः, वचनान्तरानुरोधात् ।

गोमूत्रयावकाहारो ब्रह्महा मासिकैर्जपैः ।

इत्यादावपि मोक्षसाधनत्वादष्टाक्षरब्रह्मविद्यायाः, मोक्षस्य च परमशुद्धिरेव विवक्षिता न पापक्षयमात्रम् । ततश्च तत्तदावृत्तिविशेषा-

---

किङ्करा दण्डपाशौ वा नियमो न च यातनाः ।
समर्थास्तस्य यस्यात्मा केवलालम्बनः सदा ॥

यहाँ भी [एक बारके नामोच्चारणसे सारे पापोंका नाश बतानेवाले] अन्य वचनोंकी सम्मतिसे यही ज्ञात होता है कि 'यस्यात्मा केवलालम्बनस्तस्य सदा न समर्थाः' (जिसका आत्मा केवल (एक बार) भगवान् [के कीर्तन] का अवलम्ब ले चुका है उसके लिये यमराजके दूत आदि सर्वदा ही असमर्थ हैं)—ऐसा ही अन्वय है ।

"गोमूत्र और यवकी लप्सी खाकर एक महीनेतक 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षरमन्त्रका जप करनेसे ब्रह्म-हत्यारा शुद्ध हो जाता है ।"

इत्यादि वचनमें भी आवृत्तिसे अत्यन्त शुद्धिका होना ही बतलाया गया है; क्योंकि यह अष्टाक्षर मन्त्ररूपा ब्रह्म-विद्या मोक्षकी साधनभूत है और मोक्षके लिये परम शुद्धि ही विवक्षित है केवल पापक्षय ही नहीं । इसलिये उन-उन मन्त्रोंकी मासिक-पाक्षिकादि विशेष प्रकारकी आवृत्ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्तत्पापवासनाविनिवृत्तिस्ततश्च पुष्कलशुद्धिरिति। अथ वा सकृत्कीर्त्तनादेव प्रक्षीणेऽपि पापे कस्यचिदश्रद्धारोपितमपूतत्वमात्मनि मन्यमानस्य तन्निबन्धनं दुःखं न निवर्त्तते; तस्य तदारम्भकपातकप्रध्वंसायावृत्तिविशेषयुक्तं मन्त्राध्ययनं विधीयते।

आवृत्तकीर्तनस्य प्रारब्धक्षयार्थत्वमनावृत्तस्य चाप्रारब्धप्राचीनाघसंहारार्थत्वमिति निश्चयः

प्रारब्धपरिक्षये च युक्तमेवावृत्त्यपेक्षणम्, आरोग्यादिषु तथादर्शनात्।

करनेसे भिन्न-भिन्न पापवासनाओंकी निवृत्ति होती है। और उससे आत्यन्तिक शुद्धि होती है। अथवा, एक वारके कीर्तनसे ही पापक्षय हो जानेपर भी यदि कोई एक बारके कीर्तनके प्रभावपर विश्वास न होनेके कारण अपनेमें झूठे ही आरोपित की हुई अपवित्रता मानता है तो उस पुरुषका उस कल्पित अपवित्रताके कारण होनेवाला दुःख निवृत्त नहीं होता; अतः उसके लिये उस दुःखके आरम्भक पापोंका नाश करनेके लिये विशेष प्रकारकी आवृत्तिसे युक्त मन्त्रके जपका विधान है।

प्रारब्ध-क्षयके लिये तो आवृत्तिकी अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि नीरोग होने आदिके लिये [औषधसेवन आदिकी] आवृत्ति देखी जाती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ननु यथोक्तावृत्तिविहीनाभ्यामपि श्रवणकीर्त्तनाभ्यां प्रारब्ध-परिक्षयोऽपि श्रीस्कन्दपुराणनरसिंहपुराणयोर्दृश्यते ?

सत्यम्, तत्तु श्रीमत्पञ्चाक्षरनारदादिमहापुरुषानुग्रहसहचारितयेति निश्चीयते; तस्मादावृत्तिविधीनामन्यार्थत्वादप्रारब्धप्राचीनपापक्षये सकृत्कीर्त्तनमेव साधनमिति निरपवादम्। अत्र वचनानि सन्त्यनन्तानि, तथा हि—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥

पूर्वपक्षी—परन्तु श्रीस्कन्दपुराण और नरसिंहपुराणमें तो पूर्वोक्त आवृत्तिसे रहित भी जो श्रवण और कीर्तन हैं उनसे प्रारब्धका भी क्षय होना देखा जाता है।

सिद्धान्ती—ठीक है, परन्तु श्रीपञ्चाक्षरमन्त्र और श्रीमान् नारदादि महापुरुषोंके अनुग्रहकी सहायतासे ही वैसा होना निश्चित होता है; अतः आवृत्तिविधायक वचनोंका [प्रारब्ध और वासनाका नाश करना आदि] दूसरा ही प्रयोजन होनेके कारण प्रारब्धभिन्न प्राचीन पापके क्षयके लिये एक वारका ही कीर्तन साधन है, यह सिद्धान्त निर्दोष है। इस विषयमें असंख्य वचन हैं [जिनमेंसे कुछ] इस प्रकार हैं—

"जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका एक वार भी उच्चारण किया है उसने मानो मोक्षकी ओर जानेके लिये कमर कस ली है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति। परिकरबन्धश्चात्र प्रक्षीणपापत्वमेव, तत् खलु प्रथमं सोपानमपवर्गप्रासादारोहणस्य। तथा—

हत्यायुतं पानसहस्रमुग्रं
गुर्वङ्गनाकोटिनिषेवणं च।
स्तेयान्यसंख्यानि हरेः प्रियेण
गोविन्दनाम्ना निहतानि सद्यः॥

इत्यत्रापि सद्यस्तदानीमेवेत्यावृत्तिनैरपेक्ष्यं दर्शयति।

प्रातर्निशि तथा सन्ध्यामध्याह्नादिषु संस्मरन्।
नारायणमवाप्नोति सद्यः पापक्षयं नरः॥

यहाँ कमर कसनेका तात्पर्य पापोंका क्षय हो जाना ही है, वह (पापक्षय) मोक्षरूप महलपर चढ़नेके लिये पहली सीढ़ी है। तथा—

"हजारों हत्याएँ, सहस्रों बार उग्र मद्यपान, करोड़ों बार गुरुपत्नियोंका सेवन और असंख्यों बार चोरी करने आदि पापोंको भगवान्‌के प्रियतम 'गोविन्द' नामने तुरन्त नष्ट कर दिया।"

इस वचनमें भी सद्यः (तुरन्त) कहकर आवृत्तिकी अपेक्षाका न होना ही दिखलाते हैं।

"प्रातःकाल, रात्रि, सन्ध्या अथवा मध्याह्न आदि समयमें भगवान् नारायणका [एक वार भी] स्मरण करनेवाला मनुष्य उसी समय अपने पापोंका क्षय कर लेता है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यत्रापि सद्य इत्युपजीव्यते, नरमात्रस्याधिकृतत्वाद् विश्वासादिनिरपेक्षता । प्रातरादीनां च विकल्पो न तु समुच्चयः, सद्यस्त्वव्याघातात् । ततश्च कालविशेषो नादरणीय इत्यर्थः ।

तथा—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्त्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

यहाँ भी 'सद्यः (उसी समय)' यह शब्द उपजीव्य (इसी बातका पोषक) है; मनुष्यमात्रका कीर्तनमें अधिकार होनेके कारण विश्वास तथा आवृत्ति आदिकी निरपेक्षता दिखायी गयी है। प्रातः आदि समयोंका यहाँ विकल्प ही है, समुच्चय नहीं; क्योंकि समुच्चय माननेपर 'सद्यस्त्व ('उसी समय' इस कथन) का व्याघात होगा* अतः कीर्तनके लिये कालविशेषका आदर अपेक्षित नहीं है। तथा—

अवशेनापि यन्नाम्नि कीर्तिते सर्वपातकैः ।
पुमान् विमुच्यते सद्यः सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव ॥

---

* अर्थात् ऐसा मानना चाहिये कि प्रातः आदि कालोंमेंसे किसी भी कालमें कभी एक वार कीर्तन करनेसे तत्काल पाप नष्ट हो जाते हैं, यदि उक्त सभी समयोंमें कीर्तन कर लेनेपर ही पापका नाश मानें तो 'तत्काल पाप नष्ट होते हैं' यह कथन विरुद्ध पड़ेगा; क्योंकि मुँहसे 'नाम' निकलते ही पापका नाश हो जाय तभी 'तत्काल नाश होना' कहा जा सकता है, यदि प्रातःसे सन्ध्यातक नामोच्चारणके वाद पाप नष्ट हुआ तो क्या जल्दी हुई ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitization by eGangotri

इत्यत्रापि; सद्य इति विवक्षितम् । सिंहत्रस्तैर्मृगैरिवेत्यस्यायमर्थः—यथा कश्चिद्राजकुमारः सिंहशिशुं परिगृह्य पञ्जरे निधाय पुष्णाति तेन च यूना परिचयप्ररूढानुरागेण वनान्तरे विहरति, तस्माच्चकितैर्वनगजव्याघ्रादिभिर्मुच्यते दूरात्; तथा वदनपङ्कजस्थान्नरहरिनामधेयकण्ठीरवाद् भीतैः पातकैः पुरुषः परिह्रियत इति । तथा—

यत्कीर्त्तनं यच्छ्रवणं यदर्पणं
यद्वन्दनं यत्स्मरणं यदर्हणम् ।

इस वचनमें भी 'सद्यः' पद विवक्षित है । 'सिंहत्रस्तैर्मृगैरिव' इसका यह अर्थ है—जिस प्रकार कोई राजकुमार सिंहके बच्चेको पकड़कर उसे पींजड़ेमें रखकर पालता है, फिर अधिकाधिक परिचयसे प्रेम बढ़ जानेके कारण वह उस सिंहके युवावस्थामें पहुँच जानेपर भी उसके साथ वनके भीतर घूमता रहता है, उस समय [राजकुमारको जंगलमें अकेले पाकर भी] उस पालतू सिंहके भयसे चकित हुए जंगली हाथी और बाघ आदि हिंसक जीव दूरसे ही राजकुमारको छोड़कर हट जाते हैं । उसी प्रकार पुरुषके मुखारविन्दमें निवास करनेवाले भगवान् नृसिंहके नामरूपी सिंहसे भयभीत होकर पाप भी उस पुरुषको दूरसे ही त्याग देते हैं । तथा—

यत्कीर्तनं यच्छ्रवणं यदर्पणं यद्वन्दनं यत्स्मरणं यदर्हणम् ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषं
तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

इति। अस्यार्थः—अर्पणमत्रात्मनिवेदनम्, अर्हणमर्चनम्; अत इह षड्भक्तयो गृह्यन्ते । ताश्च प्रत्येकं किल्बिषविधूननेन सम्बध्यन्ते । न च ताभिर्विशिष्टं किल्बिषविधूननमेव वाक्यार्थः, तस्य

लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्बिषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥*

इसका भाव यों समझना चाहिये—यहाँ 'अर्पण' शब्दका अर्थ 'आत्मनिवेदन' है और 'अर्हण' का अर्थ 'अर्चन (पूजन)' है। अतः इस श्लोकमें [नवधा भक्तियोंमेंसे] छः प्रकारकी भक्तियोंका ग्रहण किया गया है। उनमेंसे प्रत्येक भक्तिका किल्बिष-विधूनन (पापनाशरूप कार्य) से सम्बन्ध है। यदि कहें, 'एक साथ मिली हुई उन छहों प्रकारकी भक्तियोंसे विशिष्ट रूपमें (बहुत बड़ी मात्रामें) पापोंका नाश होता है—ऐसा ही इस वाक्यका अभिप्राय है' तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट पापनाशका फलरूपसे विधान नहीं किया जा

---

* श्लोकार्थ यों है—एक बार भी जिनके नामोंका कीर्तन, जिनके गुणोंका श्रवण, जिनको किया हुआ आत्मसमर्पण, जिनका वन्दन, जिनका स्मरण अथवा जिनका पूजन लोगोंके समस्त पापोंको तत्काल नष्ट कर देता है उन कल्याण-कारी यशवाले भगवान्को बार-बार प्रणाम है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizegtion by eGangotri

फलत्वेनाविधेयत्वात् । न च तासां पार्ष्ठिकः परस्परान्वयः, क्रियात्वात्। न चात्र चादिः श्रूयते समासो वा द्वन्द्वः, येनाग्नेयादीनामिव समुच्चयः स्यात्। तस्मात् "लोकस्य सद्यो विधुनोति

सकता [कारण कि ऐसा माननेपर 'भक्तियोंके समुच्चयसे अधिक पापका नाश होता है और एक-एकके द्वारा स्वल्प पापका नाश होता है' ऐसी अवाञ्छनीय कल्पना होने लगेगी]। यदि कहें, उन छहों विभक्तियोंका पार्ष्ठिक अन्वय* है [अर्थात् पहले उनका पृथक्-पृथक् पापक्षयके साथ अन्वय हो जानेके बाद फिर परस्पर अभेद-सम्बन्धसे अन्वय है], तो ठीक नहीं, क्योंकि ये कीर्तन आदि क्रियारूप हैं [और क्रियाओंमें पार्ष्ठिक अन्वय नहीं होता]† । इसके अतिरिक्त यहाँ [समुच्चयबोधक] 'च' आदि निपात अथवा द्वन्द्व-समासका भी श्रवण नहीं होता, जिससे आग्नेय आदिकी भाँति समुच्चय हो। अतः 'लोकस्य सद्यो विधुनोति किल्विषम्' इन चार

---

* जैसे 'नीलं घटमानय' (नील घड़ा लाओ)। इस वाक्यमें पहले नील और घट दोनोंका पृथक्-पृथक् 'आनय (लाओ)' क्रियासे सम्बन्ध होता है, यथा—'घटमानय, नीलमानय' (घड़ा लाओ, नील लाओ), फिर नीलका अभेद-सम्बन्धसे घटमें अन्वय होता है, तब यह वाक्य होता है—'नीलाभिन्नं घटमानय' (नीलसे अभिन्न अर्थात् नीलरूप ही घट लाओ)। यही पार्ष्ठिक अन्वय कहलाता है। यदि यहाँ भी छहों विभक्तियोंका परस्पर पार्ष्ठिक अन्वय मानें तो कीर्तन, श्रवणादि सभी मिलकर ही पाप-क्षयके साधक सिद्ध हो सकते हैं, पृथक्-पृथक् नहीं।

† क्रियाओंमें पार्ष्ठिक अन्वय नहीं होता, क्योंकि 'अरुणया एकहायन्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किल्बिषम्" इतिपदचतुष्टयस्य तन्त्रेणावृत्त्या वा षडिमानि वाक्यानि । ततश्च तासां समशिष्टत्वादन्योन्यनिरपेक्षाणां पापक्षय-साधनत्वम्, तच्च सद्य एवेत्यावृत्तिनिरपेक्षतेति । अनुवादोऽप्ययमेता-दृशं विधिमनुमापयतीति तद्द्वारेण प्रमाणमेव । श्रीरामवाक्यं च—

पदोंको तन्त्र (वक्ताकी विवक्षा) अथवा आवृत्तिसे छः वार पढ़नेपर छः वाक्य कल्पित होते हैं [और उनका क्रमशः 'यत्कीर्तनम्' आदि छः भक्तियोंके साथ सम्बन्ध होता है *] इस-लिये उन छहों वाक्योंका समानरूपसे अनुशासन होनेके कारण एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखते हुए सभी स्वतन्त्ररूपसे पापक्षयके साधन हैं । वे भी तत्काल ही पापक्षयके साधन होते हैं, ऐसा कहकर यहाँ आवृत्तिकी अपेक्षाका अभाव ही सूचित किया गया है । यद्यपि यह वचन अनुवाद है [क्योंकि इसमें विधिका श्रवण नहीं होता] तथापि इसी तरहकी विधिका अनुमान करानेवाला है; अतः वह अनुमानके द्वारा प्रमाणभूत ही है । [एक वारके ही कीर्तनादिकी महिमाके विषयमें] श्रीराम-चन्द्रजीका भी वाक्य है—

पिङ्गाक्ष्या सोमं क्रीणाति' (लाल रंगकी एक सालकी उम्रवाली और पीले नेत्रोंवाली बछियासे सोमरस खरीदे) इत्यादि वाक्योंमें क्रियाके साधनभूत 'अरुणया' आदि विशेषणोंका ही परस्पर पार्ष्ठिक अन्वय देखा जाता है, क्रियाओंमें उसकी उपलब्धि नहीं होती । अतः यहाँ कीर्तनादि छः विभक्तियोंका परस्पर पार्ष्ठिक अन्वय नहीं हो सकता ।

* आवृत्ति करके प्रत्येक भक्तिके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर ऐसे वाक्य बनेंगे —'यत्कीर्तनं लोकस्य किल्बिषं सद्यो विधुनोति (जिनका नामकीर्तन लोगों-के पापोंको तत्काल नष्ट करता है)' 'यच्छ्रवणं लोकस्य किल्बिषं सद्यो विधुनोति (जिनके गुणोंका श्रवण लोगोंके पापोंको तत्काल नष्ट करता है)' इत्यादि ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वदा दास्य इति जन्मव्रतं मम ॥

इति। अवतारान्तराणि कदाचित्कपटमप्यरिषु प्रयुञ्जते प्रयोजनवशात्, न भक्तेषु; श्रीरामचन्द्रः पुनः परिपन्थिष्वपि न मनाङ्मनोविसंवादिनीं वाणीं प्रयुङ्क्ते। अन्यान्यप्येवंजातीयकान्युदाहार्य्याणि, तस्मादप्रारब्धप्राचीनपापक्षयः सकृत्कीर्त्तनादेवेति।

नन्वनागतानामनुपश्लेषोऽपि सकृत्कीर्त्तनादेव दृश्यते—

"जो एक बार भी मेरी शरणमें आकर 'मैं तुम्हारा हूँ' ऐसा कहकर याचना करता है, उसे मैं सदाके लिये अभय कर देता हूँ—यह मेरा जन्मसे ही व्रत है।"

अन्य अवतार तो आवश्यकता पड़नेपर भक्तोंके प्रति नहीं, किन्तु शत्रुभाव रखनेवालोंके प्रति उनके हितके लिये ही कदाचित् लोकदृष्टिसे कपटका व्यवहार भी कर लेते हैं, परन्तु श्रीरामचन्द्रजी तो अपनेसे विरोध रखनेवालोंके प्रति भी तनिक भी मनके विरुद्ध वाणीका प्रयोग नहीं करते। 'सकृदेव प्रपन्नाय' इस वचनके समान और भी अनेकों वचन उदाहरणरूपसे उद्धृत किये जा सकते हैं। इसलिये उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हुआ कि 'अप्रारब्ध प्राचीन पापका क्षय एक वारके कीर्तनसे ही हो सकता है।'

पूर्वपक्षी—[तुम तो एक वारके कीर्तनसे केवल प्राचीन पापोंका ही क्षय होना बताते हो] परन्तु [पुराणोंमें तो] एक वारके कीर्तनसे ही अनागत (भविष्य) पापोंका संसर्ग न होना भी देखा जाता है। यथा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वर्त्तमानं च यत्पापं यद्भूतं यद्भविष्यति ।
तत्सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्त्तनम् ॥
इति ।

तदसत्, अत्राप्यावृत्तेरुपसंहारात्। न चाशुशब्दस्तदुपसंहार-विरोधी, आशुभावो हि शीघ्रता, सा च सातिशया, अतिशय-श्चापेक्षिकः, ततश्च साधनान्तरेभ्यः सकाशादाशुत्वम्; न पुनः सद्यःसाधनत्वमिति ।

"वर्तमान, भूत और भविष्यमें होनेवाले भी जो पाप हैं उन सभीको गोविन्दका नाम-कीर्तनरूपी अनल शीघ्र ही दग्ध कर देता है ।"

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि इस वचनमें भी आवृत्तिका उपसंहार है। यदि कहो, 'आशु' शब्द आवृत्तिके उपसंहारका विरोधी है, तो यह भी उचित नहीं है; क्योंकि आशुभाव शीघ्रताको कहते हैं, और वह शीघ्रता अतिशययुक्त होती है, अतिशय भी अपेक्षाकृत होता है, अतः अन्य साधनों-के निकट उसमें आशुता (शीघ्रता) है, तत्कालसाधनता नहीं है।*

---

* जैसे 'वायुयान शीघ्र जाता है' इस कथनका यह अभिप्राय है कि वायुयान अन्य वाहनोंकी अपेक्षा शीघ्र जाता है, इसी प्रकार 'नामकीर्तन शीघ्र पाप दग्ध करता है' इसका यही अर्थ है कि वह अन्य साधनोंकी अपेक्षा शीघ्र दग्ध करता है । उस शीघ्रताका तत्काल अर्थ नहीं है । इसलिये उक्त वचनमें शीघ्रताका वाचक 'आशु' शब्द रहनेपर भी उसे आवृत्तकीर्तनविषयक माननेमें कोई

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

कीर्तनस्य सर्वाघसंहारित्वे मृत्युकालस्याविवक्षितत्वम्

यत्पुनरुक्तं मरणावसरे कृतस्य कीर्त्तनस्य विश्वासाद्यभावेऽपि सर्वाघसंहारित्वमिति, तदप्यसत्;

म्रियमाणो हरेर्नाम गृह्णन् पुत्रोपचारितम् ।
अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् ॥

इति स्वयमेव मरणकालस्याविवक्षितत्वप्रतिपादनात् ।

और यह जो कहा था कि मरणके अवसरपर ही किया हुआ कीर्तन विश्वास आदि न होनेपर भी समस्त पापोंका नाशक होता है, सो भी ठीक नहीं है; क्योंकि—

"मृत्युके समय श्रद्धा विना ही पुत्रके नाममें व्यवहृत भगवान्का नाम उच्चारण करनेवाला अजामिल भी यदि भगवद्धामको चला गया तो जो श्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करता है उसके लिये तो कहना ही क्या है ?"

इस वचनसे स्वयं ही मरणकालकी अविवक्षाका प्रतिपादन किया गया है [क्योंकि उक्त वचनसे यह ध्वनि निकलती है कि मृत्युकालमें नाम लेनेका यदि ऐसा फल है तो स्वस्थ रहकर आजीवन नाम लेनेका कितना महान् फल होगा, इससे मृत्यु-कालकी अप्रधानता स्वतः सिद्ध होती है ।]

बाधा नहीं है । अतः 'एक बारके कीर्तनसे ही भविष्यमें भी पापोंका संसर्ग नहीं होता' इस कथनमें कोई प्रमाण नहीं है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नन्वपिना ग्रस्तमविवक्षितं भवति, तत्प्रतियोगि च कैमुत्येन सम्बध्यते; तत्र श्रद्धायाः कैमुत्येनान्वयादश्रद्धेयमेत्रापिशब्देन सम्बध्यते; पुत्रोपचरितमपि हरेर्नाम गृणन्निति। तस्मात्तस्या एवाविवक्षा न म्रियमाणतायाः।

पूर्वपक्षी—किन्तु जो 'अपि' शब्दसे ग्रस्त रहता है वही अविवक्षित होता है, और उसके प्रतियोगीका ही कैमुत्यसे सम्बन्ध होता है। यहाँ श्रद्धाका ही कैमुत्यसे अन्वय होनेके कारण अश्रद्धेय अर्थका ही 'अपि' शब्दसे सम्बन्ध है। यथा—पुत्रमें व्यवहृत हुए हरिनामका भी उच्चारण करनेवाला [अजामिल यदि भगवद्धामको चला गया] इत्यादि। अतः अश्रद्धाकी ही यहाँ अविवक्षा है म्रियमाणता (मृत्युकाल) की नहीं।*

---

* 'म्रियमाणो हरेर्नाम' इस श्लोकमें कैमुत्यन्यायकी प्रवृत्ति है। इस न्यायको स्पष्ट करनेके लिये यह दृष्टान्त दिया जाता है—'स लोहदण्डमपि चर्वितुं शक्नुते किमुत अपूपान्' (वह लोहेके डण्डेको भी चबा सकता है, फिर 'पूआ' के लिये तो कहना ही क्या है)। कैमुत्यन्यायके स्थलमें जो वाक्य आते हैं, उनमें दो भाग होते हैं, एक 'अपिग्रस्त' ('भी' से युक्त) और दूसरा कैमुत्यसे सम्बद्ध (उसके लिये तो कहना ही क्या है, इस वाक्यसे अन्वित) होता है। जो अपि (भी) से युक्त होता है, वह वहाँ विवक्षित (अपेक्षित) नहीं होता जो कैमुत्यसे (किमुत शब्दके अर्थसे) अन्वित होता है, वही विवक्षित होता है। जैसे 'वह लोहेके डण्डेको भी चबा सकता है' यहाँ लोहदण्ड अपिग्रस्त है, अतः यह अविवक्षित है; और 'फिर 'पूआ' के लिये तो कहना ही क्या है' यहाँ 'पूआ' कैमुत्यसे अन्वित वाक्य है अतः यही विवक्षित है,अतः उक्त वाक्यमें 'लोहदण्ड' चबाना नहीं 'पूआ' खाना ही अपेक्षित है। इसी प्रकार उपर्युक्त श्लोकमें 'किमुत श्रद्धया गृणन्' (जो श्रद्धासे भगवान्का नाम लेता है, उसके लिये तो कहना ही क्या

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्रोच्यते—हरेर्नामग्रहणमिह विशेष्यं तस्य च म्रियमाणः पुत्रोपचारितं श्रद्धया चेति विशेषणानि; प्रधानान्वयित्वाद् गुणानाम् । विशेषणं च विवक्षितमविवक्षितं वा, तत्र कैमुत्येनान्वयो विवक्षितस्य, अविवक्षितस्य पुनरपिना । तत्र यदि म्रियमाणो मुख्योऽधिकारी तर्हि स्वस्थोऽप्येवं किमुत म्रियमाण इत्यवक्ष्यत्, न चैवमवोचत, तस्मान्म्रियमाणो नश्यच्चेताः श्रद्धातुमसमर्थोऽपि

सिद्धान्ती—इस विषयमें कहते हैं—यहाँ भगवन्नाम-ग्रहण विशेष्य है और म्रियमाण, पुत्रोपचारित तथा श्रद्धया—ये तीन शब्द उसके विशेषण हैं; क्योंकि गुणोंका प्रधानके साथ ही अन्वय होता है । विशेषण भी विवक्षित अथवा अविवक्षित होता है, उनमें विवक्षितका यहाँ 'मृत्यु' के साथ और अविवक्षितका 'अपि' के साथ अन्वय होता है। वहाँ यदि म्रियमाण (मुमूर्षु) पुरुष मुख्य अधिकारी होता तो ऐसा कहते कि 'यदि स्वस्थ पुरुष [भी कीर्तनसे] ऐसा हो जाता है तो जो मर रहा है उसके लिये तो कहना ही क्या है ?' परन्तु ऐसा कहा नहीं; इसलिये मरता हुआ अजामिल, जिसकी चेतना नष्ट हो रही थी, श्रद्धामें असमर्थ होकर भी पुत्रमें व्यवहृत हरिनामका

है) इस वाक्यमें श्रद्धाका कैमुत्यसे अन्वय होनेके कारण श्रद्धा ही विवक्षित है और 'पुत्रके लिये व्यवहृत नामका भी मरते समय [जब कि श्रद्धाकी सम्भावना-तक नहीं है] उच्चारण करके अजामिल भगवद्धामको प्राप्त हुआ' यहाँ अश्रद्धाका ही अपि (भी) से अन्वय होनेके कारण अश्रद्धा ही अविवक्षित है । मृत्युकाल अविवक्षित नहीं है—यह पूर्वपक्षीका अभिप्राय है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पुत्रोपचरितमपि गृणन्नजामिलो हरेर्धामैवागात् किमुत श्रद्धया हरिमेव गृणन्नित्यविवक्षितैव म्रियमाणता। श्रद्धापि मुक्त्यर्थमेव विधीयते न पापक्षयमात्रार्थम्, अगाद्धामेति वचनात्। सा च—

यद्यस्तीति न वक्तव्यं पुत्र संदिग्धकं वचः।
सर्वस्माद्धिकोऽस्त्येव शिवः परमकारणम्॥

इत्याद्युक्तलक्षणा, न तु कीर्त्तनविधिविषयिणी; तस्याः फलोपकारित्वस्य निराकृतत्वात्। अपि चाजामिलस्यापि न मुख्या

उच्चारण करता हुआ यदि भगवद्धामको ही प्राप्त हुआ तो जो श्रद्धासे भगवान्‌के नामका साक्षात् उच्चारण करता है उसके लिये तो कहना ही क्या है? ऐसा कथन होनेसे मृत्युकालकी अविवक्षा स्पष्ट ही है। श्रद्धाका भी मुक्तिके ही लिये विधान है; पापक्षयमात्रके लिये नहीं; इसमें 'अगाद्धाम' (भगवद्धामको चला गया) यह वचन ही प्रमाण है। और वह श्रद्धा—

"हे पुत्र! यदि [भगवान् शिवमें तुम्हारी] श्रद्धा है तो उनके विषयमें सन्देहयुक्त वचन नहीं कहना चाहिये [बल्कि यह दृढ निश्चय रखना चाहिये कि] सबके परमकारण भगवान् शिव सबसे उत्कृष्ट हैं।"

इत्यादि वचनोंद्वारा बताये हुए लक्षणोंवाली [अर्थात् परमात्माको ही विषय करनेवाली] है, वह कीर्तन-विधिको विषय बनानेवाली नहीं है; क्योंकि 'श्रद्धा कीर्तनके फलमें उपकारक होती है [अतः कीर्तनमें श्रद्धा होना नितान्त आवश्यक है]'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म्रियमाणता, कीर्त्तनोत्तरकालमप्यवस्थानप्रतिपादनात्; तस्य च तावतैव पापक्षयप्रतिपादनादविवक्षित एव मरणकालः। "नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति" इत्यत्रापि विवशसाहचर्यादसुविगमो न विवक्षितः, न हि विवशत्वं विधीयते; तद्वदसुविगमोऽपि। ततश्चासुविगमेऽपीत्यर्थः, न पुनरसुविगम एवेति। एवं 'मरणे हरिमुच्चरेत्' इत्यत्रापि मरणेऽपि हरिशब्दमुच्चरेदिति व्याख्येयं

इस बातका खण्डन किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त अजामिलकी मुक्तिमें भी मृत्युकालकी प्रधानता नहीं है; क्योंकि कीर्तनके बाद भी कुछ दिनोंतक उसके जीवित रहनेका कथन है और कीर्तनमात्रसे ही उसके पापोंके नष्ट हो जानेका प्रतिपादन किया गया है; इससे सिद्ध होता है कि मृत्युकाल अविवक्षित ही है। "जो लोग प्राण-त्यागके समय भी विवश होकर हरि-नामका उच्चारण करते हैं" इस वाक्यमें भी 'विवश' शब्द [अविवक्षित है और उसी] के साहचर्य (साथ होने) से प्राणत्यागका समय भी विवक्षित नहीं है। जैसे 'विवश होनेपर ही कीर्तन करना चाहिये' इस प्रकार विवशताकी विधि नहीं है उसी प्रकार 'प्राणत्यागका समय होनेसे ही कीर्तन मोक्षका साधक होता है; अतः वह आवश्यक है' ऐसी विधि भी नहीं है। इसलिये 'नामानि येऽसुविगमे' इस श्लोकमें आये हुए 'असुविगमे' इस शब्दका 'प्राणत्यागके समयमें भी' यही अर्थ है, 'प्राणत्यागके समयमें ही' ऐसा अर्थ नहीं है। इसी प्रकार 'मरणे हरिमुच्चरेत्' इस वाक्यकी भी 'यदि मरणकालमें भी 'हरि' का उच्चारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समानविषयत्वात् । तत्सालोक्यादिफलेषु पुनरुपासनेष्वन्त्यप्रत्ययोऽभ्यर्हितः, "यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति" इति श्रुतेः । ततश्च—

प्रयाणकाले मनसाचलेन
बुद्ध्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

इत्यादिषु विवक्षित एव कालः ।

करे' यही व्याख्या करनी चाहिये; क्योंकि पूर्व वाक्यके समान ही इसका भी विषय है। [इस प्रकार नामकीर्तनमें तो मृत्युकाल अविवक्षित है] परन्तु भगवत्सालोक्य आदि फल देनेवाली उपासनाओंमें अन्त्य (मरणकाल) की प्रतीति उत्तम मानी गयी है; इस विषयमें "पुरुष इस संसारमें जैसे संकल्पवाला होता है वैसा ही यहाँसे परलोकमें जानेपर भी होता है" यह श्रुति प्रमाण है। इसलिये—

"वह योगी मरण-कालमें अविचल मन, बुद्धि और योगबलसे युक्त हो प्राणको दोनों भौंहोंके बीचमें स्थिर करके उस दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त कर लेता है।"

इत्यादि वचनोंमें काल विवक्षित ही है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देशकालवैशिष्ट्यप्रतिपादकवचनानां पुरश्चरणादिकर्माङ्गत्वम्

ये पुनर्ग्रहणादयः कालविशेषाः पर्वताग्रादयश्च देशविशेषास्तत्र तत्रोक्तास्ते पुरश्चरणादिकर्माङ्गभूताः । पुरश्चरणं च मन्त्राणां संस्कारकम्, आधानमिवाग्नीनाम् । संस्कृतानां च तेषामैहिकामुष्मिकफलसाधनेषु कर्मसु विनियोग इति तत्रैवोपयोगस्तेषां न तु पापक्षयायोपयोग इति ।

प्रत्याहारादिधर्माणां कीर्तनाङ्गत्वनिरासः

ये च प्रत्याहारादयो धर्माः—

मनःसंहरणं शौचं मौनं मन्त्रार्थचिन्तनम् ।
अव्यग्रत्वमनिर्वेदो जपसंपत्तिहेतवः ॥

किन्तु जो ग्रहण आदि कालविशेष और पर्वतशिखर आदि देशविशेष ग्रन्थोंमें यत्र-तत्र कहे गये हैं वे पुरश्चरण आदि कर्मोंके अंगभूत हैं। जैसे विधिपूर्वक किया हुआ अग्न्याधान अग्निका संस्कारक होता है उसी प्रकार पुरश्चरण भी मन्त्रोंका संस्कारक है। संस्कारयुक्त हो जानेपर उन मन्त्रोंका ऐहिक और पारलौकिक फलके साधक कर्मोंमें विनियोग होता है, इसलिये उनका वहाँ ही उपयोग है, पापक्षयके लिये उनका उपयोग नहीं है।

"मनःसंयम, शौच (पवित्रता), मौन, मन्त्रार्थचिन्तन, अव्यग्रता (स्थिरता) और अनिर्वेद (खेदका अभाव)—ये जप-सिद्धिके हेतु हैं।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादिशास्त्रोक्ताः, तेऽपि न जपमात्रोपयोगिनः, तत्संपत्तिहेतुत्वाभिधानात् । संपत्तिश्च विशिष्टेष्टप्राप्तिसाधनत्वलक्षणा; तस्यां चोपयुज्यन्त एव ते । पापक्षयः पुनः कीर्त्तनादेवेति पटहघोषः पुराणानाम् ।

अथ वा जपस्यैवैते धर्मा न तु कीर्त्तनस्य; अन्यो हि जपोऽन्यच्च कीर्त्तनं भिन्नविषयत्वात्तयोः । तत्र मन्त्रोच्चारणं जपः,

---

इत्यादि शास्त्रोंमें बतलाये हुए जो प्रत्याहार (मनोनिग्रह) आदि धर्म हैं, वे भी केवल जपमात्रके ही लिये उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि उन्हें जपकी सिद्धिका कारण कहा गया है और अत्यन्त उत्तम मनोरथ (मोक्ष) की प्राप्तिका साधन होना ही जपकी सिद्धि है, उसमें वे प्रत्याहारादि धर्म उपयोगी होते ही हैं। [मोक्षके लिये तो आवृत्ति, श्रद्धा, मनोनिग्रह, आदि सभीकी उपयोगिता हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु पापक्षयमात्रके लिये इनकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि] पापक्षय तो कीर्तनमात्रसे ही हो जाता है—यह बात पुराण ढिंढोरा पीट-पीटकर कहते हैं।

अथवा ये जपके ही धर्म हैं, कीर्तनके नहीं। जप दूसरी वस्तु है और कीर्तन दूसरी वस्तु; क्योंकि उन दोनोंके विषय भिन्न-भिन्न हैं। उनमें मन्त्रोच्चारणको जप कहते हैं और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामोच्चारणं तु कीर्त्तनम्, मन्त्रोऽपि नाम स यः स्वरादिविशिष्टो देवताप्रकाशको वर्णसमुदायः; विशिष्टदेवतावाचकं तु पदमात्रं नाम।

क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्।

इत्यत्र तु कीर्त्तनमेव जपशब्देनोच्यते संबुद्ध्यन्तत्वाद्वासुदेवशब्दस्य। श्रीमद्द्वादशाक्षरविवक्षायां हि चतुर्थ्यन्तेन तेन भवितव्यम्। न तु जपगता एव धर्मा देवतासामान्यात्कीर्त्तनेऽतिदिश्यन्ते; श्रीविष्णुधर्मे—

नामोच्चारण कीर्तन कहलाता है। मन्त्र भी वही है जो स्वर आदिसे विशिष्ट एवं देवताका प्रकाशक वर्णसमुदाय (वैदिक मन्त्र) रूप हो और किसी विशिष्ट देवताका वाचक पदमात्र नाम कहलाता है।

क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्।

यहाँ 'जप' शब्दसे कीर्तन ही कहा जाता है; क्योंकि इसमें वासुदेव शब्द सम्बोधन है। [यदि कहें, 'वासुदेव' यह पद द्वादशाक्षरमन्त्रका बोधक है, तो ठीक नहीं; क्योंकि] श्रीद्वादशाक्षरमन्त्रकी विवक्षा होनेपर तो वासुदेव शब्दका ['वासुदेवाय' इस प्रकार] चतुर्थ्यन्त निर्देश होना चाहिये। यदि कहा जाय, जप और कीर्तनमें एक ही देवता होनेसे जपके [मनःसंयमादि] धर्म ही कीर्तनमें आरोपित कर लिये जाते हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि श्रीविष्णुधर्ममें—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चक्राङ्कितस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत् ।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः ॥

इति देशकालशौचानामनपेक्षणीयत्वप्रतिपादनादेव केवल-श्रुतिविरोधाच्च ।

क्वचिच्छ्रूयमाणधर्माणां मोक्षसाधनकीर्तनाङ्गत्वम्

ननु कीर्त्तनेऽपि श्रूयन्ते धर्माः—

नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको
निर्द्वन्द्व ईक्षितपथो मितभुक् प्रशान्तः ।

"सुदर्शन-चक्र जिनका चिह्न है, ऐसे भगवान् विष्णुके नामका सदा ही सर्वत्र कीर्तन करे, उनके कीर्तनमें कभी अशौच (अपवित्रता) नहीं रहता; क्योंकि वे स्वयं ही सबको पवित्र करनेवाले हैं।"

इस प्रकार देश, काल और शौच आदिकी अपेक्षा न रखनेका ही प्रतिपादन किया गया है तथा अन्य धर्मोंका आरोप करनेपर केवल शब्दके श्रवणसे भी विरोध होता है [अर्थात् 'केवल कीर्तन ही पापक्षयका साधक है' इत्यादि कथनसे विरोध पड़ता है; क्योंकि अन्य धर्मोंका आरोप होनेपर वे भी पापक्षयमें सहायक समझे जायँगे, केवल कीर्तन ही नहीं]।

पूर्वपक्षी—कीर्तनमें भी तो [सहकारी] धर्मोंका श्रवण होता है। यथा—

"यदि भगवान् अच्युतमें मन स्थिर न रहता हो तो मिताहारी होकर, [एकान्तमें] अकेले रहकर, नींदको

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यद्यच्युते भगवति स्वमनो न सज्जे-
न्नामानि तद्रतिकराणि पठेदलज्जः ॥

इति । सत्यं श्रूयन्ते; ते तु मोक्षसाधनस्य कीर्त्तनस्याङ्गभूताः, न पुनरघविघातकस्य; यद्यच्युते मनो न सज्जेदिति समाधेरनुकूलत्वेन कीर्त्तनस्य विधानात्, समाधेश्च मोक्षफलत्वेन प्रसिद्धेः ।

कीर्तनस्य ज्ञानद्वारकमोक्षसाधनत्वसमर्थनम्

ननु कीर्त्तनं क्रिया, न च क्रियासाधनो मोक्षः, तस्य श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणागमयुक्तिभिर्ज्ञानैकोपायत्वेनाचार्यैरवधारितत्वात् ।

जीतकर, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे विचलित न होकर अपने मार्गका ज्ञान रखते हुए शान्तभावसे भगवान्‌में प्रेम बढ़ानेवाले नामोंका निस्संकोच होकर कीर्तन करे।"

सिद्धान्ती—हाँ, सचमुच ही कीर्तनमें [सहकारी] धर्मोंका श्रवण होता है, किन्तु वे धर्म मोक्षके साधनभूत कीर्तनके अङ्ग हैं, पापनाशक कीर्तनके नहीं; क्योंकि 'यदि अच्युतमें मन स्थिर न रहता हो तो' ऐसा कहकर समाधिके अनुकूल कीर्तनका विधान किया गया है और समाधिका फल मोक्ष है—यह प्रसिद्ध ही है।

पूर्वपक्षी—कीर्तन तो क्रिया है, क्रिया मोक्षका साधन नहीं हो सकती; क्योंकि आचार्योंने श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, आगम और युक्तियोंसे यही निश्चय किया है कि मोक्षके लिये एकमात्र ज्ञान ही साधन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ज्ञानसाधनत्वमेव तस्य मोक्षसाधनत्वम्, अत एव समाधेः कार्य्ये विधानम्, न हि समाधिरपि मोक्षसाधनम्, किं तर्हि ? ज्ञानसाधनमेव, तदपि न साक्षाच्छ्रवणवत्, अपि तु प्रतिबन्ध-निरासद्वारेण, एवं कीर्त्तनमपि ।

कीर्तनतो मोक्षोपलब्धौ क्रमनिरूपणम्

तत्रायं क्रमः—कीर्त्तनात् पापक्षयः, तदावृत्त्या तद्विषयाणां वासनानां प्रचयः, अपचयश्च पापवासनानाम्; ततो भगवज्जनसेवा-सातत्यम्, ततस्तदुपवर्णितमहिमनि भगवति पुण्यश्लोकशेखरे भगवती

सिद्धान्ती—कीर्तन भी ज्ञानका साधन होकर ही मोक्षका साधन है, इसीलिये समाधिके कार्य (फलस्वरूप) ज्ञानमें साधनरूपसे उसका विधान है। समाधि भी मोक्षका साधन नहीं है, तो किसका है ? ज्ञानका ही साधन है, वह भी श्रवणकी भाँति ज्ञानका साक्षात् साधन नहीं है बल्कि ज्ञानके प्रतिबन्धक विघ्नोंको दूर करनेके द्वारा ही उसका साधन है। इसी प्रकार कीर्तन भी है।

वहाँ (कीर्तनसे मोक्ष होनेमें) यह क्रम है—एक बारके कीर्तनसे पापका क्षय होता है, कीर्तनकी आवृत्ति करनेसे कीर्तनविषयक वासनाओंकी वृद्धि और पाप-वासनाओंका ह्रास होता है, इसके पश्चात् भगवान्‌के भक्तजनोंकी सेवामें निरन्तर लगन होती है, फिर उन (भक्तजनों) के द्वारा वर्णन की हुई महिमासे युक्त भगवान् पुण्यश्लोकशिरोमणिमें सौभाग्यशालिनी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नैष्ठिकी भक्तिः, ततः शोकादीनामत्यन्तोच्छेदः, ततः सत्त्वस्य परमोत्कर्षः, ततस्तत्त्वसाक्षात्कारः, ततो मुक्तिरिति । अयमर्थः श्रीभागवते सविस्तरमुपवर्णितः; तत्र तत्रोक्तं च भगवता—

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।

इति । तत्र श्रुतिशिरःसिद्धान्तं यस्य श्रुतवतोऽपि कुतश्चित्प्रतिबन्धात्तत्त्वज्ञानमुत्पन्नमपि निमीलितमिव, तस्य भगवद्भक्तिरुक्तया रीत्या प्रतिबन्धं निरुध्य तत्त्वज्ञानमुन्मीलयति, यः पुनरश्रुतवेदान्त-

---

नैष्ठिकी भक्तिका उदय होता है, उससे शोक आदिका अत्यन्त नाश हो जाता है। तत्पश्चात् सत्त्वगुणकी अत्यधिक मात्रामें वृद्धि होती है, फिर तत्त्वका साक्षात्कार और उसके बाद मुक्ति हो जाती है। यह विषय भागवतमें विस्तारके साथ वर्णित है और उन-उन प्रसङ्गोंमें भगवान्‌ने यह भी कहा है कि—

"मेरा भक्त इसे जानकर मेरे स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।"

वहाँ [ऐसी व्यवस्था है] वेदान्त-सिद्धान्तका भलीभाँति श्रवण कर लेनेके बाद भी किसी प्रतिबन्धक दोषके कारण जिसका ज्ञान प्रकट होकर भी ढँका-सा रहता है उसके लिये भगवद्भक्ति पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिबन्धकको हटाकर तत्त्वज्ञान प्रकाशित कर देती है। परन्तु जो वेदान्त-सिद्धान्तका श्रवण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्त एव जगदेकनियन्तुर्निर्यन्त्रणदयामृतमहार्णवस्य महाविष्णोः प्रह्लादहृदयसुधासरित्पतिपर्य्यङ्कशायिनः श्रीनृसिंहस्य नामानि निरन्तरमावर्तयति; तस्य भगवान् स्वयमेव देहावसानसमये संसारतारकमात्मज्ञानमनुगृणाति। श्रूयते हि तापनीये—

"देहान्ते देवः परं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे इति तान् प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्देवं स्तुध्वं ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति च।"

किये विना ही जगत्के एकमात्र नियन्ता, निर्बाध करुणारूप अमृतके महासागर तथा प्रह्लादके हृदयरूपी सुधासागरकी शय्यापर शयन करनेवाले नृसिंहस्वरूप भगवान् महाविष्णुके नामोंकी निरन्तर आवृत्ति करता है उसको देहावसानके समय स्वयं भगवान् ही संसारतारक आत्मज्ञानका उपदेश करते हैं। नृसिंहतापनीयोपनिषद्में ऐसी श्रुति है—

"देहत्यागके समय भगवान् तारक परब्रह्मका उपदेश करते हैं—ऐसा उन देवताओंके प्रति ब्रह्माजीने कहा; तुम सब इन मन्त्रोंसे भगवान्की स्तुति करो, इससे वे प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका दर्शन देते हैं। जो पुरुष इन मन्त्रोंसे नित्य ही भगवान्की स्तुति करता है, वह उनका साक्षात्कार करता है और उसे अमृतपद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है तथा जो इस प्रकार जानता है उसे भी उक्त फलकी प्राप्ति होती है।"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अत्र च 'स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति' इत्येतावदुपजीव्यते; जपकीर्तनयोः साधारण्यात्, साधारण्यं च प्रसिद्धमेव। तथा हि—'स्तुतः प्रीतो भवति' इति स्वात्मनि परत्र च दृष्टमेव, प्रीतश्च स्वात्मानं दर्शयेदेव, अवञ्चनरसत्वात् प्रेम्णः।

सर्वैर्नामभिर्मन्त्रैर्वा भगवतः स्तवनकीर्तनयोः श्रुतिसम्मतत्वम्

स्तुतिस्तु श्रीमन्मन्त्रराजेन मन्त्रान्तरैर्वा नामभिर्वा, नाम्नां च सर्वेषामेव श्रुतिसंमतत्वात्।

यहाँ कीर्तनमें भी "स्तुति करनेपर भगवान् प्रसन्न होते और अपने स्वरूपका दर्शन देते हैं" यह बात लागू होती है; क्योंकि जप और कीर्तनके फलमें समानता है; और वह समानता प्रसिद्ध ही है। [भगवान् स्तुतिसे प्रसन्न होकर दर्शन देते हैं—] इसी बातको [लोकदृष्टान्तद्वारा] स्पष्ट करते हैं—जिसकी स्तुति की जाती है वह प्रसन्न होता है—यह अपनेमें और दूसरेमें भी देखा ही गया है तथा जो प्रसन्न होता है वह अपने स्वरूपका दर्शन देता ही है; क्योंकि प्रेम वह रस है जिसमें वञ्चना (धोखा) के लिये स्थान नहीं है।

भगवान्की स्तुति श्रीमन्त्रराज (द्वादशाक्षर) से, अन्य मन्त्रोंसे अथवा केवल नामोंसे भी हो सकती है, क्योंकि भगवान्के सभी नाम श्रुतिसम्मत हैं। [इस विषयमें]—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्त्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

इति श्रूयते । दीर्घतमसो वाक्यमेतत्; अस्यार्थः—उकारः छन्दःपूरणार्थः, हे जानन्तः स्वार्थकुशला जनास्तं देवम्, अस्ति कश्चिदीश्वर इत्याबालगोपालप्रसिद्धम्, पूर्व्यं पुरातनं सर्वस्याधिष्ठान-मधिष्ठातारं च; ऋतस्य गर्भम् उपनिषदस्तज्जन्यज्ञानस्य वा जठरे वर्त्तमानम् औपनिषदसिद्धान्तसिद्धयाथात्म्यं स्तोतारः—श्रौतै-

---

तमु स्तोतारः पूर्व्यं यथा विद
ऋतस्य गर्भं जनुषा पिपर्तन ।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन
महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे ॥

—ऐसी श्रुति है । यह मन्त्र दीर्घतमाका वचन है । इसकी व्याख्या इस प्रकार है—['तमु' इस पदमें] उकार छन्दःपूर्तिके लिये है । हे जाननेवाले—स्वार्थकुशल लोगो ! 'कोई ईश्वर है' इस प्रकार जो बच्चों और ग्वालोंतकमें प्रसिद्ध हैं, तथा जो पूर्व्य—पुरातन अर्थात् सबके अधिष्ठान एवं अधिष्ठाता हैं, इसी प्रकार जो ऋतके गर्भ हैं यानी उपनिषद् अथवा उससे होने-वाले ज्ञानके उदरमें (भीतर) वर्तमान हैं, तात्पर्य यह कि उपनिषद्के सिद्धान्तसे जिनके यथार्थ स्वरूपकी सिद्धि होती है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्तान्त्रिकैः पौराणिकैः पौरुषेयैर्वा स्तुध्वमिति विपरिणामः, न चैवमेव स्तोतव्यमिति कश्चिदस्ति नियमः, यथा विद सथा जानीथ तथा स्तुध्वं मन्त्रैः स्तुध्वमिति भावः । ततश्च जनुषा पिपर्त्तन, छान्दसस्तनबादेशः कर्मकर्त्तृव्यत्ययश्च, जनुषा जन्मना पिपर्त्तन पिपृत पूर्यध्वं जन्मनः पूर्त्तिं प्राप्नुत जन्मानि समापयतेति भावः । अथ

उन देव (परमेश्वर) की तुमलोग वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक अथवा पौरुषेय वचनोंसे स्तुति करो । यहाँ [क्रियाका विधिसूचक अर्थ होनेके कारण] 'स्तोतारः' के स्थानमें 'स्तुध्वम् (स्तुति करो)' इस प्रकार विपरिणाम (परिवर्तन) कर लेना उचित है । पूर्वोक्त प्रकारसे उनकी [महिमाका वर्णन करते हुए ही] स्तुति करनी चाहिये—ऐसा नियम नहीं है; तुमलोग भगवान्को जैसा समझते हो—जैसा जानते हो, उसी प्रकार स्तवन करो—वैसे ही मन्त्रोंद्वारा स्तुति करो—यह तात्पर्य है। 'जनुषा पिपर्तन' यहाँ ['थ' प्रत्ययके स्थानमें] वैदिक प्रक्रियाके अनुसार 'तनप्' आदेश हुआ है और कर्म तथा कर्ताका व्यत्यय भी हुआ है* । भाव यह है कि उक्तरूपसे स्तवन करके तुमलोग जन्मसे पूर्ण हो जाओ—अपने जन्मकी पूर्णता लाभ करो अर्थात् अपने जन्मको समाप्त कर डालो [अब पुनः न जन्म लेना पड़े, मुक्त हो जाओ] । अथवा 'तं देवं

* अर्थात् कर्ताका कर्मके रूपमें प्रयोग हुआ है और कर्मका करणके रूपमें; तथा कर्ताका निर्देश ही नहीं हुआ है । होना तो यह चाहिये कि 'युष्माभिः जनुः पूर्यताम् (तुमलोग जन्मको पूर्ण (समाप्त) कर लो)' किन्तु है इस प्रकार—'यूयं जनुषा पूर्यध्वम् (तुम जन्मद्वारा स्वयं पूर्ण हो जाओ) ।'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चा तं देवं जनुषा पिपर्त्तन स्वच्छन्दचरितेन बहुविधेन जन्मना पूरयत मत्स्याद्यवतारैरन्वितं वर्णयतेत्यर्थः । अथैवमपि वयं स्तोतुमसमर्थाः, अस्य भगवतः श्रीमन्नामाप्याविवक्तन सदा कीर्त्तयत 'हे विष्णो व्यापक ते महः प्रकाशं त्वत्स्वरूपप्रकाशिकां सुमतिं शोभनां मतिं भजामहे' इति । अत्रापि व्यत्ययः 'भजामहै' इति । ब्रह्मविद्यामाशासानाः कीर्त्तयतेत्यर्थः ।

जनुषा पिपर्तन' उन परमेश्वरको स्वतन्त्रतापूर्वक स्वीकार किये हुए नाना प्रकारके जन्मों (अवतारों) से पूर्ण करो; तात्पर्य यह कि मत्स्य आदि अवतारोंसे युक्त उन भगवान्का वर्णन (गुणगान) करो । [यदि ऐसा समझो कि] हम इस प्रकार भी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो उन भगवान्के श्रीयुक्त नामोंका ही सदा कीर्तन किया करो; [तथा कीर्तन करते समय ऐसा सङ्कल्प करो कि] 'हे विष्णो !—हे व्यापक परमेश्वर ! हम आपके महः—प्रकाशको अर्थात् आपके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाली सुमति—सुन्दर बुद्धिको धारण करें ।' भाव यह हुआ कि ब्रह्मविद्याकी आशा रखते हुए कीर्तन करो । यहाँ ('भजामहे' इस क्रियामें) भी [लोट् लकारका लट् लकारके रूपमें] व्यत्यय हुआ है, अर्थके अनुसार 'भजामहै' होना चाहिये ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ततश्चापवर्गफलकज्ञानसाधनत्वमेवापवर्गसाधनत्वं कीर्तनस्य । मन्त्रोऽप्ययं विधायको भविष्यति ।

विधिशक्तिर्न मन्त्रस्य नियोगेनापनीयते ।
स्वतो विधास्यति ह्येष नियोगात् स्मारयिष्यति ॥

इति न्यायेन ।

नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतकानि श्रुतिपुराणवचनानि

एवमन्येऽपि नाममन्त्रस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वद्योतका मन्त्राः सन्त्यनेकशः—

इससे यह सिद्ध हुआ कि मोक्ष ही जिसका फल है ऐसे ज्ञानका साधन होकर ही कीर्तन मोक्षका साधन है । [यहाँ यह शंका होती है कि यह श्रुतिवाक्य तो कर्ममें विनियुक्त मन्त्र है, यह विधि (कर्तव्यमें नियुक्त करनेवाला) कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—] यह श्रुति-वाक्य यद्यपि मन्त्र है तथापि—

"किसी कर्ममें विनियोग होनेसे मन्त्रकी विधि-शक्ति दूर नहीं की जा सकती; यह मन्त्र स्वतः तो विधायक होगा और विनियोग होनेसे विधिका स्मरण करानेवाला होगा ।"

इस न्यायके अनुसार विधायक हो सकता है* ।

इसी प्रकार नाम-मन्त्रको ही पुरुषार्थका साधन प्रमाणित करनेवाले और भी अनेकों मन्त्र हैं—

---

* जैसे 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत' यह श्रुतिवाक्य मन्त्र भी है और विधि भी ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्य नाम"। "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि"। "भूरि नाम मनामहे"। इत्यादयः। तेषां च तैस्तैरसाधारणैः 'अमृतानां प्रथमस्य' इत्या-

---

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम"* "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि"† "भूरि नाम मनामहे"‡ इत्यादि। [यदि कहें, 'ये उपर्युक्त मन्त्र भगवद्विषयक ही हैं' इसमें क्या प्रमाण है? तो इसका उत्तर देते हैं—ये सभी मन्त्र जहाँ पढ़े गये हैं, वहाँका प्रकरण देखनेपर] 'अमृतानां प्रथमस्य'§ इत्यादि विशेष लिङ्गोंसे

---

* मन्त्रार्थ—देवताओंमेंसे किस सर्वश्रेष्ठ देवताके उत्तम नामका हम उच्चारण करें।

† मन्त्रार्थ—हे स्वतन्त्र यशवाले प्रभो! मैं सदा ही आपके नामका कीर्तन करता हूँ।

‡ मन्त्रार्थ—हम [मरणशील मनुष्य आप अविनाशी परमेश्वरके] नामका बार-बार उच्चारण करते हैं।

§ "कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" इत्यादि प्रथम मन्त्रके भगवद्विषयक होनेमें उसके बादवाले मन्त्रका "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम् (अमरोंमें प्रथम अग्नि (परमात्मा) के [नामोंका] हम उच्चारण करते हैं)" यह प्रथम चरण ही लिङ्ग (हेतु) है। इसी प्रकार दूसरे और तीसरे मन्त्रके अन्य अंश भी उनके भगवद्विषयक होनेमें प्रमाण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaqtion by eGangotri

दिभिर्लिङ्गैर्भगवद्विषयत्वम् 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इति न्यायेन। पुरुषार्थ-साधनत्वं च नाम्नो ज्ञानद्वारेणैवाभिप्रेतं पूर्वेण समानार्थत्वात्। पुराणवाक्यं च—

ज्ञात होता है कि ये मन्त्र 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' * इस न्यायके अनुसार [जैसे आकाश शब्द 'ब्रह्म' अर्थका बोधक माना जाता है उसी प्रकार] भगवद्विषयक हैं। नामको भी ज्ञानके द्वारा ही पुरुषार्थ-साधक मानना अभीष्ट है; क्योंकि पूर्वोक्त [तमु स्तोतारः इत्यादि] मन्त्रके समान ही इन मन्त्रों-का भी अर्थ है। [नाम-मन्त्रको पुरुषार्थ-साधक बतानेवाला] पौराणिक वचन भी है—

---

* इसका अर्थ यह है—आकाश ब्रह्म है; क्योंकि आकाशके ब्रह्म-वाचक होनेमें लिङ्ग (प्रमाण) है। इस न्यायका स्पष्टीकरण यों है—"अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच" (इस लोककी गति क्या है? इसके उत्तरमें कहा 'आकाश है') इस मन्त्रमें आया हुआ आकाश शब्द ब्रह्मका वाचक है क्योंकि इस विषयमें निम्नाङ्कित मन्त्र लिङ्गभूत है—"सर्वाणि ह भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते" (सभी भूत आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं)। यह निश्चय है कि ब्रह्म ही समस्त विश्वकी गति है और ब्रह्मसे ही सभी भूतोंकी उत्पत्ति होती है, इसलिये उपर्युक्त मन्त्रोंमें 'आकाश' शब्द ब्रह्मबोधक माना गया है। इसी प्रकार 'अमृतानां प्रथमस्य' (देवताओंमें प्रथम देवका) इस कथनसे प्रथम देव परमेश्वरका ही बोध होता है, अतएव "कस्य नूनम्" इत्यादि मन्त्र भगवद्विषयक ही हैं। इसी प्रकार अन्य मन्त्रोंको भी उनके विशेष लिङ्गोंसे भगवद्विषयक समझना चाहिये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यावज्जीवं प्रणवमथ वावर्त्तयेद्रुद्रियं वा
याजुर्वेदं वसतिमथ वा वारणस्यां विदध्यात् ।
हित्वा लज्जां कलिमलकुलच्छेदकानीरयेद्वा
विष्णोर्नामान्यनिशममृतत्वाप्तिरेषा चतुर्धा ॥

इति । वाराणसीवासस्य तारकब्रह्मबोधद्वारेणामृतत्वप्राप्तिसाधनत्वं काशीखण्डादिषु प्रसिद्धम्, तत्समभिव्याहारादनुकीर्तनस्यापि तद्वदेवेति । एवं चामृतत्वसाधनस्य कीर्त्तनस्य धर्मा गतभीत्वादयो न

"जबतक जीवे प्रणव (ॐकार) का जप करे, अथवा यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायीका पाठ करे, या काशीमें निवास करे अथवा लज्जा छोड़कर भगवान् विष्णुके कलिमलनाशक नामोंका निरन्तर कीर्तन करे—ये अमृतत्व-प्राप्तिके चार प्रकार (उपाय) हैं।"

काशीका निवास तारक ब्रह्मके ज्ञानद्वारा अमृतत्व-प्राप्तिका साधक है—यह बात [पद्मपुराणान्तर्गत] काशी-खण्ड आदिमें प्रसिद्ध है। उसके साथ उक्त होनेसे आवृत्त कीर्तन भी उसीकी भाँति (ज्ञानद्वारा ही) अमृतत्व-प्राप्तिका साधक है। इसी प्रकार ['नक्तं दिवा च गतभीर्जितनिद्र एको' इस श्लोकमें कहे हुए] निर्भयत्व आदि भी अमृतत्वसाधक कीर्तनके ही धर्म हैं, पापक्षयके साधनभूत कीर्तनके नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पापक्षयसाधनस्य । पापक्षयस्तु यथाकथंचिज्जिह्वाङ्गनमागतान्नाममात्रादेवेति । अत एव सौरपुराणे निरन्तरं हननापहारादिषु प्रवृत्तस्यापरानपि तत्रैव प्रवर्तयितुमाहर प्रहर संहरेति व्याहरतो व्याडिनाम्नो व्याधस्य पदान्तरावयवत्वेन प्रसङ्गागतादपि हरशब्दात् सर्वाघसंहारो वर्णितः, तदभ्यासाहितात्संस्कारप्रचयादनन्तरजन्मनि तत्त्वज्ञानमपि वर्णितम् ।

नामकीर्तनस्येतिकर्तव्यतादिनिरपेक्षत्वेऽपि विधित्वसमर्थनम्

ननु यदि न काचिदितिकर्तव्यता कीर्त्तनस्य कथं विधानम् ?

पापक्षय तो जिस-किसी प्रकारसे भी जिह्वापर आये हुए नाममात्रसे ही हो जाता है। इसीसे सौरपुराणमें—निरन्तर हत्या और चोरीमें लगे रहनेवाले तथा दूसरोंको भी उन्हीं कर्मोंमें लगानेके लिये 'आहर (हर लाओ) प्रहर (मारो) संहर (संहार कर डालो)' इत्यादि कहते हुए व्याडिनामक व्याधके मुँहमें अन्य शब्दके अवयवरूपसे प्रसङ्गवश आये हुए भी 'हर' शब्दके उच्चारणसे समस्त पापोंके संहारका वर्णन किया गया है। और उस 'हर' शब्दके उच्चारणकी आवृत्तिसे उत्पन्न संस्कारकी वृद्धि होनेके कारण दूसरे जन्ममें उस व्याधको तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति हुई—इस बातका भी वर्णन मिलता है।

पूर्वपक्षी—यदि कीर्तनकी कोई इतिकर्तव्यता (इस प्रकार करना चाहिये—ऐसी विधि) नहीं है तो उसका विधान ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"अङ्गप्रधानवत्यां भावनायां युगपत्पुरुषनियोगः" इति शाबरभाष्यम्, भट्टवार्त्तिकं च—

किमाद्यपेक्षितैः पूर्णः समर्थः प्रत्ययो विधौ ।
इति ।

क्यों हुआ ? शाबर-भाष्यमें भी कहा है—'अङ्ग-प्रधानवती भावनामें [अर्थात् अमुक फलकी सिद्धिके लिये प्रधान उपाय क्या है ? और उस प्रधान उपायको काममें लानेके लिये उसके साथ सहकारी या अङ्ग (अप्रधान) साधनके रूपमें और क्या-क्या कर्तव्य है ? इस विचारमें] पुरुषकी एक ही साथ प्रवृत्ति होती है ।' भट्टका वार्तिक भी इसी बातको स्पष्ट करता है—

"किम् (किस फलके उद्देश्यसे ?) केन (किस साधनसे ?) और कथम् (किस प्रकार [यज्ञादि कर्म करे ?])—इन शब्दोंसे अपेक्षित जो [फल, करण (मुख्य साधन) तथा इतिकर्तव्यता (सहकारी या अप्रधान साधन)] के अंश हैं उनसे पूर्ण जो विधिसूचक लिङ् लोट् आदि प्रत्यय है वही [यजेत (यज्ञ करे)] इत्यादि रूपसे विधि (आज्ञा देने) में समर्थ होता है ।"*

---

* जैसे 'यजेत (यज्ञ करे)' इस विधिमें प्रश्न होते हैं कि 'किमुद्दिश्य यजेत ? केन यजेत ? कथं यजेत ? (किस फलके उद्देश्यसे ? किस साधनसे और किस प्रकार यजन करे ?)' इन प्रश्नोंका क्रमशः उत्तर यों है—स्वर्गमुद्दिश्य यजेत, विश्वजिता यजेत, शास्त्रोक्तेतिकर्तव्यतया यजेत (स्वर्गादि फलके उद्देश्यसे, 'विश्वजित्‌नामक यज्ञसे और शास्त्रोक्त प्रकारसे यजन करे)' इस प्रकार स्वर्गादि फल, विश्वजित् साधन और शास्त्रोक्त इतिकर्तव्यताके अंशोंसे पूर्ण लिङादि प्रत्ययान्त 'यजेत' आदि वचन विधि (आज्ञा देने) में समर्थ है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

सत्यवदनादीनामिवेति ब्रूमः, न हि तत्र किञ्चिदङ्गमुपदिश्यते, नाप्यतिदेष्टुं शक्यते, तल्लिङ्गाभावात् । न चैतावता प्रतीयमानो विधिरपलपितुं शक्यते, तथेहापि भविष्यति ।

ननु तत्रापि लौकिकं किञ्चिदुपकारकमस्त्येव सर्वथैवानुपकृतत्वे तु तत्रापि विधानं नाभविष्यदेव ?

सिद्धान्ती–इसके उत्तरमें हम इतना ही निवेदन करते हैं कि जिस प्रकार सत्य-वादन आदिका विधान है उसी प्रकार कीर्तनका भी है। ['सत्यं ब्रूयात्' इत्यादि वचनोंमें] जहाँ सत्य बोलनेका उपदेश है, वहाँ [ऐसे बोलना चाहिये— इत्यादि रूपसे] किसी अंग (इतिकर्तव्यता) का उपदेश नहीं है और न अन्यत्र यज्ञादिमें कहे हुए उस अंगका यहाँ अतिदेश (आरोप) ही किया जा सकता है; क्योंकि आरोप करनेका कोई कारण नहीं है। परन्तु इतनेहीसे [अर्थात् इतिकर्तव्यता आदिका उपदेश न होनेमात्रसे] स्पष्ट प्रतीत होनेवाली सत्यवादनकी विधिका अपलाप नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार यहाँ कीर्तनके सम्बन्धमें होगा।

पूर्वपक्षी–सत्यभाषण आदिमें भी कुछ लौकिक उपकारक हैं ही, उपकारक सामग्रीसे सर्वथा शून्य होनेपर तो वहाँ भी सत्यभाषणादिके निमित्त विधान नहीं होता ?*

१–सत्यवादन आदिके लिये विधि-वाक्य ये हैं—"सत्यं ब्रूयाद्धैर्यं कुर्याद प्राङ्मुखोऽन्नान्यश्नीत" (सच बोले, धैर्य धारण करे और पूर्वाभिमुख होकर अन्न भोजन करे)।

* जैसे सत्य बोलनेमें देखी-सुनी हुई बातोंका ठीक-ठीक स्मरण करके जिह्वाद्वारा व्यक्त करना आदि लौकिक व्यापार ही उपकारक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इहापि तर्हि मनोवाक्कायस्थानानामन्योन्यसंयोगो लौकिक एवोपकारको भविष्यति येन विना शब्दोच्चारणमेव न संभवति, अथ वा किमस्माकं विध्यन्तरसाधर्म्यसमर्थनेन ? ईदृश एवायमपूर्वो विधिः स्वरूपकथनं वा, प्रमाणान्तरानवगतं कीर्त्तनस्य पापक्षयसाधनत्वमबाधितमवगम्यमानमपह्नोतुं न शक्नुमः ।

कीर्तनीयानां भगवन्नाम्नां समस्तानां व्यस्तानां वोक्तं
सामर्थ्यमिति विचारे पूर्वपक्षः

ननु किं समस्तानामेव भगवन्नाम्नामेतादृशं सामर्थ्यमुत

सिद्धान्ती–यदि ऐसी बात है तो यहाँ भी मन, वाणी और शरीरके स्थानोंका परस्पर संयोगरूप लौकिक व्यापार ही उपकारक होगा, जिसके विना शब्दका उच्चारण ही नहीं हो सकता। अथवा 'दूसरी विधियोंमें जिस प्रकार सहायक धर्म हैं उसी प्रकार कीर्तनमें भी हैं' इस वातका समर्थन करनेसे हमें क्या प्रयोजन है ? यह कीर्तन इसी रूपमें अपूर्वविधि अथवा स्वरूप-कथन है। 'कीर्तन पापक्षयका साधन है' यह बात शब्दातिरिक्त किसी अन्य प्रमाणसे ज्ञात नहीं है; तथा किसी अन्य प्रमाणसे बाधित भी नहीं है अतः शास्त्रोंद्वारा ज्ञात होती हुई इसकी साधनताको हम अस्वीकार नहीं कर सकते ।

पूर्वपक्षी–क्या सम्पूर्ण भगवन्नाम मिलकर ही इतने सामर्थ्यशाली हैं या प्रत्येक अलग-अलग भी ? सब मिलकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यस्तानामपि ? न तावत्समस्तानामेव, अवशेनेत्यादिविधिना विरोधात्, न ह्यवशेन समस्तानामुच्चारणं संभवति। अथ व्यस्तानाम्, तत्रापि किं सर्वेषामेव ? उत केषांचिदेव ? तत्र यदि सर्वेषामपि, नरकसृष्टेरानर्थक्यं प्रसज्येत; न ह्यजातिबधिरस्य कस्याप्येतत्सं-भाव्यते यन्नामसहस्रमध्ये किञ्चिदपि कदाचिदपि कथंचिदपि न शृणोति न गृह्णाति। अपि च यदि सर्वेषां समानं सामर्थ्यम्, एकेनैव पुरुषार्थसिद्धेरन्येषामानर्थक्यं प्रसज्ज्येत। अन्यच्च समानमहिम्नां

ही हैं—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर 'अवशेनापि यन्नाम्नि···(विवश होकर भी जिनका नाम उच्चारण करनेपर)' इत्यादि विधिसे विरोध होता है; जो विवश है उससे समस्त नामोंका उच्चारण होना सम्भव नहीं है। यदि अलग-अलग नामोंका भी सामर्थ्य मानें तो भी यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या सभी नामोंमें पृथक्-पृथक् इतना सामर्थ्य है या कुछहीमें ? इनमें यदि सभी नामोंमें सामर्थ्य मानें तो नरक-निर्माणकी व्यर्थताका प्रसङ्ग आ जाता है, क्योंकि जो जन्मसे वहरा नहीं है—ऐसे किसीके लिये भी यह सम्भावना नहीं की जा सकती कि वह सहस्रों नामोंमेंसे किसीको भी कभी भी और किसी प्रकार भी नहीं सुन सकेगा और न उच्चारण ही कर सकेगा। इसके अतिरिक्त यदि सभी नामोंका बराबर ही सामर्थ्य है तो एकहीसे पुरुषार्थकी सिद्धि हो जानेसे अन्य नामोंके निरर्थक होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। इतना ही नहीं, एक समान महिमावाले वहुतसे नामोंका

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाम्नां समाहारे तन्महिम्नामपि समाहारादेकस्य श्रीरामनाम्नो नामसहस्रसाम्याभिधानं नावकल्पते, न हि प्रदीपसहस्रस्य यावान् प्रकाशस्तावानेकस्य प्रदीपस्य भविष्यति। सामर्थ्यस्य च वैषम्ये तु भवत्येव, यावत् खलु खद्योतसहस्रस्य तेजस्तावदेकस्यापि प्रदीपस्य। अथ केषांचिदेव, तर्हि—

सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
यच्चाभिरुचितं नाम तत्सर्वार्थेषु योजयेत्॥

इति श्रीविष्णुधर्मगतवचनविरोधः, अन्येषामानर्थक्यं च तदवस्थमेवेति।

समाहार होनेपर उनकी महिमाओंका भी समाहार हो सकता है, ऐसी दशामें एक ही श्रीरामनामको सहस्र नामोंके समान वतलाना भी नहीं वन सकता। एक हजार दीपकोंका जितना प्रकाश होगा उतना ही प्रकाश एक दीपकका नहीं हो सकता। हाँ, यदि न्यूनाधिक सामर्थ्य हो तब तो हो ही सकता है। जैसे हजार खद्योतोंका जितना प्रकाश है उतना एक दीपकका भी हो सकता है। यदि कुछ ही नामोंका सामर्थ्य अधिक मानें तो—

"सर्वार्थशक्तिसम्पन्न देवदेव भगवान् चक्रपाणिका जो ही नाम रुचिकर प्रतीत हो उसीका सभी पुरुषार्थोंकी सिद्धिके निमित्त [कीर्तनादिद्वारा] उपयोग करे।"

इस श्रीविष्णुधर्मके वचनसे विरोध होता है और अन्य नामोंके अनर्थक होनेका दोष भी ज्यों-का-त्यों ही रहता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तत्र सिद्धान्तः

अत्राभिधीयते—सर्वेषामपि भगवन्नाम्नां प्रत्येकमेतादृशं सामर्थ्यम्। न च नरकसृष्टेरानर्थक्यं दग्धेऽपि कथंचित्प्राचीने पाप्मनि तदुत्तरकालभाविभिरंहोभिर्महदवमानैश्च नरकपातस्यापि संभवात्। न चावृत्तिगुणकमेव कीर्त्तनं सर्वस्यापि भविष्यतीति कश्चिदस्ति नियमः। अत एव भरतदेवस्यापि ऋषभदेवेनानुगृहीत-स्यापि प्रतिबद्धापरोक्षानुभवत्वादन्तरायैरत्यन्तसमुच्छिन्नभगव-दुपासनत्वाच्च तदुत्तरकालभाविना मृगासक्तिरूपेण कर्मणा निकृष्ट-

---

सिद्धान्ती—इस विषयमें [सिद्धान्तमत] बतलाते हैं—भगवान्के सभी नामोंमेंसे प्रत्येकका ही ऐसा सामर्थ्य है। [ऐसा माननेसे] नरककी सृष्टि भी निरर्थक नहीं होगी; क्योंकि प्राचीन पापके किसी प्रकार दग्ध हो जानेपर भी उसके बाद होनेवाले पापोंसे और महात्माओंके अनादरसे नरकमें गिरना भी सम्भव है। [यदि कहें, कीर्तनकी आवृत्ति कर लेनेसे कोई भी नरकमें नहीं गिरेगा; अतः नरक-सृष्टि व्यर्थ ही है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि] सबके द्वारा कीर्तन-की आवृत्ति ही होगी—ऐसा नियम नहीं है। अतएव जिनपर भगवान् ऋषभदेवका अनुग्रह भी हो चुका था उन राजा भरतको भी अपना प्रत्यक्ष अनुभव विघ्नसे आवृत्त हो जानेके कारण तथा विक्षेपोंके द्वारा भगवान्की उपासना उच्छिन्न हो जानेसे उसके बाद होनेवाले मृगासक्तिरूप कर्मके

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

देहारम्भः, अथ वा मृगत्वमपि तज्जातिस्मरणवैराग्यभूतदयादिगुणोपेतत्वान्मोक्षानुकूलमेवेति न तदारम्भकस्य कर्मणो निवृत्तौ प्रयतते भक्तिः। जयविजययोश्च वैकुण्ठवासिनोरपि ब्रह्मविदवमानादधःपतनम्, ब्रह्मविदवमानजनितं हि दुरितं दुरत्ययं भगवदुपासनेनापि भगवद्भक्तावमानजनितं च। प्रपञ्चितं चैतत्तृतीयस्कन्धे—

सोऽहं भवत्समुपलब्धसुतीर्थकीर्ति-
श्छिन्द्यां स्वबाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम्।

द्वारा निकृष्ट [मृग-] देहकी प्राप्ति हुई। [यदि कहें, भजनकी आवृत्तिसे वह आसक्ति दूर क्यों नहीं हुई? तो इसका उत्तर देते हैं-] अथवा उनकी मृग-योनि भी पूर्वजन्मकी स्मृति, वैराग्य और जीवदया आदि गुणोंसे युक्त होनेके कारण मोक्षके अनुकूल ही थी, इसलिये उसके आरम्भक कर्मकी निवृत्तिके निमित्त भक्तिने प्रयत्न ही नहीं किया। [महात्माओंका अपमान करनेसे भी नरक-प्राप्ति होती है] वैकुण्ठधाममें निवास करनेवाले जय और विजयका ब्रह्मज्ञानी सनकादिकोंके अपमानसे अधःपतन हुआ था। ब्रह्मज्ञानियों तथा भगवद्भक्तोंके अपमानसे होनेवाले पापसे तो भगवान्‌की उपासनाद्वारा भी उद्धार पाना कठिन है। [श्रीमद्भागवतके] तृतीय स्कन्धमें—

"आप-जैसे महात्माओंसे ही जिसको परम पवित्र यश प्राप्त हुआ है वही मैं विष्णु आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाली अपनी भुजाओंको भी काट सकता हूँ [इन पार्षदोंको दण्ड देनेकी तो बात ही क्या है?]"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इत्यादिना। नवमे चाम्बरीषोपाख्याने—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥

इत्यादिना। वेनस्य तु भगवन्निन्दाप्रतिबद्धसामर्थ्यं सकृत्कीर्त्तनमावर्त्यमानमपि न पापक्षयायालम्, शिशुपालादीनां पुनर्निर्भरवैरानु-

---

इत्यादि वचनोंद्वारा तथा नवम स्कन्धके अम्बरीषोपाख्यानमें भी—

"हे द्विजवर दुर्वासाजी! मैं परतन्त्र-सा होकर अपने भक्तोंके अधीन रहता हूँ। मैं भक्तजनोंका परमप्रिय हूँ, मेरे प्यारे साधु भक्तोंने मेरे हृदयको वशीभूत कर लिया है।"

इत्यादि वचनोंद्वारा इस प्रसङ्गका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। [यदि कहें राजा वेनने भी तो निन्दाके व्याजसे भगवान्‌के नामोंकी आवृत्ति की थी, उसकी सद्‌गति क्यों नहीं हुई? तो इसका उत्तर देते हैं–] वेनने [भगवान्‌की निन्दा करते समय] जो एक बार कीर्तन किया वही भगवान्‌की निन्दासे हतवीर्य (प्रभावहीन) हो गया, अतएव निन्दाके लिये ही भगवान्‌के नामकी बार-बार आवृत्ति करनेपर भी वह नाम पापक्षयके लिये पर्याप्त नहीं हुआ* [यदि ऐसी बात है, तो शिशुपालकी मुक्ति क्यों हुई? इसका उत्तर यों है—] शिशुपाल आदिको तो अत्यन्त

---

* इसके अतिरिक्त वेनने महात्माओंका अपमान भी किया था, महात्माओंके अपमानजन्य पापसे भगवान्‌की उपासनाद्वारा भी उद्धार पाना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बन्धपरिकल्पितसंपदः समाधेरिव निन्दादोषस्यापि दग्धत्वात् पुरुषार्थप्राप्तिरिति स्वयमेव सप्तमाद्ये समर्थितं श्रीशुकेन ।

यदप्युक्तम्—एकेनैव पुरुषार्थसिद्धेरन्येषामानर्थक्यमिति, तदप्ययुक्तम्, पुरुषभेदेन सर्वेषामपि पुरुषार्थसाधनत्वोपपत्तेः ।

वैरानुबन्धके कारण भगवान् श्रीकृष्णमें चित्तकी तन्मयतारूप सम्पत्ति प्राप्त हो गयी थी, जो समाधिके समान ही थी, अतः उससे निन्दादोषके भी दग्ध हो जानेके कारण उसको पुरुषार्थकी प्राप्ति हो गयी—इसका समर्थन श्रीमद्भागवतमें सप्तम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें स्वयं श्रीशुकदेवजीने ही किया है ।

और जो यह कहा था कि 'एक नामसे ही पुरुषार्थकी सिद्धि हो जानेसे अन्य नाम निरर्थक हो जायँगे' वह भी ठीक नहीं है; क्योंकि पुरुषभेदसे सभी नामोंकी पुरुषार्थसाधनता सिद्ध हो जायगी [अर्थात् भिन्न-भिन्न पुरुष अपनी विभिन्न रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न नामोंका कीर्तन करेंगे इस प्रकार सभी नाम विभिन्न पुरुषोंके उपयोगमें आ सकते हैं; अतः वे व्यर्थ नहीं हो सकते] ।

कठिन है—यह पहले बता आये हैं । इसलिये वेनको उस पापका दण्ड मिलना आवश्यक था; साथ ही निन्दा-व्याजसे किये हुए कीर्तनका भी फल उसे मिला ही । स्वयं भगवान्ने उसके शरीरसे पृथुरूपमें प्रकट होकर उसका नरकसे उद्धार करके 'पुत्र' कहलाना सार्थक किया ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यत्तु समानमहिम्नां समाहारे तत्तन्महिम्नामपि समाहारान्नैकस्य तादृशो महिमेति, तदपि परिच्छिन्नप्रभावेषु प्रदीपादिषु घटते, न पुनर्निरङ्कुशमहिमसु भगवन्नामसु । न खलु चिन्तामणीनां निचयस्य, एकस्य वा चिन्तामणेः, कल्पशाखिनां वनस्य, एकस्य वा कल्पशाखिनः, कामधेनूनां यूथस्य, एकस्या वा कामधेनोः कश्चिदस्ति विशेषः ।

फिर जो कहा था कि 'समान महिमावाले नामोंका समाहार होनेपर उनकी महिमाओंका भी समाहार होनेसे एक [श्रीरामनाम] की हजार अन्य नामोंके समान महिमा नहीं हो सकती' वह कथन भी परिच्छिन्न (परिमित) प्रभाववाले दीपक आदिमें ही संघटित हो सकता है, निरंकुश (अपरिमित) महिमावाले भगवान्‌के नामोंमें नहीं । चिन्तामणिका समूह या एक चिन्तामणि, कल्पवृक्षोंका वन या एक कल्पवृक्ष और कामधेनुओंका समुदाय अथवा एक कामधेनु हो—इनके प्रभावमें कोई अन्तर नहीं होता * ।

---

* चिन्तामणि, कल्पवृक्ष या कामधेनु—इनमेंसे किसीके भी निकट रहनेसे समस्त मनोरथोंकी पूर्ति होती है । एक चिन्तामणि, एक कल्पवृक्ष या एक कामधेनु हो तो भी सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि होती है और यदि ये हजारोंकी संख्यामें हों तो भी सम्पूर्ण कामनाओंकी सिद्धि होती है, इनके अधिक या कम होनेपर फलमें कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

समाहृतानामुच्चारणमपि नानर्थकं संस्कारप्रचयहेतुत्वाद् एकस्यैवोच्चारणप्रचयवत् । तस्माच्छ्रद्धाभक्तिज्ञानवैराग्याभ्यासदेशकालविशेषादिनिरपेक्षं भगवन्नामकीर्त्तनमेव महदवमानातिरिक्तमप्रारब्धं प्राचीनमंहः सर्वमेव संहरति। आवर्त्यमानं पुनर्दुर्वासनाविध्वंसद्वारेण श्रद्धाभक्तिवैराग्यज्ञानान्युत्पादयदपवर्गसाधनम्, प्रारब्धपापनिवर्त्तकं च कदाचिदुपासकेच्छावशात् । महदवमानस्य तु भोग एव निवर्त्तकस्तदनुग्रहो वा, न पुनरन्यत् किञ्चिदिति स्थितम् ।

जैसे एक ही नामके उच्चारणसे संस्कारकी वृद्धि होती है, उसी प्रकार एक ही समय सभी सम्मिलित नामोंका उच्चारण भी संस्कारवृद्धिका हेतु होनेके कारण निरर्थक नहीं है। इसलिये श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, अभ्यास (आवृत्ति) तथा विशेष देश-काल आदिकी अपेक्षा न रखता हुआ केवल एक बार किया हुआ भगवन्नाम-कीर्तन ही महात्माओंके अनादरके अतिरिक्त सभी प्राचीन अप्रारब्ध (सञ्चित) पापोंका नाश कर देता है और आवृत्ति करनेपर तो वह दुर्वासनाका विध्वंस करनेके द्वारा श्रद्धा, भक्ति, वैराग्य और ज्ञानका उत्पादन करता हुआ किसी समय उपासककी इच्छावश मोक्षका साधक और प्रारब्ध पापका निवर्तक भी होता है। परन्तु महात्माजनोंके अपमानरूप पापको तो उपभोग अथवा उन महात्माओंका अनुग्रह ही निवृत्त कर सकता है, दूसरा कोई साधन नहीं—यह सिद्धान्त निश्चित हुआ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मार्तप्रायश्चित्तवैयर्थ्याशङ्कानिरसनम्

नन्वेवं पुराणार्थे परिगृह्यमाणे स्मृतीनामत्यन्तबाध एव स्यात्, न च तदुचितम्; पुराणैरेव तदर्थस्याप्यङ्गीकारात् ।

तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानव्रतादिभिः ।

इत्यादिभिः ।

तत्र समाधिः—एकत्रैव प्रवृत्तिनियमोऽन्यत्र प्रवृत्तिं प्रति-

पूर्वपक्षी—इस प्रकार पुराणार्थ गृहीत होनेपर तो स्मृतियों-का अत्यन्त बाध* ही हो जायगा और ऐसा होना उचित नहीं है; क्योंकि पुराणोंने ही—

"वे उन पापोंका तप, दान और व्रत आदिसे शोधन करते हैं।"

इत्यादि वचनोंके द्वारा स्मृत्यर्थकी प्रामाणिकता भी स्वीकार की है।

सिद्धान्ती—यहाँ यह समाधान है—किसी एक ही कार्यमें प्रवृत्ति होनेका नियम करना ही अन्यत्र होनेवाली प्रवृत्तिको रोकता है, किन्तु कीर्तनमें प्रवृत्तिका नियम

---

* पुराणोंमें 'एक बार भगवान्‌का नाम लेनेमात्रसे ही समस्त पापोंका नाश हो जाता है' इसीका बार-बार प्रतिपादन किया गया है। और स्मृतियोंमें पापक्षयके लिये द्वादशाब्दादि प्रायश्चित्त बतलाया गया है; अतः सुलभ नाम-कीर्तनको छोड़कर कौन दुःसाध्य प्रायश्चित्त करेगा—इसलिये स्मृतिके बाधका प्रसंग आ सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बध्नाति, न च कीर्त्तने प्रवृत्तिनियमः; अश्रद्धोपहतत्वात् प्रायेण पुरुषबुद्धीनाम्, साङ्केत्यनिबन्धना प्रवृत्तिर्न नियन्तुं शक्यते; तस्मादस्त्येवावकाशः स्मृतीनाम् । दृश्यते च सुकरदुष्करयोर्विकल्पो वैद्यकेषु तत्र च किञ्चित्सुकरमपि कस्मैचित्स्वभावादेव न रोचते, अतस्तदर्थं दुष्करमपि चिकित्सान्तरं विधीयते; तद्वदिहापि दुर्वारदुर्वासनावासितचेतसः प्रायेण पराङ्मुखा एव पुरुषोत्तमात्पुरुषाः; तदर्थं प्रायश्चित्तान्तरविधानम् ।

नहीं किया गया है [अर्थात् 'व्रत आदि न करके केवल कीर्तन ही करे' ऐसा नहीं कहा गया है]; क्योंकि मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः अश्रद्धासे दूषित होती है, अतः पुत्र आदिके नाम या परिहास आदिके व्याजसे ही उनकी नाम-कीर्तनमें प्रवृत्ति होती है, किन्तु ऐसी प्रवृत्तिके लिये [यही होना चाहिये] ऐसा नियम नहीं किया जा सकता; इस कारण स्मृतिके लिये भी अवकाश है ही [उसका अत्यन्त बाध नहीं होता]। वैद्यकग्रन्थोंमें सुकर और दुष्कर चिकित्साओंमें विकल्प देखा ही जाता है, पर वहाँ कोई सुकर चिकित्सा भी किसीको स्वभावसे ही अच्छी नहीं मालूम होती, अतः उसके लिये दूसरी चिकित्सा दुष्कर होनेपर भी की जाती है। उसी प्रकार यहाँ भी दुर्वार दुर्वासनासे वासित चित्तवाले पुरुष प्रायः भगवान् पुरुषोत्तमसे विमुख ही होते हैं; अतः उन्हींके लिये [कीर्तनके अतिरिक्त] अन्य प्रायश्चित्तोंका विधान है । [इस प्रकार नामकीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तमेंसे किसीमें भी रुचिके अनुसार वैकल्पिक प्रवृत्ति मानना ही उत्तम है]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्मार्तपौराणयोर्विकल्पस्य प्रतिपादनम्

अत्र यत् कैश्चिदुच्यते—एकापूर्वप्रयुक्तमनेकमेकं दृष्टमुपकारं कुर्वद् विकल्प्यते यथा व्रीहियवादयः, स्मार्त्तपौराणयोः पुनरपूर्व-भेदाददृष्टार्थत्वाच्च न विकल्प इति। तत्र च वक्तव्यम्—विकल्प-निराकरणेन किमनयोः समुच्चयः ? साध्यते किं वा व्यवस्था ? किं वान्यतरस्यासाधनत्वम् ? समुच्चयव्यवस्थे तावन्निराकृते, अन्यतरस्या-साधनत्वेऽपि तावन्नामकीर्त्तनस्य नासाधनत्वं तत्परत्वात्पुराणानाम्, अतः स्मार्त्तस्यासाधनत्वमेव परिशिष्यते, न च तस्याप्यसाधनता,

---

यहाँ कुछ लोग जो ऐसा कहते हैं कि एक ही अपूर्वद्वारा प्रयुक्त अनेक साधन जब एक ही दृष्ट उपकार (प्रत्यक्ष प्रयोजनकी सिद्धि) करते हैं तो उनमें विकल्प हुआ करता है, जैसे ['व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत' इत्यादिमें] व्रीहि अथवा यव आदि विकल्पसे गृहीत होते हैं। परन्तु स्मार्त और पौराणिक कर्मोंके अपूर्वमें भेद होनेसे तथा उनके अर्थ (कार्य) अदृष्ट होनेसे उनमें विकल्प मानना ठीक नहीं—सो उसमें हमें यह कहना है कि क्या आप विकल्पका निराकरण करके समुच्चयका साधन करते हैं या व्यवस्थाका ? अथवा दोनोंमेंसे किसी एककी असाधनता स्वीकार करते हैं ? समुच्चय और व्यवस्थाका तो हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं। यदि दोनोंमेंसे किसी एकको असाधन स्वीकार करना हो तो भी [हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते हैं कि] नामकीर्तन असाधन नहीं हो सकता; क्योंकि पुराणोंका तात्पर्य उसीको साधन बतलानेमें है। अतः स्मार्त प्रायश्चित्त-की ही असाधनता शेष रह जाती है, परन्तु उसमें भी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एकापूर्वप्रयुक्तानामेव विकल्प इति नियमाभावात्, लौकिकानामश्वशिबिकादीनामपि गमने विकल्पदर्शनाद्, भावार्थभेदेऽपि दाहच्छेदादीनां चिकित्सायाम्। न च दृष्टार्थानामेव विकल्पः, अदृष्टार्थयोरपि ग्रहणाग्रहणयोस्तद्दर्शनात्। अथ तत्र विरुद्धसमुच्चयायोगाद्विकल्पस्तर्हीहापि निरपेक्षसाधनसमुच्चयायोगाद्विकल्प एव।

अपि च—अनेकापूर्वप्रयुक्तानामपि क्रममुक्त्यर्थानां शाण्डिल्यदहरादिविद्यानां विकल्पो दृश्यते, न च वाचनिकोऽसाविति

असाधनता है नहीं; क्योंकि एक अपूर्वद्वारा प्रयुक्त विधियोंमें ही विकल्प होता है; ऐसा नियम नहीं है। यात्रा करनेके लिये अश्व और शिविका आदि लौकिक साधनोंमें भी विकल्प देखा जाता है तथा दाह और छेदनके उपकारमें भेद होनेपर भी चिकित्सामें दाह और छेदन आदिका विकल्प होता है। यह भी नियम नहीं है कि दृष्टार्थोंका ही विकल्प होता है, जिनका अर्थ दृष्ट नहीं है ऐसे ग्रहण और अग्रहणरूप* कार्योंमें भी विकल्प दृष्टिगोचर होता है। यदि कहें, वहाँ तो परस्पर विरुद्ध कार्योंका समुच्चय हो नहीं सकता, इसलिये विकल्प है तो यहाँ (नामकीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तोंमें) भी निरपेक्ष-सापेक्ष साधनोंका समुच्चय अयुक्त है; अतः विकल्प ही होता है।

इसके अतिरिक्त अनेक अपूर्वद्वारा प्रयुक्त होनेपर भी क्रममुक्तिकी साधनभूत शाण्डिल्य और दहर आदि विद्याओं† का विकल्प देखा जाता है। यदि कहें वह वाचनिक विकल्प

---

* 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' इन वाक्योंमें आये हुए ग्रहण तथा अग्रहण दृष्टार्थ नहीं हैं तथापि इनमें विकल्प होता है।

† शाण्डिल्य-विद्या और दहर-विद्याका छान्दोग्योपनिषद्में वर्णन किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाच्यं वादीनामश्रवणात्, तस्मात्तुल्यार्थत्वमेव विकल्पे प्रयोजकं नान्यत् । न च दर्शपौर्णमासज्योतिष्टोमादिसाध्यस्वर्गभेदवदेकस्य पापस्य विनाशव्यक्तिभारोऽस्ति, येन ब्रह्महा द्वादशाब्दानि चरेद्

है [अर्थात् वहाँ विकल्पका स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया है, इसलिये विकल्प स्वीकार किया जाता है] तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ [विकल्पबोधक] 'वा' आदि पदोंका श्रवण नहीं होता है। इसलिये तुल्यार्थत्व (एक ही प्रयोजनका साधक होना) ही विकल्पमें प्रयोजक है; अन्य हेतु प्रयोजक नहीं है। दर्शपौर्णमास और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंद्वारा साध्य स्वर्गमें जिस प्रकार भेद होता है उस प्रकार एक ही पापके विनाशमें व्यक्ति-भेद होनेकी आपत्ति नहीं है जिससे 'ब्रह्म-हत्यारा द्वादशाब्द प्रायश्चित्तका आचरण करे, ब्रह्म-

---

१. यहाँपर यह शङ्का होती है कि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी इच्छावाला दर्श और पूर्णमास यज्ञोंद्वारा यजन करे) 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' (स्वर्गकी कामनावाला पुरुष ज्योतिष्टोमके द्वारा यजन करे) ये वचन यद्यपि एक ही स्वर्गके साधक हैं तथापि इनमें विकल्प नहीं है, अतः तुल्यार्थता विकल्पकी प्रयोजिका कैसे मानी जा सकती है ? यदि कहो, वहाँ एक स्वर्ग नहीं है बल्कि दर्श-पूर्णमासके द्वारा स्वर्गमात्रकी प्राप्ति और ज्योतिष्टोमके द्वारा स्वर्ग-साम्राज्यकी प्राप्ति होती है, इस प्रकार वहाँ फलमें भेद है, तो यहाँ भी पापक्षय एक ही नहीं है, भिन्न-भिन्न है, ऐसी स्थितिमें विकल्प नहीं हो सकता । इसी शङ्काका उत्तर देनेके लिये 'दर्शपौर्णमास' आदि आगेकी पङ्क्ति है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ब्रह्महा हरिं कीर्त्तयेदित्यनयोरपि भिन्नत्वाद् विकल्पः। तस्माद-बाधितार्था एव स्मृतयः। न चाविदुषः कर्मानुष्ठानायोगवदकृताधानस्योत्तरक्रतुकरणायोगवच्चाकृतभगवत्कीर्त्तनस्य प्रायश्चित्तान्तरासंभवः, येन विद्वद्वाक्यवत् 'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति'

हत्यारा हरिकीर्तन करे' इन वाक्योंमें भेदनिमित्तक विकल्प माना जाय। [तात्पर्य यह कि यज्ञोंद्वारा साध्य स्वर्गमें विभिन्नता है, परन्तु यहाँ एक ही पापका क्षय करनेके लिये कीर्तन और स्मार्त प्रायश्चित्तका विधान है; अतः तुल्यार्थता ही यहाँ भेद प्रयोजक है]। इसलिये स्मृतियोंका अर्थ (प्रयोजन) अबाधित ही है। जो कर्मानुष्ठानकी विधिको नहीं जानता उसके लिये [शक्ति न होनेके कारण] कर्मानुष्ठान जिस प्रकार असम्भव है और जिसने अग्निका आधान नहीं किया है उसके लिये [अग्निकाअभाव होनेके कारण] उत्तर याग-का अनुष्ठान जिस प्रकार असम्भव है उस प्रकार जिसने भगवत्कीर्तन नहीं किया है उसके लिये अन्य प्रायश्चित्तोंका अनुष्ठान असम्भव नहीं है जिससे विद्वद्वाक्यके* समान अथवा "पूर्णाहुतिसे सब कामनाओंकी प्राप्ति कर लेता है।"

---

* तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद (जो अश्वमेधद्वारा यजन करता है, अथवा जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्यासे उद्धार पा जाता है) इस वाक्यमें 'य उ चैनमेवं वेद' इतना अंश विद्वद्वाक्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति वाक्यवद्वा कीर्त्तनविषयाणामपि वाक्यानामानर्थक्यादर्थवादत्व-माश्रीयेत । तस्माद्यथाश्रुत एवार्थः पुराणवचनानामुदाहृतानामिति ।

अस्य प्रकरणग्रन्थस्य प्रयोजननिरूपणम्

ननु यदि विनैव श्रद्धां कीर्त्तनादेव पापक्षयस्तर्हि किमस्य प्रकरणस्य प्रयोजनम् ? अनेन हि श्रद्धैव साध्यते ।

इस वाक्यके समान कीर्तनविषयक वाक्योंको भी उनकी व्यर्थताकी आशङ्कासे अर्थवाद मान लिया जाय *। अतः उदाहरण दिये हुए पौराणिक वचनोंका यथाश्रुत (जैसा सुना जाता है वह) अर्थ ही [ठीक] है ।

पूर्वपक्षी–यदि विना श्रद्धाके ही कीर्तनसे पापक्षय होता है तो इस प्रकरणका प्रयोजन ही क्या है ? इससे श्रद्धाका ही तो साधन होता है ।

---

* यहाँ ऐसी शंका की गयी थी कि 'जो अश्वमेधको जानता है वह ब्रह्महत्यासे मुक्त हो जाता है' तथा 'पूर्णाहुतिसे सब कामनाओंको प्राप्त कर लेता है' इन दोनों वाक्योंमें अश्वमेधज्ञानको ब्रह्महत्याकी निवृत्तिका कारण मानना और पूर्णाहुतिको कामनाप्राप्तिका साधन बतलाना—ये दोनों बातें जिस प्रकार अर्थवाद मानी गयी हैं उसी प्रकार कीर्तनमात्रसे पापक्षयका प्रतिपादन भी अर्थवाद ही क्यों न मान लिया जाय ? इसीका उत्तर मूलमें 'न चाविदुषः…' इत्यादि वाक्यद्वारा दिया गया है । भाव यह है कि उक्त उदाहरणोंमें अश्वमेध-ज्ञान अश्वमेधयज्ञका अङ्ग है, यदि उसके ज्ञानमात्रसे ही वह फल मिल जाय तो उस महान् दुष्कर यज्ञमें किसीकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, ऐसी दशामें यज्ञानुष्ठान व्यर्थ सिद्ध होगा। इसी प्रकार यदि पूर्णाहुतिमात्रसे ही सारी कामनाएँ मिल जायँ तो कौन अग्निका आधान करनेमें प्रवृत्त होगा ? अतः उन स्थलोंपर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सत्यम्, अपगतेऽपि पापे मनोगतमश्रद्धानिबन्धनं दुःखं न निवर्तते, ततस्तदपगमलक्षणाय मनःसमाधानाय प्रकरणमेतदिति प्रकरणस्य प्रयोजनम्, तस्मात्सर्वमनवद्यम् ।

ग्रन्थान्ते मङ्गलाचरणम्

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा-
माचण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक है, परन्तु [विना श्रद्धाके ही कीर्तन करनेसे] पाप निवृत्त हो जानेपर भी अश्रद्धाजनित मानसिक सन्ताप दूर नहीं होता; इसलिये उस अश्रद्धाजनित मानसिक दुःखको दूर करनेके हेतु मनका समाधान करनेके लिये ही यह प्रकरण है—इस प्रकार प्रकरणका प्रयोजन सिद्ध होता है; अतः [इसमें जो कुछ कहा गया] सब समीचीन है ।

यह रामनामरूपी मन्त्र शुद्धचेता महात्माओंके चित्तको [हठात्] अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला तथा बड़े-से-बड़े पापोंका मूलोच्छेद करनेवाला है । मोक्षरूपिणी लक्ष्मीके लिये तो यह वशीकरण ही है । इतना ही नहीं, यह केवल गूँगोंको

यज्ञ और आधानकी सफलताके लिये उनके अङ्गभूत ज्ञान और पूर्णाहुतिकी महिमा बतलानेवाले वाक्योंको अर्थवाद मान लेना ठीक है, परन्तु यहाँ नामकीर्तन-वाक्य न तो स्मार्त प्रायश्चित्तका अङ्ग है और न इससे स्मार्त प्रायश्चित्त व्यर्थ ही होता है, इसलिये इसे अर्थवाद नहीं माना जा सकता ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः ॥ १ ॥
श्रीरामेति जनार्दनेति जगतां नाथेति नारायणे-
त्यानन्देति दयाधरेति कमलाकान्तेति कृष्णेति च ।
श्रीमन्नाममहामृताब्धिलहरीकल्लोलमग्नं मुहु-
र्मुह्यन्तं गलदश्रुधारमवशं मां नाथ नित्यं कुरु ॥ २ ॥
यदङ्कमालोकितुमाशु धावतां
मुकुन्दयात्रोत्सवमीक्षितुं च यत् ।

छोड़कर चाण्डालसे लेकर उत्तम जाततकके सभी मनुष्योंके लिये सुलभ है। दीक्षा, दक्षिणा और पुरश्चरणका यह तनिक भी विचार नहीं करता, यह मन्त्र जिह्वाका स्पर्श करते ही सभीके लिये पूर्ण फलद होता है ॥ १ ॥

हे नाथ ! आप मुझे सदाके लिये ऐसी स्थितिमें पहुँचा दें कि मैं श्रीमान्के 'श्रीराम ! जनार्दन ! जगन्नाथ ! नारायण ! आनन्दमय ! दयाधर ! कमलाकान्त ! और कृष्ण !' आदि नामरूपी अमृतसे पूर्ण महासागरकी लहरोंकी हिलोरोंमें डूबकर आँसू बहाता हुआ विवश और बेसुध हो जाऊँ ॥ २ ॥

जो दूसरोंके बुरे कामोंको देखनेके लिये दौड़ते हैं और जो भगवान्की रथयात्राके उत्सवको देखनेके लिये दौड़ते हैं—इन दोनों प्रकारके मनुष्योंका अपने-अपने मार्गमें फिसल कर गिरना साधुपुरुषोंकी दृष्टिमें एक-सा ही नहीं है [अर्थात्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

न तच्च तच्च स्खलितं समं सता-
मतो न लज्जा स्खलतामपीह नः ॥ ३ ॥

अपि च—

सुरसरित इव महाचलगहनगुहाजाड्यजालभेदिन्याः ।
हरिचरणजन्मभूमेः स्खलितमपि कृतेरलङ्कृतिर्ननु नः ॥४॥

अथ वा—

पहलेका गिरना लज्जाजनक है और दूसरेका नहीं] । इसलिये [नाममाहात्म्य-निरूपण करनेमें] यदि हम भी गिरते हैं (कुछ भूल करते हैं) तो भी उसके लिये हमें लज्जा नहीं है ॥ ३ ॥

अपि च—

जिनकी जन्मभूमि भगवान्‌के चरण हैं, जो बड़े-बड़े पर्वतोंकी गहन गुफाएँ और मोहजालका भेदन करती हैं उन श्रीगंगाजीका स्खलन (नीचेकी ओर प्रवाहित होना) भी जिस प्रकार शोभाकी बात है उसी प्रकार जिसका आविर्भाव भगवान्‌के चरणोंसे ही हुआ है, और जो महान् पर्वतोंकी गहन गुफाओंके समान मोह-जालका भेदन करनेवाली है ऐसी हमारी कृति (भगवन्नामकौमुदी) का भी स्खलन (दोष) शोभाकी ही बात है ॥ ४ ॥

अथवा—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हरिभक्तिराजमार्गे गुरुपदनखचन्द्रिकाधौते ।
श्रुतिजननीपदपद्धतिमनुसरतां नः कुतः स्खलितम् ॥ ५ ॥

धर्मः संविद्विषयविरतिः सिद्धयश्चाणिमाद्या
यस्य श्रीमच्चरणनलिनद्वन्द्वपीठे लुठन्ति ।
यस्योन्मेषः सकलभुवनाम्भोजराजीनिमेषः
सोऽस्मत्स्वामी जयति जगतां मङ्गलं यस्य नाम ॥ ६ ॥

अपि च—

गुरुदेवके चरण-नखोंकी चन्द्रिकासे प्रकाशित भगवद्-भक्तिरूप पक्की सड़कपर माता श्रुतिके पीछे-पीछे चलते हुए हमारा स्खलन ही कैसे सम्भव है [अर्थात् हमसे दोष हो ही कैसे सकता है ?] ॥ ५ ॥

धर्म, ज्ञान, वैराग्य और अणिमा[1] आदि सिद्धियाँ, जिनके शोभायमान युगलचरणकमलोंकी पादुकाओंपर लोटती हैं, जिनके तृतीय लोचनका उन्मेष (खुलना) समस्त भुवनरूप पद्मसमूहके संकोच (नाश) का कारण है तथा जिनका (शिव) नाम जगत्‌के लिये मङ्गलरूप है उन मेरे स्वामी शङ्करजीकी सदा ही विजय है ॥ ६ ॥

---

१. अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व—ये आठ सिद्धियाँ हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वपादपङ्केरुहसीकरस्य
निमज्ज्य माहात्म्यमहार्णवे यः ।
दधौ पुनस्तं स्वयमेव मौलौ
स नो गुरुस्तत्कुलदैवतं नः ॥ ७ ॥

यदङ्घ्रिनखमण्डलाद्विगलितस्य पूर्वं पुन-
र्यदीयकवरीभरार्णवमुपेयुषः पाथसः ।
अशेषजगदंहसां किमपि नाम निर्णेजनं
दयामृतमहाम्बुधेः किमुत नाम तस्यैव तत् ॥ ८ ॥

जिन्होंने [विष्णुस्वरूपसे] अपने चरणारविन्दकी मकरन्दविन्दुरूपा श्रीगंगाजीकी महिमाके महासागरमें डूबकर स्वयं ही [शिवरूपसे] उन्हें अपने शिरपर धारण कर लिया, वे मेरे गुरुदेव ही मेरे कुलदेवता हैं । [इसमें गुरुके साथ हरि, हर और कुलदेवताका अभेद दिखलाया गया है] ॥ ७ ॥

[विष्णुरूपसे विराजमान हुए] जिन भगवान्‌के चरण-नखोंसे चूकर पुनः [सदाशिवरूपमें सुशोभित होनेवाले] जिन परमेश्वरके ही जटाजूटरूपी महासागरमें मिले हुए गंगाजलका 'गङ्गा' नाम भी यदि सम्पूर्ण संसारके पापोंको धो डालनेका अद्भुत साधन है तो साक्षात् उन करुणासुधा-सागर भगवान्‌का ही नाम पापक्षयका सर्वोत्तम साधन है, इसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ ८ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाधाय किञ्चिदपनीय न किञ्चिदन्तः
स्वात्मैव येन सुखसिन्धुरगाधबोधः ।
आविष्कृतः करुणया करवै किमस्य
तन्नाम्नि मग्नमिदमेव मनोऽस्तु पूजा ॥ ९ ॥

झटिति जगतामंहस्तूलं दहद्दहनो मह-
द्दहरकुहरध्वान्तं ध्वंसं नयन्नभसो मणिः ।
किरणलहरी चान्द्री चेतश्चकोरचमत्कृति-
र्भवतु भवतां नामज्योतिर्मुदे मदनद्रुहः ॥१०॥

जिन गुरुदेव अथवा परमेश्वरने मेरे अन्तःकरणमें किसी गुणका आधान और किसी दोषका मार्जन किये विना ही दयावश अगाधबोध एवं आनन्द-महासागररूप अपने आत्माको ही प्रकट कर दिया, उनकी मैं क्या परिचर्या करूँ ? उनके नाममें मग्न हुआ हमारा यह मन ही उनके लिये पूजनरूप हो ॥ ९ ॥

जो जगत्की पापमयी तूलराशि (रूईकी ढेरी) को अग्निके समान दग्ध करनेवाली है, महापुरुषोंके हृदयाकाशमें स्थित अज्ञानान्धकारको सूर्यके समान ध्वस्त करनेवाली है और चन्द्रमाकी किरण-लहरीके समान चित्तरूपी चकोरको चकित कर देनेवाली है वह मदन-दहन भगवान् शङ्करकी नाममयी ज्योति आपलोगोंको प्रसन्न करे ॥ १० ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इति श्रीमदनन्तानन्दरघुनाथपरमहंसपरिव्राजकाचार्य्यपादपद्मोपजीविनः श्रीमन्नृसिंहसूनोर्लक्ष्मीधरस्य कृतौ भगवन्नामकौमुद्यां नामकीर्त्तनस्य केवलस्यैव पुरुषार्थसाधनत्वप्रतिपादनं नाम तृतीयः परिच्छेदः ।*

नन्दानन्दकरं करम्बितकरं हैयङ्गवीनैर्नवैः
शोभामादधतं नवीनजलदे मीलत्सुधांशोः स्फुटम् ।
भक्तानां हृदयस्थितं सततमप्याभीरदृग्गोचरं
गोपालं भजतां मनो मम सदा संसारविच्छित्तये ॥
वद जिह्वे वद जिह्वे चतुरे श्रीराम रामेति ।
पुनरपि जिह्वे वद वद जिह्वे वद राम रामेति ॥

इस प्रकार परमहंस परिव्राजकाचार्य गुरुदेव श्रीमान् अनन्तानन्द रघुनाथजीके चरण-कमलोंके आश्रित रहनेवाले श्रीनृसिंहनन्दन लक्ष्मीधरकी कृति—भगवन्नामकौमुदीमें 'केवल नामकीर्तन ही पुरुषार्थका साधक है' इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेवाला तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।

जो नवीन माखनसे हाथ भरकर नन्दजीको आनन्द दे रहे हैं, नूतन मेघमें छिपते हुए चन्द्रमाकी स्फुट शोभाको धारण करते हैं, सदा अपने भक्तोंके हृदयमें रहते हुए भी व्रजके ग्वालोंको प्रतिदिन दृष्टिगोचर होते हैं उन भगवान् गोपालको मेरा मन अपने संसारबन्धनका उच्छेद करनेके लिये सदा ही भजे ।

अरी बुद्धिमती रसने ! तू 'श्रीराम-श्रीराम' कह, अरी जिह्वे ! तू बारंबार 'राम-राम' रटती रह ।

---

* प्रकाशटीकामें उपर्युक्त दस श्लोकोंपर ही टीका मिलती है, उसके अनुसार यहाँ इस ग्रन्थकी समाप्ति हो जाती है, परन्तु अन्य पुस्तकमें तीन श्लोक और उपलब्ध होते हैं, जो अनुवादसहित नीचे दिये जाते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनादौ संसारे निरवधिकजन्मस्वविरतै-
र्महाघैरेवान्तश्चितकलुषताया हि दहनम् ।
महीध्राणां भस्मीकृतिगहनसंवर्तशिखिनो
भवन्नाम्नः कुक्षेः कियदिव हरे खण्डनलवत् ॥

। इति शम् ।

हे हरे ! अनादि संसारके भीतर अनन्त जन्मोंमें निरन्तर सञ्चित किये हुए महान् पापोंसे मेरे हृदयमें जो कालिमा जम गयी है वह तो आपके नामरूपी प्रचण्ड अग्निके उदरमें तिनके-के एक टुकड़ेके बराबर भी नहीं हो सकती, उसको जलाना क्या बड़ी बात है ? प्रभो ! आपका नाम तो पर्वतोंको भी भस्म कर देनेवाले महान् प्रलयानलके समान है ।

॥ इति शिवम् ॥

श्रीराधाकृष्णार्पणमस्तु

कान्तिः सितामृशति निन्दितशारदेन्दु-
यैन्त्रैकतो विलसितामसिताङ्गशोभाम् ।
वृन्दावनेऽनुकृतयामुनगाङ्गसङ्गं
राधामुकुन्दयुगलं तदहं नमामि ॥ १ ॥

घन इव मानसमनिशं पूरयदमितै रसोद्गारैः ।
मणिरिव कण्ठेऽमृतमिव रसनायां रामनामास्तु ॥ २ ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi